चार—इस लोक-रूढ़ि—की बदौलत दिखाऊ शिक्षा ने उपकारी और उपयोगी शिक्षा को पीछे फेंक दिया है।

२६—उदर-निर्वाह से सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा की ज़रूरत और उसके विषय में सब लोगों की एकराय।

जो शिक्षा जीवन-निर्वाह का रास्ता बतला कर परोक्ष रीति से आत्म-रक्षा करने में मनुष्य की सहायता देती है उसकी योग्यता के विषय में बहुत कुछ कहते बैठने की ज़रूरत नहीं। इस तरह की शिक्षा की योग्यता छिपी नहीं है। उसे सब जानते हैं। सच तो यह है कि सर्व-साधारण जन शायद अकेली इसी उदरपूरक शिक्षा को विद्योपार्जन का प्रधान उद्देश समझते हैं। जो शिक्षा नव-युवकों को उदर-पूर्ति के कारोबार के लायक़ बना देती है उसे बहुत बड़े महत्त्व की शिक्षा क़बूल करने को हर आदमी तैयार रहता है। यहाँ तक कि लोग ऐसी शिक्षा को सबसे अधिक महत्त्व की शिक्षा क़बूल करने में भी आनाकानी नहीं करते। पर शायद ही कभी कोई इस बात का विचार करता होगा कि किस तरह की शिक्षा से कारोबार करने की—चार पैसे कमाने की—योग्यता आती है। इस बात का ख़याल शायद ही कभी किसी के दिल में आता होगा कि उदरपूरक विद्या सीखनी किस तरह चाहिए। यह सच है कि लिखने, पढ़ने और हिसाब के लाभों को अच्छी तरह सोच समझ कर स्कूलों और कालेजों में उनकी शिक्षा दी जाती है। सांसारिक काम-काज में—उदरपूरक कारोबार में—उनका उपयोग ज़रूर होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु इन्हीं तीनों विषयों की शिक्षा से जीवन-निर्वाह करनेवाली शिक्षा का अन्त समझना चाहिए। इनके सिवा जो और दूसरे विषय सिखलाये जाते हैं उनका सम्बन्ध उद्योग-धन्धे के कामों से एक दमड़ी भर भी नहीं होता। बहुत सी विद्या—बहुत सी शिक्षा—जो प्रत्यक्ष रीति से उदर-पोषक उद्योगों के लिए उपयोगी है, बिलकुल ही छोड़ दी जाती है। उसकी तरफ़ किसी का ध्यान ही नहीं जाता।

३०—सभ्य-समाज के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले हर काम में वैज्ञानिक शिक्षा की ज़रूरत।

ज़रा इस बात का विचार तो कीजिए कि, कुछ थोड़े से आदमियों को छोड़ कर, और सब लोग लगे किस तरह के कामों में हैं? व्यवहार में आनेवाली व्यापार की चीज़ों के पैदा करने, तैयार करने और सब तरफ भेजने में वे लगे हुए हैं। और इन चीज़ों का पैदा करना, तैयार करना और भेजना अवलम्बित किस बात पर है? कौन सी बात ऐसी है जिस पर इन सब कामों का होना मुनहसिर है? व्यापार की जितनी चीज़ें हैं उनमें से प्रत्येक चीज़ की क़िस्म—प्रत्येक चीज़ की जाति—का ख़याल रख कर तद-नुसार उसे काम में लाने के साधन का ज्ञान प्राप्त करने पर यह बात अव-लम्बित है। पूरे तौर पर व्यवहार के योग्य बनाने के लिए जो चीज़ जैसी है उसके लिए उसी के अनुकूल युक्ति से काम लेने पर यह बात अवलम्बित है। इस तरह की युक्ति निकालने और उचित व्यवस्था करने के लिए हर चीज़ की स्थिति, धर्म और रासायनिक गुण का पूरा पूरा ज्ञान होने की ज़रूरत है। अर्थात् ये बातें "सायन्स" पर अवलम्बित हैं—विज्ञान पर अवलम्बित हैं—हर एक चीज़ से सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रीय ज्ञान पर अवलम्बित हैं। यही विज्ञान, यही शास्त्रीय ज्ञान, व्यापार की हर चीज़ के बनाने और उसकी उचित व्यवस्था करने में मदद देता है और इसी मदद की बदौलत आज कल के सभ्य-समाज का जीवन सम्भव है। यदि यह न हो तो सब सभ्यता धरी रहे। पर इस तरह की वैज्ञानिक शिक्षा पर हम लोगों के स्कूल, कालेज और मदरसों में बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है; वह वहां प्रायः फटकने तक नहीं पाती। इस बात को कौन नहीं जानता—इस बात की सत्यता को कौन नहीं क़बूल करता—कि वैज्ञानिक शिक्षा ही हमारी सभ्यता की जड़ है। तिस पर भी लोग इसके अनुसार अमल नहीं करते। सिर्फ़ मुँह से कहते हैं; करके नहीं दिखलाते! इस बात से अधिक परिचय होने ही के कारण कोई इसकी परवा नहीं करता। अधिक परिचय के कारण अवज्ञा होने का यह सब से बड़ा प्रमाण है। इस लेख के पढ़नेवालों के चित्त पर

दीजिए जो मूर्त भी हैं और अमूर्त भी हैं, जो विविक्त भी हैं और अविविक्त भी हैं, जिनका सम्बन्ध मन से भी है और बाहरी वस्तुओं से भी है। ऐसे शास्त्रों में यन्त्रशास्त्र सबसे अधिक सीधा है। यन्त्रशास्त्र से मतलब उस विद्या या विज्ञान से है जिसका काम कलें इत्यादि बनाने में पड़ता है। अब देखिए उद्योग-धन्धे के कामों में इस शास्त्र का कितना उपयोग होता है। इसी शास्त्र की बदौलत कला-कौशल-सम्बन्धी उद्योगों की आज कल इतनी तरक्की हुई है। इस तरह के उद्योगों की कामयाबी केवल इस शास्त्र की सहायता पर अवलम्बित है। जितनी कलें हैं सबमें "लीवर" (डण्डे), चर्खी और धुरी इत्यादि का उपयोग होता है और जितनी पैदावार है आज कल सब कलों ही की बदौलत है। इँगलैंड में बनी हुई रोटी के इतिहास पर ज़रा ध्यान दीजिए। जिस खेत के अन्न की वह रोटी है उस खेत का पानी कलों ही से बनाये गये खपरों से बाहर निकाला गया था; कलों ही से उसकी मिट्टी उलटी गई थी; कलों ही से उसमें पैदा हुआ गेहूँ काटा, पीटा और उसारा गया था; कलों ही से वह पीसा और छाना गया था; और यदि गासपोर्ट नाम के शहर को आटा भेजा गया होगा तो, सम्भव है, कलों ही से बिसकुट (टिकियों की शकल की अँगरेज़ी रोटियाँ) भी बनाये गये होंगे। अब आप जिस कमरे में बैठते हैं उसके चारों तरफ़ देखिए। यदि वह हाल का बना हुआ है तो उसकी दीवारों की ईंटें बहुत करके कलों ही से बनाई गई होंगी। फ़र्श में लगे हुए तख़्ते कलों ही से चीर कर साफ़ किये गये हैं। आग रखने की जगह के आगे जो आलमारी है उसके भी तख़्ते कलों ही से चीरे गये हैं और कलों ही से उस पर जिला (पालिश) भी दी गई है। काग़ज़ की झाड़ें कलों ही से बनाई और छापी गई हैं। मेज़ के ऊपर चढ़ी हुई लकड़ी की पतली तह, उस पर बिछा हुआ बेल-बूटेदार कपड़ा, बैठने की कुरसियों के मुड़े हुए पाये, नीचे बिछा हुआ क़ालीन, दरवाज़ों और खिड़कियों पर पड़े हुए परदे—सब कलों ही से बनाये गये हैं। आप अपने कपड़ों ही की तरफ़ देखिए। सादे, रँगीन, या चित्र-विचित्र जितने कपड़े आप पहनते हैं क्या वे सब कलों ही से नहीं बनाये गये? और क्या वे सिले भी कलों ही से नहीं गये? जो किताब आप पढ़ रहे हैं, क्या उसका काग़ज़ कल ही से नहीं बनाया

टकरा कर टूट जाने से बचाती है। बिजली और चुम्बक के गुणधर्मों के ज्ञान की बदौलत दिग्दर्शक यन्त्र (कम्पास—क़ुतुबनुमा) ने अनन्त आदमियों की प्राणरक्षा की है और अनन्त धन-दौलत बरबाद होने से बचाई है। कृत्रिम बिजली से नई नई आश्चर्यकारक बातें होने लगी हैं। छायाचित्र ने अनेक ललितकलाओं और कल-कौशलों को सहायता पहुँचाई है। और, अब, ख़बर भेजने के तार द्वारा इस बिजली और चुम्बक ने हमारे लिए एक ऐसा वसीला पैदा कर दिया है कि आगे चल कर व्यापार-सम्बन्धी कारोबार ख़ूब नियमपूर्वक हो सकेगा और दूर देशों में आने जाने और उनसे राह-रस्म रखने में ख़ूब मदद मिलेगी। और कहाँ तक कहा जाय, इस पदार्थविज्ञान की बदौलत इतने सुधार हुए हैं कि उनकी महिमा हम लोगों के घर के भीतर तक देख पड़ती है—चूल्हे तक में उसने अपनी पहुँच कर ली है। रसोई घर में नई तरह के चूल्हे और नई रीति की उत्तम पाकप्रणाली आदि से लेकर मुलाक़ात के कमरे में मेज़ पर रक्खे हुए तसवीर देखने के स्टीरियस्कोप* नाम के यन्त्र तक, सब कहीं, पदार्थविज्ञान की महिमा जागरूक है। घर में हमारे सुख और समाधान की जितनी बातें हैं प्रायः एक भी ऐसी नहीं जिस पर पदार्थविज्ञान की बढ़ी हुई विद्या की छाया न पड़ी हो।

२५—सैकड़ों उद्योग-धन्धों से रसायन-शास्त्र का आश्चर्यकारक सम्बन्ध।

अब रसायनविद्या की तरफ़ ध्यान दीजिए। इसका उपयोग तो पदार्थविज्ञान से भी अधिक है। इससे इतने काम निकलते हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती। कपड़ा धोने, रँगने और छापनेवाले जितना अधिक रसायन-शास्त्र के नियमों से परिचित होते हैं उतना ही अधिक उनका काम अच्छा होता है और जितना ही वे कम परिचित होते हैं उतनाही उनका काम भी कम अच्छा होता है। उनके काम का अच्छा या ख़राब उनके

* स्टीरियस्कोप (Stereoscope) में रख कर देखने से तसवीरें ख़ूब साफ़ और बड़ी मालूम होती हैं।

रासायनिक ज्ञान पर अवलम्बित रहता है। तांबा, टिन, जस्त, सीसा, चाँदी, लोहा इत्यादि का ढालना रसायन-शास्त्र से सम्बन्ध रखता है। इन धातुओं के गलाने में रसायन-विज्ञान के नियमों के जानने की बड़ी ज़रूरत रहती है। शक्कर साफ़ करना, "गैस" बनाना, साबुन को जोश देना, बारूद तैयार करना—ये सब और इसी तरह के शीशे और चीनी मिट्टी के भी काम—रसायनविद्या से थोड़ा बहुत सम्बन्ध ज़रूर रखते हैं। जो लोग शराब, तेज़ाब या "स्पिरिट" इत्यादि का काम करते हैं उनको एक कीमियागर (रसायनशास्त्री) रखना ही पड़ता है और रखने से उन्हें लाभ ही होता है, हानि नहीं। क्योंकि इन कामों में रसायन-विद्या का ज्ञान बहुत दरकार होता है। इन चीज़ों के बनाने में किस दरजे तक की गरमी देनी चाहिए और कितना जोश देने से क्या होता है—ये ऐसी बातें हैं जो रसायन-विद्या का जाननेवाला ही अच्छी तरह समझ सकता है। और इन्हीं बातों के जानने पर इन चीज़ों के कारख़ानों के मालिकों का हानि-लाभ अवलम्बित रहता है। सच तो यह है कि इस समय शायद ही कोई उद्योग-धन्धा ऐसा हो जिसमें रसायन-शास्त्र का काम न पड़ता हो—जिसके किसी न किसी ढंग से रसायन-शास्त्र का सम्बन्ध न हो। यहाँ तक कि खेती के काम को भी अच्छी तरह कामयाबी के साथ चलाने के लिए रसायन-विद्या के नियमों का जानना दरकार है। किस तरह की खाद कैसे बनाई जाती है, किस तरह की ज़मीन के लिए कैसी खाद लाभदायक होती है, किस फसल के लिए कैसी खाद और कैसी ज़मीन अच्छी होती है, नौसादर तैयार करने के लिए कौन कौन चीज़ें दरकार होती हैं, जानवरों का मल, मूत्र और हड्डी इत्यादि चीज़ें किस तरह काम में लाई जाती हैं—ये सब बातें रसायन-शास्त्र ही की बदौलत जानी जा सकती हैं। उसी की कृपा से—उसी के प्रसाद से—इनका ज्ञान हो सकता है। इनको जानना किसान का बहुत बड़ा कर्तव्य है। दियासलाई बनाने में, संक्रामक अर्थात् स्पर्शजन्य बीमारियों से बचने के लिए मोरियों के मैले और गन्दे पानी की बदबू दूर करने में, आलोकचित्रविद्या (फ़ोटोग्राफ़ी)—अर्थात् सूर्य्य की किरणों की मदद से तसवीर उतारने में, बिना ख़मीर के रोटी बनाने में; और अनन्त नाना कार-

करकट से द्रव्य निकालने में—सब कहीं रसायन-शास्त्र की ज़रूरत पड़ती है। कोई कारोबार ऐसा नहीं, कोई उद्योग-धन्धा ऐसा नहीं, जहाँ रसायन-शास्त्र की गति न हो। इससे जिन लोगों का सम्बन्ध इन कामों से है—फिर चाहे वह प्रत्यक्ष रीति से हो चाहे अप्रत्यक्ष रीति अर्थात् किसी पर्य्याय से—इस शास्त्र का जानना बहुत ज़रूरी है।

३६—ज्योतिषशास्त्र का महत्त्व और उससे होने वाले लाभ।

मूर्त अर्थात् पदार्थ-सम्बन्धी अमानसिक शास्त्रों में से हम पहले ज्योतिःशास्त्र का विचार करते हैं। इसी शास्त्र से नौकानयन अर्थात् जहाज़ चलाने की विद्या निकली है। इसकी बदौलत जहाज़ चलाने में बहुत कुछ उन्नति हुई है और दूर देशों के साथ व्यापार इतना बढ़ गया है कि हमारी आबादी के एक बहुत बड़े हिस्से का पेट इसीसे पलता है। यही नहीं, इसकी कृपा से हमें ज़रूरत और ऐशो-आराम की बहुत सी चीज़ें भी मिलती हैं।

३७—उद्योग-धन्धे के कामों में भूगर्भ-विद्या से मदद मिलना।

इसके बाद भूगर्भ-विद्या को लीजिए। इस शास्त्र का भी उपयोग उद्योग-धन्धे के कामों में बहुत होता है। इसकी सहायता से कारोबार में बहुत कुछ कामयाबी होती है। यह वह समय है जब ज़मीन से निकलनेवाले कच्चे लोहे की बहुत अधिक खप होने के कारण वह लोहा नहीं सोना हो रहा है। यह वह समय है जब इस बात का ख़ूब विचार हो रहा है कि विलायत की खानों से जो पत्थर का कोयला निकलता है वह कब तक चलेगा। यह वह समय है जब खनिज पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सभायें स्थापित हो गई हैं और पाठशालायें खुल गई हैं। इन बातों का ख़याल करने पर यह सहज में ही ध्यान में आ जाता है कि भूगर्भ-विद्या के अभ्यास से कितना लाभ हो सकता है। इस दशा में, भूगर्भ-विद्या के सम्बन्ध में, और कुछ अधिक कहने की कोई ज़रूरत नहीं।

३८—प्राणि-विद्या का उद्योग-धन्धे के कामों से सम्बन्ध और उसके जानने से लाभ।

अब जीवन-शास्त्र, अर्थात् प्राणिविद्या (Biology) की तरफ़ आइए। क्या यह शास्त्र परोक्ष जीवन—रक्षा से सम्बन्ध नहीं रखता ? जो रोज़गार उदर-पालन के लिए किये जाते हैं उनसे तो इसका बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह ज़रूर है कि जिन उद्योगों को मामूली तौर पर हम कला-कौशल या दस्तकारी कहते हैं उनसे इसका बहुत अधिक सम्बन्ध नहीं है। पर जिन उद्योगों की बदौलत प्राणरक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक अन्न उत्पन्न होता है उनसे इसका इतना निकट सम्बन्ध है कि उनसे यह शास्त्र किसी तरह अलग ही नहीं किया जा सकता। खेती के कामों में यह जानने की बहुत बड़ी ज़रूरत है कि कौन सी बातें वनस्पतियों और प्राणियों के जीवन के अनुकूल हैं और कौन सी प्रतिकूल। इससे सिद्ध है कि जिस विज्ञान में—जिस शास्त्र में—ये बातें जानी जा सकती हैं उसका अध्ययन करना खेती के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस शास्त्र को कृषिविद्या का आधार समझना चाहिए। इस शास्त्र के नियमों की जानकारी उचित रीति से किसानों को नहीं प्राप्त होती। हाँ, तजरिबे से उन्होंने प्राणिविद्या और वनस्पतिविद्या के अनेक नियम ज़रूर जान लिये हैं और खेती करते समय वे उन पर अमल भी करते हैं। यह सच है, पर उन्हें उनका शास्त्रीय ज्ञान नहीं। किसान लोग जानते हैं कि कौन खाद किस फ़सल के लिए अधिक फ़ायदायक होती है, कौन सी फ़सल होने से किस फ़सल के अनन्तर उत्पत्ति नहीं हो जाती, किस तरह का चारा खाने से बैल या घोड़ा अच्छा काम नहीं कर सकता, किन किन कारणों से ढोर ढंगर को बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ढोरों और जानवरों के सम्बन्ध में ये, और इसी तरह की और भी अनेक, बातें किसानों को अपने अनुभव से मालूम हो जाती हैं। प्राणिविद्या के सिद्धान्तों की बात इतनी ही है कि उनसे काम चलते हैं। उनकी कामयाबी इन्हीं सिद्धान्तों के जानने पर अवलम्बित रहती है। जितना प्राणिविद्या की यथेष्ट ज्ञान उनको होता है

ही अधिक कामयाबी भी उनको होती है। प्राणिविद्या से सम्बन्ध रखनेवाली ये बातें बहुत ही थोड़ी, बहुत ही अनिश्चित, और बहुत ही शुरू शुरू की हैं। परन्तु जब इनसे भी किसान को बहुत ज़रूरी मदद मिलती है तब, आप ही कहिए, इन बातों का पूरा पूरा, निश्चित, और सच्चा ज्ञान हो जाने पर उसे कितनी मदद मिलेगी और कितना लाभ होगा? सच पूछिए तो प्राणिविद्या की मोटी मोटी बातें किसानों को जो लाभ पहुँचा रही हैं वे छिपे नहीं हैं। उन्हें हम इस समय भी देख सकते हैं। प्राणिविद्या का एक सिद्धान्त है—"प्राणियों की प्राण-रक्षा के लिए जो गरमी दरकार होती है वह उन्हें अन्न से—ख़ूराक से—मिलती है। इससे यदि प्राणियों के बदन की गरमी व्यर्थ न जाने दी जाय तो थोड़े ही चारा या अन्न से काम निकल जाय"। यह सिद्धान्त केवल मानसिक है—सिर्फ़ क़यासी है। पर यह बात अब तजरिबे से साबित होगई है कि इसी तत्त्व—इसी सिद्धान्त—के अनुसार पशुपालन करने से चारा कम ख़र्च होता है और पशु मोटे-ताज़े बने रहते हैं। अर्थात् पशुओं को गरम रखने से चारे की किफ़ायत होती है। यही बात पशुओं को जुदा जुदा तरह का चारा खिलाने के विषय में भी कही जा सकती है। शरीर-शास्त्र के जानने वालों का सिद्धान्त है कि भोजन में फेरफार ज़रूर करते रहना चाहिए। जुदा जुदा तरह की चीज़ें खाने से बहुत लाभ होता है। खाद्य पदार्थों में फेरफार करते रहने से तबीयत तो अच्छी रहती ही है, उससे एक और लाभ होता है कि अन्न में कई तरह के परमाणु रहने से खाना हज़म भी जल्द हो जाता है। पशुओं में एक बीमारी होती है जिसे अँगरेज़ी में "स्टेगर्स" कहते हैं। इससे पशुओं को चक्कर आता है और वे लड़खड़ा कर गिर पड़ते हैं। इससे, आज तक, हज़ारों भेड़ें हर साल मरती हैं। परन्तु प्राणिविद्या की बदौलत अब मालूम हुआ है कि यह बीमारी एक प्रकार के कीड़े से पैदा होती है। यह कीड़ा पशुओं की खोपड़ी के भीतर एक बहुत ही गरम जगह में पैदा होता है और मग़ज़ पर दबाव डालता है। इसीसे पशु बेहोश होकर गिर पड़ते हैं और बहुत जल्द मर जाते हैं। यदि यह कीड़ा भेड़ों की खोपड़ी से निकाल दिया जाय तो वे बहुत करके बच जाती हैं। कृषिविद्या इस विषय में भी प्राणिशास्त्र की ऋणी है।

धन्धे से जिनका कुछ भी सरोकार हो उनके लिए उन तत्त्वों का ज्ञान बहुत ही ज़रूरी है जिनके आधार पर इस तरह के व्यवसायों में फेरफार होते रहते हैं।

१०—वैज्ञानिक विषयों का ज्ञान प्रायः हर आदमी के लिए ज़रूरी है; उसके न होने से बहुत बड़ी बड़ी हानियाँ उठानी पड़ती हैं।

इससे जो लोग खेती, कारीगरी और व्यापार में लगे हुए हैं, अर्थात् जो लोग जुदा जुदा तरह का माल पैदा करते हैं, उसे मोल लेते या बेचते हैं, या उसे बिक्री के लिए बाहर भेजते हैं—उनके लिए विज्ञान-शास्त्र की किसी न किसी शाखा का ज्ञान बहुत ज़रूरी है। हर आदमी को, जो किसी तरह के उद्योग-धन्धे से कुछ भी—थोड़ा या बहुत, प्रत्यक्ष या परोक्ष—सरोकार रखता है (और ऐसे आदमी बहुत ही कम हैं जिनका कुछ भी सरोकार नहीं), किसी न किसी तरह गणितशास्त्र, पदार्थविज्ञान और रसायनविद्या की बातों से ज़रूर काम पड़ता है। क्योंकि जितने व्यवसाय हैं उनमें काम आने वाली एक भी चीज़ ऐसी नहीं जिसका कुछ न कुछ लगाव इन शास्त्रों से न हो। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि व्यवसायी आदमियों का समाज-शास्त्र से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। और बहुत सम्भव है कि प्राणिशास्त्र से भी उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो। परोक्ष रीति से प्रायः सभी का नाम अच्छी तरह उदरनिर्वाह करना है। इस उदर-निर्वाहक विद्या में किसी आदमी का कामयाब होना या न होना पूर्वोक्त शास्त्रों में से एक या एक से अधिक शास्त्रों के ज्ञान पर बहुत कुछ अवलम्बित है। अर्थात् इन शास्त्रों का जितना ही अधिक ज्ञान उसे होगा उतनी ही अधिक कामयाबी उसे होगी। हमारे कहने का यह मतलब नहीं कि इस तरह का शास्त्र-ज्ञान जैसा चाहिए वैसाही हर आदमी को होता है। नहीं, बहुत आदमियों को यह ज्ञान सिर्फ़ तजरिबे से प्राप्त होता है—काम करते करते, बिना शास्त्रों का अभ्यास कियेही, हो जाता है। क्योंकि जिसे हम काम सीखना कहते हैं वह उस विज्ञान या शास्त्र का सीखना है जो उस काम से सम्बन्ध रखता है, अर्थात् उस काम

के करने में जिनका काम पड़ता है। इस तरह की शिक्षा बहुत करके शास्त्र-शिक्षा नहीं कहलाती; पर लोग उसे शास्त्र-शिक्षा कहें या न कहें, अभ्यास उसका ज़रूर होता है। किसी काम में पड़ जाने से उस काम से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र का ज्ञान सहज ही में हो जाता है। इससे विज्ञान-शास्त्र की शिक्षा दो कारणों से बहुत ज़रूरी है—एक तो इस शिक्षा से लोग वैज्ञानिक काम अच्छी तरह करने के लिए धीरे धीरे तैयार हो जाते हैं; दूसरे तजरिबे से प्राप्त हुए वैज्ञानिक ज्ञान की अपेक्षा शास्त्रीय रीति से प्राप्त हुए ज्ञान का महत्त्व अधिक है। जिन चीज़ों को हम बनाते या पैदा करते हैं, अथवा जिन चीज़ों का हम व्यापार करते हैं, उन्हीं चीज़ों के सम्बन्ध का शास्त्रीय ज्ञान काफ़ी न समझना चाहिए—उतने ही से हमारा काम नहीं चल सकता। उनके सिवा और चीज़ों से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्रीय ज्ञान की भी बड़ी ज़रूरत है। जो जिस काम को करता है उसी काम के "क्यों" "कैसे" और "किन्तु", "परन्तु" को समझ लेने से उसे अपने को कृतार्थ मान लेना मुनासिब नहीं। उसे चाहिए कि वह दूसरी चीज़ों और दूसरे कामों के "क्यों", "कैसे" और "किन्तु", "परन्तु" को भी ख़ूब समझ ले। तभी उसका काम अच्छी तरह चल सकेगा। क्योंकि कभी कभी दूसरी चीज़ों और दूसरे कामों के विषय के शास्त्रीय ज्ञान से भी बहुत काम निकलता है। इस समय वह ज़माना लगा है कि शराकत में व्यापार-धन्धा करने की चाल बहुत बढ़ गई है। बड़ी बड़ी कम्पनियाँ खड़ी करके लोग बड़े बड़े काम करते हैं। इस दशा में कुली कबाड़ियों को छोड़कर—मेहनत मज़दूरी करके किसी तरह पेट भरने वालों को छोड़कर—और सब लोग अपने कारोबार के सिवा किसी न किसी दूसरे कारोबार में भी, हिस्सेदार होकर अपना रुपया लगाते हैं। इस तरह के दूसरे कारोबार से जिन शास्त्रों का सम्बन्ध है उनका ज्ञान प्राप्त करने ही पर हिस्सेदारों का हानि-लाभ अवलम्बित रहता है। इस कारण ऐसे शास्त्रों का जानना हिस्सेदारों के लिए बहुत ही ज़रूरी बात है। देखिए, एक कोयले की खान खोदने में न मालूम कितने हिस्सेदारों का हरजा हो गया। कारण यह था कि उन लोगों को न मालूम था कि खान में अमुक गज़ के नीचे पत्थर की एक तह थी जिसके नीचे कोयला नहीं

लोगों को बड़ा शौक था। अन्य जातियों की विलुप्त या विद्यमान भाषाओं पर इनकी बड़ी भक्ति थी। इससे निःसन्देह मालूम होता है कि इन लोगों की निज की भाषा में बहुत कम पुस्तकें पढ़ने के लायक थीं। परन्तु सबसे बढ़कर अचरज इस बात का ख़याल करके होता है कि बाल-बच्चों के पालन, पोषण और विद्याभ्यास इत्यादि का कहीं नाम को भी इन पुस्तकों में ज़िक नहीं। जाँच से तो यही मालूम होता है कि ये लोग इतने मूर्ख न थे कि इस बहुत बड़े महत्व के विषय को न समझ सकते। इससे लाचार होकर यही कहना पड़ता है कि ये पाठ्य-पुस्तकें उस ज़माने के सन्यासी महन्तों ने आमरण ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा करने वाले विद्यार्थियों ही के लिए बनाई थीं"।

४४—सन्तति के भरण-पोषण और विद्याभ्यास से सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा का आश्चर्य-जनक अभाव।

बच्चों का जीवन या मरण, सुख या सर्वनाश, हित या अहित, सारी बातें उनको लड़कपन में दी गई शिक्षा ही पर अवलम्बित रहती हैं। तिस पर भी जो लोग थोड़े ही दिनों में बच्चों के माँ-बाप बनने वाले हैं, अर्थात् जो विवाह होजाने पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले हैं, उनको बाल-बच्चों के पालने और उन्हें शिक्षा देने के विषय में, भूल कर भी कभी एक शब्द तक नहीं सिखलाया जाता। क्या यह बहुत बड़े आश्चर्य की बात नहीं? क्या यह बहुत ही अद्भुत और चमत्कार-कारिणी घटना नहीं? क्या यह बहुत ही विलक्षण पागलपन नहीं कि भावी सन्तति का भाग्य, अविचार से भरी हुई पुरानी चाल, प्रवृत्ति, अटकल, मूर्ख दाइयों की सलाह और घर की अन्ध-परम्परा-भक्त बड़ी बूढ़ियों की समझ पर छोड़ दिया जाय? हिसाब-किताब और बही-खाते का कुछ भी ज्ञान न रखने वाला कोई व्यापारी यदि कारोबार शुरू कर दे तो हम उसकी मूर्खता का ढोल पीटने लगेंगे और बहुत जल्द उसके दिवाला होने की ख़बर सुनने की आशा करेंगे। अथवा शरीर शास्त्र का अध्ययन किये बिना ही यदि कोई चीर-फाड़, अर्थात् जर्राही, का काम आरम्भ करदे तो हमें उसकी ढिठाई पर अचम्भा होगा और उसके

रोगियों पर दया आवेगी। परन्तु जो मानसिक, नैतिक और शारीरिक सिद्धान्त इस विषय के आदर्श हैं उनका ज़रा भी विचार न करके, उन पर कुछ भी ध्यान न देकर—बालबच्चों के पालन-पोषण और विद्याभ्यास आदि कठिन काम यदि माँ-बाप शुरू करदें तो हमें न तो उनकी करतूत पर आश्चर्य ही होता है, और न उनके अन्याय की पात्र उनकी सन्तति पर दया ही आती है।

४५–सन्तति की शरीर-रक्षा के सम्बन्ध में माँ-बाप की लापरवाही और उससे होनेवाले भयङ्कर परिणाम।

आरोग्य-रक्षा के नियम माँ-बाप को न मालूम रहने से उनके बाल-बच्चों को जो भोग भुगतने पड़ते हैं, उनकी जो दुर्गति होती है, उन पर जो आफ़तें आती हैं, उनका ठौर ठिकाना नहीं। हज़ारों बच्चे तो माँ-बाप की असावधानी और मूर्खता के कारण पैदा होते ही मर जाते हैं। जो बचते हैं उनमें लाखों अशक्त, निर्बल और जन्म-रोगी होते हैं। और करोड़ों ऐसे नीरोग और सशक्त नहीं होते जैसे होने चाहिए। अब इन सबको आप जोड़ डालिए तो आपको मालूम हो जायगा कि माँ-बाप की नादानी के कारण सन्तति को कितनी हानि उठानी पड़ती है, कितना दुःख सहना पड़ता है, कितनी आपदाओं का सामना करना पड़ता है। लड़कपन में लड़के जिस तरह रक्खे जाते हैं और जिस तरह की शिक्षा उन्हें दी जाती है उसी के अनुसार जन्म भर उनको सुख-दुःख मिलता है—यदि अच्छी शिक्षा मिली, यदि वे अच्छी तरह रक्खे गये, तो उन्हें जन्म भर सुख मिलता है, नहीं तो दुःख। पर ज़रा इस बात का तो ख़याल कीजिए कि आज कल लड़के किस तरह पाले-पोसे जाते हैं। इस समय हम लोग जिस तरह लड़कों को रखते हैं और जिस तरह की शिक्षा उन्हें देते हैं उसमें यदि एक गुण है तो दस दोष। इन बातों का असर हर घड़ी लड़कों पर पड़ता है। लड़कपन में लड़कों के पालन-पोषण और शिक्षण में अविचार से काम लेने, और महत्त्व की बातों को दैवगति या भाग्य के भरोसे छोड़ देने, से जो हानि होती है उसका अन्दाज़ नहीं किया जा सकता। इस तरह का अविचार—

इस तरह की बेपरवाही—आज कल यहाँ सब कहीं प्रचलित है। इन सब बातों पर ख़याल करने से जो हानि लड़कों को पहुँच रही है उसका थोड़ा बहुत अन्दाज़ आपको ज़रूर हो जायगा। कोई इस बात का विचार नहीं करता कि पायदार, मज़बूत और ख़ूब गरम कपड़े पहने बिना लड़कों को सरदी में बाहर खेलने कूदने देना, और सरदी के कारण उनके हाथ-पैरों का फटना, अच्छा है या नहीं। पर इसका विचार करना बहुत ज़रूरी बात है, क्योंकि इन बातों से लड़कों के भावी सुख-दुःख का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। इस तरह की बेपरवाही के कारण या तो लड़के बीमार रहा करते हैं, या उनकी बाढ़ रुक जाती है, या काम करने की शक्ति घट जाती है, या तरुण होने पर जितना बल उनके बदन में होना चाहिए उतना नहीं होता। इसका फल यह होता है कि कोई काम अच्छी तरह नहीं हो सकता—उसमें पूरी कामयाबी नहीं होती—और लड़कों के भावी सुख में बाधा आती है। इसका कारण क्या है? हमारा अविचार, हमारी नादानी, हमारी बेपरवाही! और कुछ नहीं। लड़कों को जो एक ही तरह का और कम बलवर्द्धक खाना खिलाया जाता है वह क्या उनको सज़ा देने के इरादे से खिलाया जाता है? इस तरह का खाना खाने से, बड़े होने पर, उनका शारीरिक बल ज़रूर कुछ कम हो जाता है और पुरुषत्व के काम करने की योग्यता में भी थोड़ा बहुत विघ्न ज़रूर आ जाता है। क्या लड़कों के लिए कोलाहलकारी और दौड़-धूप के खेल-कूद मना हैं? या बदन पर काफ़ी कपड़े न होने के कारण जाड़े की ऋतु में वे इसलिए बाहर नहीं निकलने पाते कि कहीं उनको सर्दी न हो जाय? कुछ भी हो, इस तरह घर के भीतर बन्द रहने से उनके आरोग्य में ज़रूर बाधा आती है और उनकी शारीरिक शक्ति भी ज़रूर बहुत कुछ क्षीण हो जाती है। तरुण होने पर भी लड़के और लड़कियों को दुबले और कमज़ोर देख कर माँ-बाप बहुधा अपना दुर्भाग्य या एक प्रकार का ईश्वरीय कोप समझते हैं। अथवा आज कल लोगों की जैसी बेढंगी समझ है उसके अनुसार वे यह कल्पना कर लेते हैं कि ये बातें अपने आप ही हुईं—ये आपत्तियाँ बिना कारण ही पैदा हो गई हैं, या यदि किसी कारण से हुई हैं तो उसका उत्पादक ईश्वर है, उसे दूर करना आदमी के बस की बात

नहीं। परन्तु इस बात को कौन समझदार आदमी न कुबूल करेगा कि इस तरह की बकना पागलपन है? यह निःसन्देह सच है कि कभी माँ-बाप के बुराइयों और रोगों का फल सन्तान को भी भोग करना पड़ता है, अर्थात् माँ-बाप में जो दोष होते हैं वे कभी कभी सन्तान को भी हो जाते हैं; परन्तु बहुधा पालन-पोषण में माँ-बाप की नादानी ही के कारण लड़कों को बीमारियाँ हो जाया करती हैं, और, फिर, जन्म भर उनकी तबीयत अच्छी नहीं रहती। इस भारे दुख-दर्द के, इस सारी निर्बलता के, इस सारी आपदा के, इस सारी उदासीनता के ज़िम्मेदार बहुत करके माँ-बाप ही होते हैं। माँ-बाप ने अपने बालबच्चों की जान को हर घड़ी अपने क़ाबू में रखने का ठेका सा ले लिया है—उनको खिलाने, पिलाने और शिक्षा देने का भार उन्होंने हर घड़ी अपने ही ऊपर रक्खा है। पर ज़िन्दगी से सम्बन्ध रखनेवाली जिन बातों में वे अविचारों से भरी हुई आज्ञायें देकर और रुकावटें पैदा करके, बराबर उलट फेर किया करते हैं, उन बातों का ज्ञान प्राप्त करने में उन्होंने बहुत बड़ी निर्दयतापूर्ण बेपरवाही की है। उन्हें सीखने की कुछ भी कोशिश उन्होंने नहीं की। आरोग्य-रक्षा और शरीर-शास्त्र के बहुत ही सीधे-सादे नियमों का भी ज्ञान प्राप्त न करने के कारण वे अपने बच्चों के आरोग्य को—उनके शारीरिक बल को—बराबर क्षीण करते चले जा रहे हैं; हर साल उसे अधिकाधिक कम करते चले जा रहे हैं। इस तरह की निर्दयता और नादानी के कारण वे अपनी सन्तति ही को नहीं, किन्तु सन्तति की भावी सन्तति को भी बीमारी के घर और अकाल-मृत्यु के मुँह में ढकेल रहे हैं।

४६—स्त्रियों को बच्चों के पालने-पोसने से सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा न मिलने से हानियाँ।

जब हम आरोग्य-शिक्षा से आगे बढ़ कर नैतिक शिक्षा की तरफ़ आते हैं तब वहाँ भी हम इसी तरह की नादानी और अज्ञानता देखते हैं। वहाँ भी हमें माँ-बाप की बेपरवाही और मूर्खता के उदाहरण मिलते हैं। लड़कपन में बच्चों के पालन-पोषण का भार सिर्फ़ माँ-बाप पर रहता है। इससे उनको सबसे पहली शिक्षा माँ से ही मिलनी चाहिए। अब कुछ [illegible]

कि मनोवृत्तियां किस तरह की होती हैं। उनकी कैफ़ियत क्या है। वे किस तरह बढ़ती हैं और किस तरह एक दूसरी के बाद पैदा होती हैं। उनका काम क्या है। उनका उपयोग कहां आरम्भ होता है और कहां समाप्त। वह यह समझती है कि कोई कोई मनोवृत्तियां सर्वथा बुरी हैं और कोई कोई सर्वथा भली। पर यह समझ उन वृत्तियों में से एक के विषय में भी ठीक नहीं। यह ख़याल बिलकुल ही ग़लत है कि कोई कोई वृत्ति सर्वथा बुरी और कोई कोई सर्वथा अच्छी होती है। फिर एक और बात भी ध्यान देने लायक़ है। जिस शरीर के पालने-पोसने की ज़िम्मेदारी उस पर है उस शरीर की बनावट से वह जैसे अनभिज्ञ होती है वैसे ही जुदा जुदा दवा-इयों और चिकित्साओं का जो असर उस शरीर पर पड़ता है उससे भी वह अनभिज्ञ होती है—उसका भी ज्ञान उसे नहीं होता। इन बातों के न जानने से बच्चों को हर घड़ी जो कष्ट भोगने पड़ते हैं—उन पर हर घड़ी जो आफ़तें आती हैं—वे बहुत ही भयङ्कर हैं। इस अज्ञान के कारण जो परि-णाम होते हैं उनको हम प्रति दिन अपनी आंखों से देखते हैं। वे छिपे नहीं हैं। इससे अधिक हानिकारक परिणाम और क्या हो सकते हैं? मां को न तो यही ज्ञान होता है कि कौनसी मानसिक वृत्तियां अच्छी हैं और कौनसी बुरी। और न उसे उन वृत्तियों के असर और परिणाम ही का ज्ञान होता है। अतएव मनोवृत्तियों के रोकने या उनके काम में विघ्न डालने से जो हानि पहुंचा करती है वह हानि उससे कहीं बढ़कर है जो भले बुरे की परवा न करके उन्हें स्वच्छन्द अपना काम करने देने से हो सकती है। अर्थात् वह वृत्ति अच्छी है या बुरी, इसका विचार न करके बच्चे को उसकी इच्छा के अनुसार रहने देने से उतनी हानि नहीं होती जितनी कि बहुत बेसमझी से उसकी किसी वृत्ति को—उसके मन के किसी झुकाव को—एक-दम रोकने से होती है। बच्चे के जिन कामों से उसके जी को आराम होता है, और जिनसे उसे अपने लिए हानि हो भी नहीं सकती, उनको करने से वह उसे रोकती है। वह समझती है कि ऐसे कामों से उसे बड़ी हानि पहुँचेगी। वह नहीं जानती कि उनका रोकना ही हानिकर है। इस तरह की रुकावट से वह नुक़सान करती है, वह [illegible] हो जाता है;

श्रौर लाभ के बदले उसे ज़रूर हानि पहुँचती है। बच्चे के साथ इस तरह पेश आने से माँ-बेटे में वैमनस्य हो जाता है श्रौर परस्पर जैसा स्नेह रहना चाहिए नहीं रहता। जिन कामों को माँ अच्छा समझती है उन्हें वह धमकी या लालच देकर बच्चे से कराती है। अथवा वह बच्चे को यह सुझाती है कि ये काम करने से सब लोग तुम पर ख़ुश होंगे श्रौर तुम्हारी तारीफ़ करेंगे। इस तरह वह उससे वे काम कराती है। बच्चे के मन की वह बिलकुल परवा नहीं करती। ऊपरी मन से यदि बच्चे ने उसका कहना मान लिया तो इतने ही से वह कृतार्थ होजाती है। वह समझती है कि बस मेरा कर्तव्य हो चुका। इस तरह के बर्ताव से बच्चे को कोई अच्छी शिक्षा तो मिलती नहीं—वह कोई अच्छी बातें तो सीखता नहीं—हाँ दम्भ, डर श्रौर ख़ुदग़रज़ी की शिक्षा उसे मिल जाती है। एक तरफ़ तो वह बच्चे को सच बोलने की शिक्षा देती है, दूसरी तरफ़ वह ख़ुद अपने ही बर्ताव से झूठ के नमूने उसके सामने रखती है। वह बच्चे से कहती है कि यदि तुम सच न बोलोगे तो मैं तुमको यह सज़ा दूँगी, वह सज़ा दूँगी। पर जब बच्चा झूठ बोलता है तब अपने कहने के मुताबिक़ वह सज़ा नहीं देती। यह झूठ का नमूना नहीं है तो क्या है? यही नमूना लड़कों को झूठ बोलना सिखला देता है। एक तरफ़ तो वह यह सिखाती है कि आदमी को आत्म-संयमन करना चाहिए—अपने आपको क़ाबू में रखना चाहिए—दूसरी तरफ़ ज़रा ज़रा सी बात के लिए वह अपने छोटे छोटे बच्चों पर बिगड़ उठती है श्रौर क्रोध करती है। क्या इसी का नाम आत्मसंयमन है? जिस तरह बड़े होने पर संसार के सारे व्यवसायों में भले-बुरे कामों का भला-बुरा परिणाम होने देना शिक्षा का सबसे अच्छा तरीक़ा है—स्वाभाविक रीति पर ऐसे परिणामों से फिर चाहे जितना सुख या दुख हो—उसी तरह बच्चों को सुमार्गगामी बनाने के लिए उनको लड़कपन में जो शिक्षा दी जाय उसमें भी इसी तरीक़े से काम लेना चाहिए श्रौर बच्चों के भले-बुरे कामों का भला या बुरा परिणाम होने देना चाहिए। परन्तु बेचारी माँ को इस तरह की शिक्षा के तरीक़े का स्वप्न में भी ख़याल नहीं होता। कार्य्य-कारण-भाव का निश्चय न होने से, अर्थात् बच्चों के पालन-पोषण से सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा यथाशास्त्र न

प्राप्त करने से, और बच्चों के मन के जुदा जुदा भावों का ज्ञान न होने के कारण उन भावों के अनुसार बच्चों के साथ बर्ताव करने का सामर्थ्य उसमें न होने से, वह मनमाने तरीक़े से उन्हें रखती है। आज वह अपने बच्चों से एक तरह का बर्ताव करती है, कल और तरह का। जो उसके मन में आता है वही उसका क़ानून है। उसीके अनुसार वह बच्चों का शासन करती है—उसीके अनुसार वह उन पर हुकूमत करती है। इससे बहुत बड़ी हानि होती है। परन्तु बच्चों की समझ जैसे जैसे बढ़ती जाती है वैसे वैसे उनके मन की वृत्ति मनुष्य-जाति के स्वभाव-सिद्ध नैतिक भावों की तरफ़ अधिक अधिक झुकती जाती है। इससे छोटी मोटी विपरीत बातों का असर बच्चों पर कम पड़ता है और जितना बिगड़ते हुए वे मालूम होते हैं उतना नहीं बिगड़ते। यदि बच्चों में यह वृत्ति स्वभाव-सिद्ध न होती तो माँ के ऐसे अशास्त्रीय और अनुचित शिक्षण के कारण वे बरबाद होने से न बचते—माँ का ऐसा अन्यायपूर्ण क़ानून उनको संसार में किसी काम का न रखता।

४७—लड़कों की बुद्धि-विषयक शिक्षा की उचित रीति से माँ-बाप की अनभिज्ञता और उसके बुरे परिणाम।

अच्छा अब बच्चों की बुद्धि-विषयक शिक्षा का विचार कीजिए। क्या इस शिक्षा के सम्बन्ध में भी गड़बड़ नहीं है? क्या इसका भी प्रबन्ध वैसा ही ख़राब नहीं है? मान लीजिए कि बुद्धि-विषयक सब बातें यथानियम होती हैं। मान लीजिए कि बच्चों की बुद्धि का विकास भी नियमानुसार ही होता है। अतएव मानना पड़ेगा कि बिना इन नियमों का ज्ञान हुए बच्चों की शिक्षा अच्छी तरह नहीं हो सकती। जिस तरीक़े से बच्चों को ख़याल करना और ख़यालात को इकट्ठा करके उन्हें याद रखना सिखलाया जाता है उस तरीक़े का पूरा ज्ञान हुए बिना ये काम अच्छी तरह नहीं हो सकते। बिना इस ज्ञान के शिक्षा को सम्भव समझना निरा पागलपन है। पर, आज

(४) यदि माँ-बाप इन नियमों की पूरी पूरी परवा करेंगे, यदि इनको पूर्ण रीति से पालेंगे, तभी बच्चों के शरीर और मन निर्दोष होंगे ।

तो अब आपही इस बात का फ़ैसला कीजिए कि जिन लोगों के किसी न किसी दिन बाल-बच्चे होने की सम्भावना है क्या उनको उचित नहीं कि वे ज़रा उत्साहपूर्वक इन नियमों के सीखने की कोशिश करें ?

५०—सार्वजनिक कामों की शिक्षा का नाममात्र के लिए मदरसों में प्रचार ।

यहाँ तक माँ-बाप के कर्तव्यों का विचार हुआ । अब हम सार्वजनिक कामों का विचार आरम्भ करते हैं । यहाँ पर हमें इस बात का विचार करना चाहिए कि किस तरह का ज्ञान—किस तरह की शिक्षा—आदमी को सार्वजनिक कर्तव्य करने के योग्य बनाती है । यह नहीं कहा जा सकता कि जिस ज्ञान या जिस शिक्षा की बदौलत आदमी सार्वजनिक काम करने के योग्य हो सकता है उसकी तरफ़ आजकल किसी का बिलकुल ही ध्यान नहीं । थोड़ा बहुत ध्यान ज़रूर है । क्योंकि इस समय मदरसों में जो विषय पढ़ाये जाते हैं उनसे राजकीय और सार्वजनिक कामों से सम्बन्ध रखनेवाली बातें, यदि बहुत नहीं तो नाम के लिए, कुछ अवश्य रहती हैं । इनमें सिर्फ़ एक इतिहास ही ऐसा विषय है जिसका दर्जा, इस सम्बन्ध में, कुछ ऊँचा है।

५१—मदरसों में इतिहास की जो शिक्षा दी जाती है वह किसी काम की नहीं । वह व्यर्थ है, ज़रा भी उपयोगी नहीं ।

परन्तु, इशारे के तौर पर जैसा हम पहलेही कह चुके हैं, जिस तरह की इतिहास-शिक्षा आज-कल मिलती है वह बहुत करके किसी काम की नहीं । वह पथदर्शक नहीं । उससे उचित शिक्षा नहीं मिलती । इतिहास की जो किताबें मदरसों में जारी हैं उनकी बात तो कुछ पूछिए ही नहीं । राजकीय विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली बातों के सही सही सिद्धान्त शायद ही एक आध कहीं उनमें पाये जाते हों । उनकी बात जाने दीजिए, बड़ी उम्र के

समझदार आदमियों के लिए जो इतिहास की किताबें ख़ूब परिश्रमपूर्वक लिखी गई हैं उन सब में इन सिद्धान्तों का बहुत कम पता मिलता है। लड़के मदरसों में बहुत करके पढ़ते क्या हैं, राजाओं और बादशाहों के जीवनचरित। भला उनसे समाजशास्त्र का ज्ञान कैसे हो सकता है? उनमें सामाजिक बातें बहुत ही कम रहती हैं। कहीं कोई कपट-काण्ड रच रहा है; कहीं कोई कूट-नीति का जाल बिछा रहा है; कहीं कोई किसी का राज्य छीन रहा है; कहीं कुछ हो रहा है, कहीं कुछ। यही सब बातें उनमें रहती हैं। इन्हीं बातों को लड़के सीखते हैं और जिनका सम्बन्ध इनसे होता है उनके नाम याद करते हैं। इन बातों से देश के उत्कर्ष के कारण कहीं समझ में आ सकते हैं? ये बातें जातीय उन्नति के कारण जानने में बहुत ही कम मदद देती हैं। इतिहासों में इस तरह की बातें रहती हैं:—राज्य के लालच से अमुक अमुक झगड़े-फ़साद पैदा हुए। उनका फल यह हुआ कि दोनों दलवालों की सेनायें ख़ूब बहादुरी से लड़ीं। इन सेनाओं के सेनापतियों के अमुक अमुक नाम थे और उनके अधीन जो सरदार थे उनके अमुक अमुक। उनमें हर एक के पास इतनी पैदल सेना, इतना रिसाला और इतनी तोपें थीं। उन्होंने अपनी अपनी सेना को लड़ाई के मैदान में अमुक क्रम से खड़ा किया था। उन्होंने अमुक अमुक युक्ति से काम लिया; अमुक अमुक तरह से धावा किया; और अमुक अमुक तरकीब से वे पीछे हटे। दिन के इतने बजे उन पर अमुक प्रसंग आया—उन पर अमुक आफ़त आई—और इतने बजे उनकी ऐसी जीत हुई। एक धावे में अमुक सरदार काम आया; दूसरे में अमुक पल्टन कट गई। कभी इस दल का भाग्य चमका, कभी उसका। इस तरह भाग्य का उलट फेर होते होते अन्त में अमुक दल की जीत हुई। हर एक दल के इतने आदमी मारे गये, इतने घायल हुए- और इतने विजयी दल ने क़ैद कर लिये। अब बतलाइए कि इस युद्ध-वर्णन में जो बातें लिखी गई हैं उनमें कौनसी बात ऐसी है जिससे आप को यह शिक्षा मिल सकती है कि सार्वजनिक कामों में आपको कैसा बर्ताव करना चाहिए। इसमें क्या कोई भी बात ऐसी है जो आपको यह सिखला सकती है कि आपको अपना नागरिक चालचलन कैसा रखना

चाहिए। मान लीजिए कि आप दुनिया की सर्व-प्रसिद्ध पन्द्रह लड़ाइयों का ही हाल पढ़कर चुप नहीं रहे; किन्तु और भी जितनी छोटी बड़ी लड़ाइयाँ हुई हैं उन सबका सविस्तर हाल आप पढ़ चुके हैं; तो क्या इससे, पारलियामेंट के मेम्बरों का अगला चुनाव होने पर, राय देते समय, आपकी राय में कुछ विशेषता आजायगी? इस इतिहास-ज्ञान की बदौलत उस समय क्या आप कुछ विशेष बुद्धिमानी से राय दे सकेंगे? हरगिज़ नहीं। परन्तु आप कहेंगे कि—"ये सभी घटनायें हैं—सच्ची ही नहीं मनोरञ्जक भी"। निःसन्देह ये मनोरञ्जक घटनायें हैं। इनमें से जिनका कुछ अंश या सर्वांश झूठ नहीं वे अवश्य मनोरञ्जक हैं। और बहुत आदमियों को वे वैसी ही मालूम भी होती होंगी। परन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि इस तरह की घटनायें महत्त्व की हैं—क़दर करने के क़ाबिल हैं। हम लोग कभी कभी बिलकुल ही तुच्छ बातों को किसी कल्पित और अयोग्य कारण से भ्रमवश बनावटी महत्त्व देने लगते हैं। जो आदमी गुले-लाला या गुलाब के पीछे पागल हो रहा है—जिसके दिमाग़ में उसका ख़ब्त समाया हुआ है—उसे यदि किसी अच्छे फूल की बराबर कोई सोना भी तौलने को तैयार हो जाय तो भी वह उसे न देगा। कोई चीनी मिट्टी के महा पुराने और टरके हुए बर्तन को ही एक अनमोल चीज़ समझ कर अपने पास रखता है। दुनिया में ऐसे भी आदमी हैं जो प्रसिद्ध हत्यारों का स्मरण दिलानेवाली चीज़ें को हज़ारों रुपये देकर मोल लेते और अपने पास रखते हैं। परन्तु क्या इस तरह की रुचि-विचित्रता से ये चीज़ें क़ीमती हो सकती हैं? क्या ये चीज़ें सिर्फ़ इसलिए बहुत क़ीमती हो जायँगी कि अपनी विचित्र रुचि के कारण कोई कोई इनको विशेष मूल्यवान् समझते हैं? यदि नहीं, तो इस बात को भी ज़रूर क़बूल करना होगा कि कुछ ऐतिहासिक बातें, किसी किसी को बहुत पसन्द होने ही के कारण, क़ीमती नहीं हो सकतीं। इस तरह की पसन्द उनके महत्त्वपूर्ण होने का कोई सबूत नहीं। अतएव और बातों की क़ीमत हम जिस तरह उनके उपयोग का ख़याल करके ठहराते हैं उसी तरह इन बातों की भी क़ीमत उनके उपयोग का ख़याल करके ही ठहरानी चाहिए। जो चीज़ उपयोगी है वही क़ीमती है। जो जितनी अधिक उपयोगी है वह

उतनी ही अधिक क़ीमती भी है। हर एक बात का उपयोगीपन ही उसकी क़ीमत की नाप है। यदि कोई आकर तुमसे कहे कि तुम्हारे पड़ोसी की बिल्ली या कुतिया ने कल बच्चे दिये तो तुम कहोगे कि दिये होंगे; हमको इससे क्या? आपकी यह ख़बर व्यर्थ है। इससे हमें क्या फ़ायदा? इसका हमें क्या उपयोग? यद्यपि यह भी एक घटना है, और सच्ची घटना है, तथापि तुम इसे बिलकुल ही व्यर्थ समझोगे। सांसारिक व्यवहारों से इसका कुछ भी सरोकार नहीं। तुम्हारी ज़िन्दगी के कर्तव्य कामों पर इस घटना का कुछ भी असर नहीं हो सकता। यह एक ऐसी घटना है जो तुमको अपनी ज़िन्दगी को पूरे तौर पर सार्थक करने में किसी तरह की मदद नहीं दे सकती। अच्छा, तो आप इसी उपयोग-विषयक कसौटी से ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में भी काम लीजिए। इसी कसौटी पर कस कर उनकी भी क़दर और क़ीमत निश्चित कीजिए। ऐसा करने से हम जो कुछ कह रहे हैं वह आपको ज़रूर सच मालूम होगा—वह आपके ध्यान में ज़रूर आ जायगा। इतिहास में जो घटनायें दर्ज की जाती हैं उनका कार्य-कारण-भाव नहीं दिखलाया जाता, उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह नहीं बतलाया जाता। इससे उन घटनाओं के—उन बातों के—आधार पर कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जा सकता। जितनी घटनायें हैं उनका एक मात्र उपयोग यह है कि उनकी मदद से हम अपने स्वास्थ्य-सम्बन्धी, हम अपने सांसारिक-व्यवहार-सम्बन्धी, नियम निश्चित कर सकें; हम यह जान सकें कि हमें किस तरह का चाल-चलन अख़्तियार करना चाहिए—किस तरह का व्यवहार पसन्द करना चाहिए। परन्तु इन ऐतिहासिक घटनाओं से हमें इस तरह की कोई शिक्षा नहीं मिलती; इनकी मदद से हम इस तरह का कोई नियम निश्चित नहीं कर सकते। अतएव इनका जानना व्यर्थ है; वे हमारे किसी उपयोग की नहीं। हाँ, ऐतिहासिक घटनाओं को यदि आप दिल बहलाने के लिए पढ़ना चाहें—मनोरञ्जन के लिए पढ़ना चाहें—तो ख़ुशी से पढ़ सकते हैं। परन्तु इस बात का भ्रम कभी आने न दें—अपने दिल को कभी न फुसलाइए—कि वे आपके किसी काम की हो सकती हैं। उनसे आपका कोई काम नहीं निकल सकता; वे आपके किसी उपयोग की नहीं।

५३—इतिहास की कुंजी विज्ञान है; बिना वैज्ञानिक ज्ञान के अच्छे इतिहास का भी तादृश उपयोग नहीं हो सकता।

पर, इस विषय में एक बात पर ध्यान देना अभी बाक़ी है। मान लीजिए कि इस सचे ऐतिहासिक ज्ञान का ख़ज़ाना, मतलब भर के लिए, आपने प्राप्त कर लिया। तथापि उस ख़ज़ाने की कुञ्जी पाये बिना वह आपके काम नहीं आसकता। आप उसका तादृश उपयोग ही नहीं कर सकते। वह कुञ्जी वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा है—शास्त्रीय विषयों का ज्ञान है। यदि जीवन-विज्ञान और मनोविज्ञान के मुख्य मुख्य नियमों का ज्ञान आपको नहीं है तो कार्य्य-कारण-भाव दिखला कर आप जन-समुदाय की व्यावहारिक बातों को कभी अच्छी तरह न समझ सकेंगे। आदमी जैसे मनुष्य-स्वभाव-सम्बन्धी कुछ बातों का ज्ञान, अनाड़ियों की तरह, अन्दाज़ से थोड़ा बहुत प्राप्त कर लेते हैं, वैसेही सामाजिक जीवन-सम्बन्धी बहुतही सीधी-सादी बातों का ज्ञान भी वे प्राप्त कर लेते हैं। उदाहरण के लिए किसी चीज़ की पैदावार और मांग के विषय को लीजिए। इन दोनों का सम्बन्ध तभी हमारी समझ में आ सकेगा जब हम यह जानते होंगे कि अमुक बात होने से मनुष्य अमुक तरह का बर्ताव करेंगे। अतएव, यदि, समाज-शास्त्र की मोटी मोटी प्रारम्भिक बातों का भी ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक हमें यह न मालूम हो कि किस स्थिति में आदमी क्या ख़याल करते हैं, क्या समझते हैं और किस तरह का बर्ताव करते हैं, तो यह साफ़ ज़ाहिर है कि इस शास्त्र को अच्छी तरह समझने के लिए मनुष्य की मानसिक और शारीरिक शक्तियों का पूरा पूरा ज्ञान होना बहुतही ज़रूरी है। तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर इन बातों की स्वतःसिद्धता आपही ध्यान में आजायगी। विचार करने से जो नतीजा निकलेगा वह ख़ुदही इस विषय की सत्यता को साबित कर देगा; कोई उदाहरण देने की ज़रूरत न पड़ेगी। देखिए, जन-समुदाय, व्यक्तियों के मेल से बना है—एक एक आदमी मिलकर मनुष्यों का समुदाय हुआ है। जन-समुदाय में जो कुछ होता है वह हर आदमी के सम्मिलित कामों की बदौलत होता है। इससे, जन-समुदाय के सब कामों का बीज,

हर आदमी के काम पर ध्यान देने ही से मालूम हो सकता है। और हर आदमी जो कुछ करता है अपने स्वभाव के अनुसार करता है। अर्थात् उसका स्वभाव जिन तत्त्वों, नियमों या सिद्धान्तों का अनुसरण करता है उन्हीं पर उसका काम अवलम्बित रहता है। अतएव इन तत्त्वों या नियमों को बिना जाने किसी के काम समझ में नहीं आ सकते। विचार करते करते मनुष्य-स्वभाव के इन नियमों की आदि अवस्था तक पहुँचने पर—उन के मूल कारणों का पता लगाने पर—यह साबित होता है कि साधारण रीति पर ये नियम मनुष्य के मानसिक और शारीरिक नियमों से सम्बन्ध रखते हैं। इससे यह सिद्ध है कि समाज-शास्त्र के नियमों को अच्छी तरह समझने के लिए मनोविज्ञान और जीवन-शास्त्र की शिक्षा के बिना काम नहीं चल सकता। इन शास्त्रों का ज्ञान होनाही चाहिए। यह सिद्धान्त, इससे भी अधिक सरल रीति पर, इस तरह समझाया जा सकता है:—जितनी सामाजिक बातें हैं सब जीवन-सम्बन्धी बातें हैं—सबका सम्बन्ध ज़िन्दगी से है। उन्हें जीवन का सङ्कीर्ण अवतार या रूपान्तर कहना चाहिए—वे ज़िन्दगी के पेचीदा प्रादुर्भाव हैं। जिन नियमों पर जीवन अवलम्बित हैं उन्हीं पर ये बातें भी निःसन्देह अवलम्बित हैं। जीवन-सम्बन्धी नियमों का ज्ञान होनेही से वे समझ में आ सकती हैं; अन्यथा नहीं। अतएव मनुष्य के सांसारिक व्यवहारों के इस चौथे भाग की उचित व्यवस्था करने के लिए, पूर्ववत्, विज्ञान-शास्त्र के ज्ञान की हमें बड़ी ज़रूरत है। साधारण रीति पर मदरसों में जो शिक्षा दी जाती है उसका सार्वजनिक कामों में बहुत ही कम उपयोग हो सकता है। इन बातों के जानने में उससे बहुत ही कम मदद मिल सकती है कि नागरिक को किस तरह का बर्ताव या व्यवहार करना चाहिए, अथवा उसे कौन काम करना चाहिए और कौन न करना चाहिए। जो इतिहास मदरसों में पढ़ाया जाता है उसका बहुत ही थोड़ा अंश व्यवहार में काम आने लायक़ होता है। और इस थोड़े अंश को भी उचित रीति पर काम में लाने की योग्यता हममें नहीं। समाज-शास्त्र का ज्ञान होने के लिए जिस सामग्री की ज़रूरत होती है वह सामग्री ही हम लोगों के पास नहीं। लोकस्थिति, अर्थात् सामाजिक

व्यवस्था, के व्यापक नियमों का ज्ञान होना तो बहुत दूर की बात है। और क्या कहा जाय, हम इतना भी तो नहीं जानते कि समाज-शास्त्र चीज़ क्या है? यही नहीं, किन्तु इन्द्रियविशिष्ट-पदार्थ-विषयक जीवन-शास्त्र की मोटी मोटी बातें तक तो हम जानते नहीं, जिनके बिना, समाज-शास्त्र के व्यापक नियमों का ज्ञान होने पर भी, उनसे बहुत कम मदद मिल सकती है।

५४—मनोरञ्जन और आमोद-प्रमोद की योग्यता और ज़रूरत।

अब हम मनुष्य-जीवन के व्यवहारों के शेष भाग का विचार करते हैं। यह वह भाग है जो फ़ुरसत के समय किये जाने वाले आमोद-प्रमोद और दिल-बहलाव आदि के कामों से सम्बन्ध रखता है। आत्म-रक्षा, उदर-निर्वाह, सन्तान के विषय में मां-बाप के कर्तव्य, और राजकीय तथा सार्वजनिक काम-काज का विचार यहां तक किया गया और दिखलाया गया कि इनके लिए किस तरह की शिक्षा सब से अधिक उपयोगी है। अब हमें इस बात का विचार करना है कि जो फुटकर बातें पूर्वोक्त भागचतुष्टय में नहीं आई—जैसे प्राकृतिक पदार्थ, ग्रन्थावलोकन, सब तरह की ललित कलायें उनमें आनन्द उठाने के लिए किस तरह की शिक्षा सबसे अधिक उपयोगी है। जिन बातों का मनुष्य-कल्याण से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है उनका विवेचन हमने पहले किया और उस विवेचन में हर एक बात को हमने उसकी उपयोगिता—उसकी कदर व क़ीमत—की कसौटी पर कसा। यह कर चुकने पर, अब, पीछे से, हम आमोद-प्रमोद की बातों का विचार करने चले हैं। इससे यह न ख़याल करना चाहिए कि हम इन कम ज़रूरी बातों को कुछ समझते ही नहीं, या इन्हें बिलकुल ही निरुपयोगी समझते हैं। यदि कोई ऐसा ख़याल करे तो उसकी बहुत बड़ी भूल है। बल्कि यह कहना चाहिए कि उससे अधिक बड़ी भूल और होही नहीं सकती। सुन्दर और मनोमोहक बातों में प्रेम रखने और उनसे आनन्द उठाने को हम बहुत अच्छा समझते हैं। हम इन बातों को तुच्छ नहीं समझते। हम यह कदापि नहीं समझते कि इन बातों का उपयोग ही नहीं—इनसे कुछ लाभ ही नहीं। चित्रविद्या, प्रतिमानिर्म्माण, संगीत, कविता और प्राकृतिक दृश्यों की

सुन्दरता को देख कर पैदा होनेवाले अनेक प्रकार के मनोविकार यदि न होते तो मनुष्य-जीवन का आधा आनन्द चला जाता । सुरुचि और रसिकता सीखने, और काव्य-संगीत आदि के रसास्वादन से आनन्द उठाने, को हम अनावश्यक अथवा कम योग्यता का काम तो समझते नहीं, उलटा हमारा यह विश्वास है कि आज-कल की अपेक्षा अगले ज़माने में ज़िन्दगी का अधिक भाग इन्हीं बातों में ख़र्च हुआ करेगा । जब सृष्टि की पञ्चमहाभूतात्मिका प्रकृति-देवी को पूरे तौर पर अपने वश में करके उससे हम यथेच्छ काम लेने लगेंगे; जब ज़रूरत की चीज़ें पैदा करने के साधन पूर्णता को पहुँच जायँगे; जब सारे काम यथासम्भव अत्यन्त कम मेहनत से होने लगेंगे; जब शिक्षा का ऐसा प्रबन्ध हो जायगा कि जीवन-निर्वाह से सम्बन्ध रखनेवाले विशेष महत्त्व के काम ख़ूब जल्द किये जाने लगेंगे; और, जब, इन कारणों से, हमें आज-कल की अपेक्षा बहुत अधिक फ़ुरसत मिलने लगेगी; तब ललित कलाओं और प्राकृतिक दृश्यों के सौन्दर्य से मनोरञ्जन करने की प्रवृत्ति सब लोगों के हृदय में ख़ूब अधिकता से उत्तेजित हो उठेगी ।

५५—मनोरञ्जक कामों की और कामों से तुलना और उनका पारस्परिक महत्त्व ।

परन्तु यह क़बूल करना कि आमोद-प्रमोद और मनोरञ्जन के कामों से मनुष्य के सुख की बढ़ती होती है एक बात है; और यह मान लेना कि मनुष्य को सुखी बनाने के लिए उनका होना अनिवार्य्य है—अर्थात् बिना उनके मनुष्य सुखी हो ही नहीं सकता—दूसरी बात है । यह हमारा मतलब नहीं कि मनोरञ्जन के कामों के बिना मनुष्य सुख से वञ्चित रहता है । ये काम चाहे कितनेही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों—चाहे कितनेही ज़रूरी क्यों न हों—तथापि हमारे प्रति दिन के कर्त्तव्यों से जिन कामों या नियमों का सम्बन्ध, अर्थात् बहुत ही घनिष्ठ, सम्बन्ध है उनके बाद इनका नम्बर है । उनके हो चुकने पर मनोरञ्जक बातों की तरफ़ ध्यान देना मुनासिब है । उन कामों से इनका दरजा ज़रूर कम है । अपने निज के और सार्वजनिक कामों की यथोचित व्यवस्था हो सकने के लिए जिन बातों की ज़रूरत है

उनके सम्पादन के बाद पुस्तकावलोकन और ललित कलाओं से मनोरञ्जन होना सम्भव है। यह हम, इशारे के तौर पर, पहले ही कह चुके हैं। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस वस्तु का होना किसी दूसरी वस्तु पर अवलम्बित होता है वह उस दूसरी वस्तु के बाद होनी चाहिए। आधार का प्रबन्ध कर चुकने पर आधेय की तरफ़ ध्यान देना मुनासिब होता है। माली, या और कोई आदमी जो फूलों से प्रेम रखता है, गुलाब के पौधे सिर्फ़ फूलों ही के लिए बाग़ में लगाता है। पत्तियों और जड़ों की परवा विशेष करके वह इसलिए करता है कि वे फूलों की पैदावार की सहायक हैं। उसका असल मतलब फूल पैदा करना होता है। और फूल ऐसी चीज़ है कि और चीज़ों का महत्त्व उसके महत्त्व की हरगिज़ बराबरी नहीं कर सकता। परन्तु वह समझता है कि वास्तव में जड़ें और पत्तियाँ अपने हिसाब से फूलों से भी अधिक महत्त्व की हैं; क्योंकि जड़ों और पत्तियों ही की बदौलत फूल खिलते हैं। पौधों को वह बड़ी ख़बरदारी से रखता है। उनको अच्छी तरह रखने की वह दिल लगा कर कोशिश करता है। क्योंकि वह जानता है कि फूल पाने की आतुरता में पौधों को अच्छी तरह न रखना पागलपन है। जिस बात का हम विचार कर रहे हैं उसका भी ठीक यही हाल है। स्थापत्य-विद्या, प्रतिमा-निर्म्माण, चित्रकला, सङ्गीत और कविता सभ्य-समाज-रूपी पेड़ के फूल हैं। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि इन फूलों की योग्यता, इनके जन्मस्थान, सभ्य-समाज-रूपी पेड़, की योग्यता से भी अधिक है (जो कि शायद ही कोई कहे) तो भी यह कुबूल करना पड़ेगा कि सभ्य-समाज-रूपी वृक्ष को बड़ा करके अच्छी हालत में लाने की तरफ़ सबसे पहले ध्यान देना चाहिए और जिस शिक्षा से हम लोगों के सामाजिक जीवन की दशा सुधरे उसे बहुत ऊँचे दरजे की शिक्षा समझना चाहिए।

५६—वर्तमान शिक्षा-पद्धति के दोष।

यहाँ पर हमें अपनी शिक्षा-पद्धति के दोष बहुत ही स्पष्टता के साथ देख पड़ते हैं। हमारी शिक्षा-पद्धति इतनी दूषित है कि वह फूल पाने

की जल्दी में पौधे की कुछ भी परवा नहीं करती। वह शोभा और सिंगार के पीछे दौड़कर मूल वस्तु को बिलकुल ही भूल जाती है। वह इतनी खराब है कि जिस शिक्षा से आत्म-रक्षा होती है उसका कुछ भी ज्ञान नहीं होने देती। जिससे उदर-निर्वाह होता है उसे वह, सिर्फ़ दिग्दर्शन करा कर, छोड़ देती है और उसका अधिकांश, भविष्यत् में, जिस तरह जिससे हो सके उस तरह प्राप्त करने के लिए हर आदमी को लाचार करती है। बाल-बच्चों के पालन-पोषण के विषय में माँ-बाप के कर्तव्यों की वह बिन्दुमात्र भी शिक्षा नहीं देती। रही सामाजिक और राजकीय बातों की शिक्षा, सो उस का वह एक ढेर सामने रख देती है। इस ढेर का अधिक अंश बिलकुल ही असम्बद्ध होता है; इसकी एक बात का दूसरी से क्या सम्बन्ध है, इसका कुछ पता ही नहीं चलता। जो थोड़ा अंश बाकी रहता है उसकी कुञ्जी नहीं बतलाई जाती। इस कारण, उसका भी कोई वाहश उपयोग नहीं हो सकता। जो शिक्षा अत्यन्त ज़रूरी है उसकी तो यह दशा; पर शोभा-सिंगार, बाहरी दिखाव, टीम-टाम, ठाट-बाट आदि की शिक्षा का बेहद विस्तार! क्या कहना है! हम मानते हैं, और पूरे तौर पर मानते हैं, कि आज-कल जो भाषायें प्रचलित हैं उनका विस्तृत ज्ञान होना बहुत अच्छी बात है। क्योंकि अनेक भाषाओं की पुस्तकें पढ़ने, अनेक लोगों के साथ बात-चीत करने, और अनेक देशों में घूमने से आदमी चतुर हो जाता है। परन्तु बहुत अधिक ज़रूरी ज्ञान को खोकर चतुरता के पीछे दीवाना होना क्या मुनासिब बात है? जो ज्ञान बहुत ही ज़रूरी है उनके सामने बेचारी चतुरता की क़ीमत ही कितनी? यदि हम इस बात को सच मान लें कि पुरानी भाषायें पढ़ने से शुद्ध और सुन्दर भाषा लिखने में मदद मिलती है तो भी क्या इससे यह नतीजा निकाला जा सकता है कि महत्त्व के ख़याल से शुद्ध और सुन्दर भाषा लिखनी उतना ही ज़रूरी है जितना कि बाल-बच्चों के पालने-पोसने और सिखाने-पढ़ाने से सम्बन्ध रखने वाले नियमों की शिक्षा ज़रूरी है? इन दोनों बातों का महत्त्व एक सा नहीं। दोनों में बड़ा अन्तर है। जिस शिक्षा से आदमी अपनी सन्तति को अच्छी तरह शिक्षित कर सकता है उसकी अपेक्षा शुद्ध और मनोहर भाषा लिख सकना बहुत कम महत्त्व की

बात है। मान लीजिए कि पुरानी मुर्दा भाषाओं में काव्य पढ़ने से मनुष्य में रसिकता आ जाती है, तो क्या इससे आप यह अर्थ निकाल सकेंगे कि रसिकता की उतनी ही क़ीमत है जितनी कि आरोग्य-रक्षा के नियमों की शिक्षा की? कदापि नहीं। आरोग्य-शास्त्र का जानना रसिक होने की अपेक्षा अधिक ज़रूरी और अधिक महत्त्व की बात है। सुघरता, बोल-चाल की चतुराई, कविता और सङ्गीत आदि ललित-कलायें, और वे सब आलङ्कारिक बातें जिन्हें हम सभ्य-समाज-रूपी पेड़ के फूल समझते हैं, महत्त्व के हिसाब से, सभ्यता की आधार-भूत शिक्षा और सुधार से कम दरजे की हैं। इसी से हम कहते हैं कि जैसे हम इन मनोरञ्जक कामों को फ़ुरसत पाने पर करते हैं वैसे ही अधिक ज़रूरी और अधिक उपयोगी बातों की शिक्षा प्राप्त कर लेने पर फ़ुरसत के समय में ही हमें इनको सीखना चाहिए।

५७—सृष्टि-सौन्दर्य और ललित-कलाओं से पूरे तौर पर मनोरञ्जन होने के लिए भी विज्ञान की ज़रूरत है।

सुख, समाधान, सृष्टि-सौन्दर्य और मनोरञ्जन की बातों का दर्जा इस तरह निश्चित करने के बाद हमने जो राय क़ायम की है वह यह है, कि और बातों की शिक्षा के साथ ही साथ, शुरू से ही, इन बातों की शिक्षा होनी चाहिए। पर, हाँ, इस बात को न भूलना चाहिए कि मनोरंजक बातों की शिक्षा गौण शिक्षा है; उनकी शिक्षा और बातों की शिक्षा से कम महत्त्व की है। वह प्रधान शिक्षा नहीं, अप्रधान है। अब हमें इस बात का विचार करना है कि किस तरह का ज्ञान इस काम के लिए सबसे अधिक उपयोगी है—किस तरह की शिक्षा मनोरञ्जकता से सम्बन्ध रखने वाले मनुष्य-जीवन के इस बाक़ी बचे हुए काम के लिए सबसे अधिक मुनासिब है? इस प्रश्न का भी वही उत्तर है जो इसके पहले दिया जा चुका है। हर एक ऊँचे दरजे का कला-कौशल; विज्ञान, अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान, पर ही अवलम्बित है। विज्ञान ही उसकी जड़ है, विज्ञान ही उसकी नींव है, विज्ञान ही उसका आधार है। यह बात यद्यपि किसी किसी को चमत्कारिक मालूम होगी, पर है यह सच। इसके सच होने में सन्देह नहीं। बिना विज्ञान

के—बिना शास्त्रीय ज्ञान के—न तो किसी कला से सम्बन्ध रखने वाला कोई काम ही सर्वोत्तम हो सकता है और न उसे देख कर किसी को पूरा पूरा आनन्द ही मिल सकता है। इन बातों के लिए कारीगर दर्शक या परीक्षक का विज्ञान से परिचित होना बहुत ज़रूरी है। सर्व-साधारण आदमी शास्त्र या विज्ञान का अर्थ परिमित समझते हैं। उनका ख़याल है कि विज्ञान का अर्थ बहुत आकुञ्चित है। इन लोगों के हिसाब से तो बड़े बड़े प्रसिद्ध कारीगरों को भी विज्ञान न आता होगा। पर प्रसिद्ध प्रसिद्ध कारीगरों और शिल्पियों की बुद्धि बड़ी शोधक होती है। इससे विज्ञान के मोटे मोटे नियमों से वे हमेशा परिचित रहते हैं। अन्दाज़ और तजरिबे से ही वे लोग वैज्ञानिक नियमों का स्थूल ज्ञान प्राप्त कर लिया करते हैं। जितने विज्ञान हैं—जितने शास्त्र हैं—बाल्यावस्था में उनके नियमों का ऐसा ही ज्ञान हुआ करता है। कारीगर लोग वैज्ञानिक बातों में इस लिए कच्चे रहते हैं—वे वैज्ञानिक नियमों का इस लिए बहुत ही थोड़ा ज्ञान रखते हैं—क्योंकि अन्दाज़ और तजरिबे से जानी हुई वैज्ञानिक बातों की बहुत ही थोड़ी पूँजी उनके पास होती है और वह भी निर्भ्रान्त और सुव्यवस्थित नहीं होती। उसमें भी भूलें होती हैं। मतलब यह कि उनका वैज्ञानिक ज्ञान बहुत नीचे दरजे का होता है। जितनी ललित कलायें हैं—जितने कारीगरी के काम हैं—सब की जड़ विज्ञान है। ललित-कलाओं से जो चीज़ें पैदा होती हैं वे सब सृष्टि के भीतर या बाहर की चीज़ों की प्रतिनिधि होती हैं। सृष्टि ही की चीज़ों की जगह पर दूसरी चीज़ों को ललित-कलायें बनाती हैं। इन कलाओं से पैदा हुई चीज़ों का आदर्श सृष्टि की चीज़ों से थोड़ा-बहुत ज़रूर होता है। इस बात का विचार करने—इस बात को याद करने—से यह बात ही साबित हो जाती है कि कारीगरी के जितने काम हैं उनका आधार, उनका सहारा, उनकी बुनियाद विज्ञान है। सृष्टि की जिन चीज़ों या प्राकृत चीज़ों के नमूने कारीगर बनाते हैं उनका अगर उन चीज़ों के चिह्नादि अधिक मिलेंगे—उनके रूप से मिलते ही अधिक सुन्दर होंगे—उतना ही अधिक वे अच्छे होंगे। अतएव कारीगरों की चीज़ों से

तुल्यरूपता लाने के लिए सृष्टि की चीज़ों से सम्बन्ध रखने वाले सार्वक नियमों का ज्ञान होना कारीगर के लिए बहुत ज़रूरी है। यह ज्ञान अन्दाज़ से तो निकलता ही है; पर तजरिबे से भी निकलता है। इस बात को हम अभी साबित कर के दिखाते हैं।

५८—प्रतिमा-निर्म्माण-विद्या के लिए मनुष्य-शरीर की बनावट और यन्त्रशास्त्र का जानना ज़रूरी है।

जो नव-युवक प्रतिमा-निर्म्माण के—मूर्ति बनाने के—पेशे के लिए तैयार होना चाहते हैं उनको मनुष्य-शरीर की हड्डियों और पट्ठों का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है; और यह भी सीखना पड़ता है कि वे कहाँ कहाँ पर हैं, किस तरह एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, और कैसे हिलते डुलते हैं। ये वैज्ञानिक बातें हैं। इनको सीखने की इसलिए ज़रूरत पड़ती है जिसमें मूर्तियाँ बनाने में भूलें न हों। जो लोग शास्त्रीय ज्ञान के इस हिस्से से परिचित नहीं होते उनसे मूर्ति-निर्म्माण में ज़रूर भूलें होती हैं। मूर्तियाँ बनाने वालों को यन्त्र-विद्या के सिद्धान्तों का जानना भी ज़रूरी बात है। इन सिद्धान्तों का ज्ञान बहुधा न होने से कभी कभी लोग यन्त्र-विद्या-सम्बन्धी बड़ी बड़ी भूलें कर बैठते हैं। एक उदाहरण लीजिए। मूर्ति अच्छी तरह खड़ी रहने के लिए यह ज़रूरी है कि उसके तुल्यगुरुत्व के बीच से जो सन्धान-रेखा निकाली जाय वह मूर्ति की बैठक के बाहर न पड़े। इसी से फ़ौजी क़वायद के वक़्त "स्टैंड एट ईज़" के हुक्म पर, आराम से खड़े होने में जब आदमी का एक पैर तना हुआ और दूसरा कुछ ढीला और टेढ़ा होता है, तब सन्धान-रेखा तने हुए पैर के भीतर पड़ती है, बाहर नहीं। परन्तु जो मूर्तिकार तुल्यगुरुत्व (अर्थात् सब तरफ़ से वज़न के बराबर तुले रहने) के इस सिद्धान्त को नहीं जानता वह इस स्थिति में खड़ी हुई मूर्ति बहुधा इस तरह बना डालता है कि सन्धान-रेखा दोनों पैरों के ठीक बीच में पड़ती है। यह बहुत बड़ी भूल है। इसके कारण मूर्ति ठीक तौर पर नहीं खड़ी रहती। पदार्थों की गति के वेग के सिद्धान्त को न जानने वालों से भी ऐसी ही भूलें होती हैं।

डिस्कोबोलस* की मूर्ति की बड़ी तारीफ़ है। उसे देखकर लोग अचरज करते हैं। पर यदि उसे आप, जिस समय वह अपनी जगह पर खड़ी है, देखेंगे तो ऐसा ज्ञान पड़ेगा कि उसके हाथ का पत्थर यदि खींच लिया जाय तो खींचने के साथ ही वह मूर्ति आगे की तरफ़ झुक जायगी।

५९—चित्रकला के लिए भी विज्ञान जानने की बड़ी ज़रूरत है।

चित्रकला के लिए भी विज्ञान की ज़रूरत है, और यह ज़रूरत ऐसी है कि और भी अधिक साफ़ मालूम होती है। हम यह नहीं कहते कि चित्रकार को विज्ञान का ज्ञान शास्त्रीय रीति से ही होना चाहिए; नहीं, यदि उसके सिर्फ़ मोटे मोटे नियम उसे मालूम हों तो भी उसका काम चल सकता है। चीन में बने हुए चित्र क्यों बेडौल और बुरे लगते हैं? इसका कारण यह है कि वहां के चित्रकार दिखावे और आकार प्रकार के नियमों की परवा नहीं करते; रेखागणित का उपयोग करना नहीं जानते; और चित्र खींचते समय जुदा जुदा चीज़ों की दूरी और उनकी छुटाई बड़ाई का ख़याल भी अच्छी तरह नहीं रखते। वे यह नहीं समझते कि दूरी के हिसाब से, प्रकाश और छाया में चित्र उतारते समय, अन्तर हो जाता है। चित्र के स्वच्छ और अस्वच्छ हिस्सों में वे यथानियम रंग लगाना नहीं जानते। लड़कों के चित्र क्यों इतने ख़राब होते हैं? क्योंकि उनमें असलियत नहीं होती। जुदा जुदा हालतों में चीज़ों के दृश्य भी जुदा जुदा होते हैं—उनकी सूरतें भी जुदा जुदा होती हैं। पर इस बात पर चित्रकार बहुधा ध्यान नहीं देते। इसीसे उनके बनाये हुए चित्रों में दोष रह जाते हैं। चित्र-विद्या की उन किताबों और वक्तृताओं का तो ज़रा स्मरण कीजिए जो लड़कों को पढ़ाई जाती हैं; या इँगलैंड के विद्वान् ग्रन्थकार

---

* गोल और चपटी पत्थर आदि के टुकड़ों को फेंक कर जो पहलवान कसरत करते हैं उनका नाम डिस्कोबोलस है। पुराने ज़माने में इस कसरत की द्योतक एक मूर्ति रोम में बनी थी। उसी को देख कर और भी कई मूर्तियां पीछे से बनाई गई थीं। उन्हीं से यहां मतलब है।

रस्किन ने इस विषय की जो आलोचना की है उस पर तो ज़रा विचार कीजिए; या इटली के प्रसिद्ध चित्रकार रैफल के पहले के बने हुए चित्रों को तो देखिए। ऐसा करने से मालूम हो जायगा कि चित्रण-कला की उन्नति उस ज्ञान की उन्नति पर अवलम्बित रहती है जिससे यह जाना जाता है कि प्राकृतिक पदार्थों के—सृष्टि-सम्भूत बातों के—परिणाम किस तरह पैदा होते हैं। जैसे जैसे यह मालूम होता जाता है कि संसार में जो बातें देख पड़ती हैं उनके क्या क्या नतीजे होते हैं वैसे ही वैसे चित्र खींचने की विद्या में भी उन्नति होती जाती है। जिस चीज़, या जिस बात, का जैसा परिणाम होता है उसको वैसाही चित्र में दिखला देना चित्रकार का काम है। यह बात तभी उससे हो सकती है जब वह उस परिणाम को अच्छी तरह जानता हो। उसे जानने ही से चित्र में असलियत आ सकती है। आदमी के चेहरे पर क्रोध का क्या परिणाम होता है, यह जो नहीं जानता उसके बनाये हुए चित्र में असलियत का आना असम्भव है। मनुष्य चाहे जितना चतुर, बुद्धिमान्, शोधक और सूक्ष्मदर्शी हो, जब तक उसे शास्त्रीय ज्ञान नहीं—जब तक वह विज्ञान से परिचित नहीं—तब तक वह भूल किये बिना नहीं रह सकता! उससे ज़रूर भूलें होंगी। इस बात को कोई भी चित्रकार कबूल करेगा कि जुदा जुदा हालतों में जुदा जुदा चीज़ों की सूरतों का ज्ञान हुए बिना चित्र में उन्हें सद्वत् दिखलाना बहुधा असम्भव होता है। और, इस बात का जानना कि किस हालत में किस चीज़ की कैसी सूरत होती है, एक तरह का शास्त्र है—एक प्रकार का विज्ञान है। ल्युइस साहब एक चतुर चित्रकार हैं। वे अपना काम बड़ी सावधानी से करते हैं। पर उन्होंने चित्र में जालीदार खिड़की की छाया सामने की दीवार पर साफ़ साफ़ लकीरों में दिखलाई है। यह विज्ञान न जानने का फल है। यदि उन्हें छाया का शास्त्रीय ज्ञान होता, यदि वे जानते कि अपूर्ण छाया कैसी होती है, यदि उन्हें मालूम होता कि प्रकाश के योग में छाया किस तरह अदृश्य सी होकर उसमें मिल जाती है, तो कभी उनसे ऐसी भूल न होती। रासेटी नाम के चित्रकार ने यह देखा कि किसी जालदार जगह पर एक विशेष प्रकार का प्रकाश पड़ने से प्रकाश की छाया ने इन्द्र-धनुष की तरह के रंग

व्यापार होते हैं। स्वरों का उतार चढ़ाव इन्हीं व्यापारों पर अवलम्बित रहता है। और जितने व्यापार हैं सब मन की प्रेरणा से होते हैं। इससे स्वरों को मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब समझना चाहिए। उनमें मनोवृत्तियों की झलक साफ़ मालूम होती है। इससे यह नतीजा निकलता है कि गाते समय स्वरों के उतार चढ़ाव से जो तानें और मूर्च्छनायें आदि पैदा होती हैं उनका असर सुननेवाले पर तभी पड़ सकता है जब वे पूर्वोक्त नियमों के अनुकूल हों। इस बात को उदाहरण देकर समझाना कुछ कठिन है। परन्तु, यहाँ पर शायद इतना ही कहना काफ़ी होगा कि ये सैकड़ों निकम्मी ठुमरियाँ, दादरे और गज़लें जिन्हें हम लोग, गन्दी भाषा में, उठते बैठते सुनते हैं, और जो महफ़िलों में लोगों की कुरुचि को बढ़ाती हैं, सङ्गीत-विद्या के नियमों के अनुकूल नहीं हैं। शास्त्र की रीति से ये जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं। ऐसे गीतों की शास्त्र में आज्ञा नहीं। इस तरह के गीत विज्ञान की दृष्टि में—सङ्गीत-शास्त्र की नज़र में—अपराधी हैं। क्योंकि वे ऐसे भावों को, ऐसे ख़यालों को, ऐसी बातों को सङ्गीत में ज़बरदस्ती लाते हैं जिनमें काफ़ी रस नहीं होता। उनमें ऐसी बातें कही जाती हैं जिन्हें कहने के लिए मनोविकारों से काफ़ी प्रेरणा नहीं मिलती। उनमें इस तरह के भाव रहते हैं जिन्हें संगीत की सहायता से प्रकट करने के लिए मनुष्य के मनोविकार गायक को उत्तेजित ही नहीं करते। इस तरह के गीत इस कारण से भी सङ्गीत शास्त्र की दृष्टि में अपराधी हैं, कि उनमें वे भाव प्रकट किये जाते हैं जो बिलकुल ही अस्वाभाविक हैं—जो मनुष्य के मनोविकारों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते। यदि मनोविकारों से वे सम्बन्ध भी रखते हैं तो भी वे स्वाभाविक नहीं होते। ऐसे गीतों को हम इसलिए बुरा कहते हैं कि उनमें असलियत नहीं होती—उनके भावों में यथार्थता का अभाव रहता है। और यह कहना कि उनमें असलियत नहीं होती—उनमें यथार्थता नहीं होती—मानों उन्हें अशास्त्रीय कहना है। दोनों बातों का मतलब एकही है। क्योंकि जिसमें असलियत नहीं—जिसमें बनावट है—उसकी विज्ञान में गिनती नहीं हो सकती। वह शास्त्र की परिभाषा के भीतर नहीं आ सकता।

६१—कविता में भी स्वाभाविक मनोविकारों से सम्बन्ध रखनेवाले विज्ञान के बिना काम नहीं चल सकता ।

कविता का भी यही हाल है । मन में मनोविकारों के प्रबल होने से जो बातें स्वाभाविक तौर पर मनुष्य के मुँह से निकलती हैं उन्हीं के आधार पर, संगीत की तरह, कविता भी होती है । मनोविकारों ही को कविता का बीज समझना चाहिए । कविता में जो शब्द-चातुर्य्य, जो स्वर-संवाद, जो प्रभावपूर्ण रूपक, जो अतिशयोक्तियां, जो तीव्र विपर्यन देख पड़ते हैं वे क्षुब्ध हुई मनोवृत्ति के उत्कट उच्छ्वास हैं । मन में विकार पैदा होने से वाणी में जो विशेषता आ जाती है, ये अलङ्कार उसी के अवतार या आविष्कार हैं । अथवा यों कहिए कि उद्दाम मनोवृत्ति को वाणी की सहायता से प्रकट करने के ये साधन हैं । इससे कविता में स्वाभाविकता लाने के लिए—उसे उत्तम बनाने के लिए—कवि का काम है कि वह ज्ञानवस्तुओं से सम्बन्ध रखनेवाले उन नियमों को ध्यान में रक्खे जो क्षुब्ध हुई वाणी का कारण होते हैं । अर्थात् क्षोभ उत्पन्न होने पर वाणी जिन नियमों की पाबन्दी करती है उनको जानना कवि का सबसे बड़ा काम है । क्षुब्ध मनोवृत्ति से उत्तेजित हुई वाणी को कविता का रूप देते समय क्षोभ के लक्षण दिखाने और तीव्रता लाने में कवि को चाहिए कि वह सीमा के बाहर न जाय और जिन साधनों से अपनी वाणी को कविता का रूप दे उन्हें प्रतिबन्ध में रक्खे । परिमाण और प्रतिबन्ध का उसे ज़रूर ख़याल रखना चाहिए । उनका दुरुपयोग करना उचित नहीं । उन्हें क़ाबू में रखना चाहिए । यह नहीं कि कविता के साधनीभूत अलङ्कार, वर्ण-विन्यास, वर्णनक्रम और रस-परिपाक आदि को रोकटोक अनर्गल होकर अपनी सीमा के बाहर चले जाने दे । जहां मनोवृत्तियों का वेग प्रबल न हो वहां कविता का भी वेग प्रबल न होने पावे; जैसे जैसे मनोवृत्तियों का वेग बढ़ता जाय वैसे वैसे कविता का भी वेग बढ़ता जाय; और जहां मनोवृत्तियों का वेग प्रबल होकर पराकाष्ठा को पहुँच जाय वहां कवितागत रस का भी वेग बढ़ कर सीमा के शिखर पर आरूढ़ हो जाय । जिस कविता में इन बातों की बिलकुल परवा नहीं की

जाती-जिसमें इन नियमों का सर्वतोभाव से उल्लंघन होता है—वह कविता ही नहीं। उसे नीच काव्य, शब्दाडम्बर या क़ाफ़ियाबन्दी कह सकते हैं, कवि नहीं कह सकते। उपदेश-विषयक कविता में इन नियमों की बहुत कम परवा की जाती है। बहुतेरी कविताओं के नीरस होने का यही कारण है कि उनके कर्ता कवियों ने नियमों की बहुत ही कम पाबन्दी की है। उन्होंने शायद ही कभी इनका पालन पूरे तौर पर किया हो।

६२—प्रत्येक कारीगर के लिए मनोविज्ञान के नियम जानने की ज़रूरत।

हर एक कारीगर, वह चाहे जो काम करता हो, तब तक अपना काम ठीक तौर पर नहीं कर सकता—तब तक उसे निर्दोष नहीं बना सकता—जब तक कि वह उस काम से सम्बन्ध रखनेवाले नियमों को न समझ ले और उसके गुण-धर्मों को न जान ले। इतनाही नहीं, किन्तु उसके लिए इस बात का जानना भी बहुत ज़रूरी है कि उसके काम की—उसकी कारीगरी की—ख़ूबियों का देखने या सुननेवालों पर कैसा असर पड़ेगा। और यह मनोविज्ञान की बात है। जिनके सामने कोई कारीगरी या कोई चीज़ रक्खी जाती है उनके दिल पर उसका क्या असर पड़ेगा—यह एक ऐसी बात है जो स्वभाव से सम्बन्ध रखती है। और स्वभावों का यह धर्म है कि वे विशेष विशेष बातों में एक दूसरे से थोड़ा बहुत ज़रूर मिलते हैं। इस लिए उन बातों के सम्बन्ध में ऐसे व्यापक नियम ज़रूर निकाले जा सकते हैं जिनके अनुसार कारीगरी करने से कामयाबी हो सकती है। अर्थात् जिन नियमों के अनुसार किसी किसी बात में सब लोगों के स्वभाव परस्पर मिलते हैं उन नियमों का ख़याल रख कर यदि कारीगर कोई चीज़ बनावेगा तो वह चीज़ लोगों को ज़रूर पसन्द आवेगी। इन साधारण नियमों को कारीगर तब तक नहीं समझ सकता और तब तक इनका उपयोग भी नहीं कर सकता जब तक वह इस बात को न जान ले कि मनोधर्मों से इन नियमों का कैसा सम्बन्ध है—मनोविकारों के झुकाव का ये किस तरह अनुसरण करते हैं। किसी चित्र के विषय में किसी से यह पूछना कि

कैसा है—अच्छा है या बुरा—मानो यह पूछना है कि उसके मनोभाव और पदार्थ-ज्ञान पर उसका कैसा असर पड़ेगा । अर्थात् उसे देखकर देखनेवाले की मनोवृत्ति कैसी होगी । इसी तरह, यह पूछना कि अमुक नाटक अच्छा है या नहीं, मानो यह पूछना है कि उसके कथानक की रचना क्या ऐसी है कि वह अभिनय देखनेवालों के चित्त को अपनी तरफ़ खींच कर एकाग्र कर सके ? अथवा, क्या उसमें किसी मनोभाव या रसपरिपाक की मात्रा इतनी अधिक तो नहीं हो गई कि उसके कारण दर्शकों के मन में उद्वेग पैदा होजाय । कविता और उपन्यासों का भी यही हाल है । इनके मुख्य मुख्य भागों की रचना, और प्रत्येक वाक्य के शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध, इस ख़ूबी से होना चाहिए कि सुनने या देखनेवालों के मन में उद्वेग न होकर आनन्द उत्पन्न हो । तभी समझना चाहिए कि रचना निर्दोष हुई है । नाटक या उपन्यास की कामयाबी सिर्फ़ इस बात पर अवलम्बित है कि उसे देखने या सुनने से लोगों की मनोवृत्तियां जग कर उत्तेजित हो जायें और उनका चित्त आनन्द से उल्लसित हो उठे ।

६३—तजरिबे से जाने गये कारीगरी के सिद्धान्तों की जड़ मनोविज्ञान है ।

हर एक कारीगर, अपनी शिक्षा के समय—अपना काम सीखते समय—और उसके बाद भी, तजरिबे से कुछ ऐसे नियम और सिद्धान्त सीख लेता है जिनकी मदद उसे हमेशा दरकार होती है । इन सिद्धान्तों की जड़ों का पता लगाने से वे आपको मनोविज्ञान की भूमि में गड़ी हुई मिलेंगी । ये सिद्धान्त मनोविज्ञान के सिद्धान्त हैं । अतएव जब कारीगर इस विज्ञान के सिद्धान्तों और तदन्तर्गत जुदा जुदा बातों को समझ लेगा तभी वह अपना काम उनके अनुसार यथानियम कर सकेगा, अन्यथा नहीं ।

६४—स्वाभाविक प्रतिभा और विज्ञान के मेल से ही कवि और कारीगर को पूरी पूरी कामयाबी होती है ।

हम इस बात पर एक क्षण भर के लिए भी विश्वास नहीं करते कि

विज्ञान पढ़ने से ही कोई कारीगर हो सकता है। हम यह ज़रूर कहते हैं कि कारीगर के लिए बाहरी सृष्टि के मुख्य नियमों और उनके स्थूल धर्म्मों का ज्ञान होना ही चाहिए; पर हम यह भी कहते हैं कि सिर्फ़ इसी ज्ञान से किसी कारीगर का काम नहीं चल सकता। उसे अपने काम से—अपने उद्योग-धन्धे से—सम्बन्ध रखने वाला स्वाभाविक ज्ञान भी होना चाहिए। सिर्फ़ कवि ही नहीं, किन्तु हर विषय का कारीगर बनाया नहीं जाता। वह पैदा ही वैसा होता है। उसमें कविता और कारीगरी का बीज स्वाभाविक होता है। उसका अंकुर वह जन्म से ही अपने साथ लाता है। हमारे कहने का मतलब सिर्फ़ इतना ही है कि मूलांकुर से काम नहीं निकल सकता। उसके लिए शास्त्रीय ज्ञान की ज़रूरत है। विज्ञान सीखने ही से—शास्त्र पढ़ने ही से—उसे कामयाबी हो सकती है। अन्तर्ज्ञान से बहुत कुछ काम निकल सकता है; पर सब काम नहीं। जब प्रतिभा और विज्ञान दोनों का मेल हो जाता है—जब प्रतिभा विज्ञान के गले में स्वयंवरमाल डाल देती है—तभी ऊँचे दरजे की कामयाबी होती है।

६५—विज्ञान का ज्ञान जितना ही अधिक होगा कारीगरी भी उतनी ही अधिक अच्छी होगी और आनन्द भी उससे उतना ही अधिक मिलेगा।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, विज्ञान की शिक्षा सिर्फ़ इसी लिए ज़रूरी नहीं कि उसकी मदद से कारीगरी सर्वोत्तम हो, किन्तु इसलिए भी ज़रूरी है जिसमें ललित-कलाओं की ख़ूबियों को जान कर उनसे आनन्द भी प्राप्त हो सके। किसी चित्र की ख़ूबियों को जानने की योग्यता बच्चे की अपेक्षा वयस्क आदमी में क्यों अधिक होती है? इसका कारण सिर्फ़ इतना ही है कि सृष्टि और जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली बातें जो चित्र में चित्रित रहती हैं उनका मर्म वयस्क आदमी को अधिक समझ पड़ता है। क्या कारण है जो शिक्षित और रसिक आदमी को, एक अनपढ़ ग्रामीण की अपेक्षा किसी कविता के आस्वादन में अधिक आनन्द मिलता है? कारण यही है कि उसे सृष्टि के पदार्थों और मानुषिक जीवन के व्यवहारों का ज्ञान अपढ़

आमोद की अपेक्षा, अधिक होता है। इसीसे काव्यों में इस विषय की बातें वह अधिक समझता है और उनसे उसका मनोरञ्जन भी अधिक होता है। जैसा कि इस उदाहरण में बहुत ही स्पष्टतापूर्वक दिखलाया गया है, यदि चित्रों की ख़ूबियों को थोड़ा बहुत समझने के पहले उन चीज़ों का कुछ न कुछ ज्ञान होना बहुत ज़रूरी है जिनके कि वे चित्र हैं, तो उन ख़ूबियों को पूरे तौर पर समझने के लिए उन असल चीज़ों का पूरा ज्ञान प्राप्त करना भी बहुत ज़रूरी है। यह एक ऐसी बात है जिसके लिए और कोई सबूत दरकार नहीं। बात बिलकुल साफ़ है। और अपनी सचाई को आपही साबित कर रही है। सच तो यह है कि चाहे जिस विषय की कारीगरी हो उसमें जितनी अधिक असलियत होती है—जितनी अधिक ख़ूबियाँ उसमें दिखाई देती हैं—समझदार आदमी को उतनाही अधिक आनन्द मिलता है। ये ख़ूबियाँ जिन लोगों के ध्यान में नहीं आतीं उनको यह आनन्द भी नहीं मिलता: वे इससे सर्वथा वञ्चित रहते हैं। कारीगर अपने काम में जितनी ही अधिक ख़ूबियाँ दिखलाता है उतनी ही अधिक मानसिक शक्तियों को वह जाग्रत करता है: उस काम को देख कर उतने ही अधिक मनोभाव और विचार पैदा होते हैं; और उतना ही अधिक आनन्द भी मिलता है। पर इस आनन्द को प्राप्त करने के लिए देखने, सुनने या पढ़नेवाले के ध्यान में वे ख़ूबियाँ आनी चाहिए जिनको कि उस कारीगर ने अपने काम में दिखलाया है। और इन ख़ूबियों का जानना—इन मर्मों का समझना—मानों उतने विज्ञान या शास्त्र का जानना है।

६६—विज्ञान कविता की जड़ ही नहीं; वह ख़ुद भी एक विलक्षण प्रकार की कविता है।

अब हम एक और बात कहना चाहते हैं। यह बात औरों से अधिक ज़रूरी है। इसलिए इसे न भूलना चाहिए। वह बात यह है कि मूर्ति-निर्म्माण किंवा बुत्-तराशी, चित्र-विद्या, सङ्गीत और कविता की जड़ ही विज्ञान नहीं; विज्ञान ख़ुद भी एक प्रकार की कविता है। इन कलाकौशलों का महत्त्व सिर्फ़ इसी लिए नहीं कि उनकी जड़ विज्ञान है। नहीं, विज्ञान में

खुद भी एक विलक्षण प्रकार का आनन्द है। आज-कल लोग जो यह समझते हैं कि विज्ञान और कविता में परस्पर विरोध है सो भ्रममात्र है। जो ऐसा समझते हैं वे भूलते हैं। यह ज़रूर सच है कि ज्ञान और मनोविकार, ये दोनों, मन की जुदा जुदा स्थितियां हैं। अतएव जब मन इन दोनों में से किसी एक स्थिति में रहता है तब वह, एक ही साथ, दूसरी स्थिति में नहीं रह सकता। और यह भी ज़रूर सच है कि विचार-सागर में निमग्न होने से मन की सारी भावनायें शिथिल हो जाती हैं। और भावनाओं में मन के डूब जाने से विचार-परम्परायें बन्द हो जाती हैं। इस हिसाब से तो मन से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें हैं सभी परस्पर विरोधी हैं। पर यह कदापि सच नहीं कि वैज्ञानिक बातों में काव्यरस नहीं—उनसे आनन्द की प्राप्ति नहीं। और न यही सच है कि विज्ञान में प्रवीणता प्राप्त करने से विज्ञान सीखने से—कल्पनाशक्ति में बाधा आती है और सृष्टि-सौन्दर्य से मिलनेवाली रसिकता कम हो जाती है। उलटा इसके, जो लोग विज्ञान के ज्ञाता हैं उनके सामने काव्य के वे विस्तृत मैदान, जो विज्ञान न जाननेवालों को रेगिस्तान मालूम होते हैं, नन्दनवन बनकर प्रकट होते हैं। जो लोग वैज्ञानिक विचारों में लगे हैं—जो लोग वैज्ञानिक खोज में निमग्न हैं—वे बार बार इस बात को साबित कर दिखाते हैं कि अपने वैज्ञानिक विषयों की कविता से वे और लोगों की अपेक्षा कम नहीं, किन्तु बहुत अधिक आनन्द पाते हैं। उनका आनन्द एक विलक्षण प्रकार का होता है और उसका अनुभव वे बड़ी खूबी से करते हैं। स्काटलैंड के राजा ह्यू मिलर की भूगर्भ-शास्त्र-विषयक पुस्तकें और ल्यूइस साहब की "सामुद्रिक तट के विचार" (सी साइड स्टडीज) नाम की पुस्तक जो ध्यान से पढ़ेगा उसे साफ़ मालूम हो जायगा कि विज्ञान से कवित्व-शक्ति की दीपशिखा बुझती नहीं, किन्तु अधिक प्रज्वलित हो जाती है। जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान गेटी के जीवन-चरित को जो विचारपूर्वक पढ़ेगा उसके ध्यान में यह बात ज़रूर आ-जायगी कि कवित्व और विज्ञान, ये दोनों, एकही साथ एकही आदमी में किस तरह रह सकते हैं और किस तरह वे दोनों अपना अपना काम उत्साह-पूर्वक कर सकते हैं। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि जो आदमी विज्ञानवेत्ता है

वह साथ ही कवि भी हो सकता है। क्या यह कहना बेहूदा और प्रायः अपवित्र या नास्तिकतापूर्ण नहीं है कि जैसे जैसे आदमी सृष्टि के पदार्थों को अधिक देखता और उनके विषय में अधिक विचार करता है वैसेही वैसे उन पर उसकी भक्ति और श्रद्धा कम होती जाती है ? क्या तुम कभी इस बात का ख़याल कर सकते हो कि पानी का एक बूँद जो नादान और कमसमझ आदमियों की नज़र में सिर्फ़ पानी का बूँद है, पदार्थशास्त्र में पण्डित को भी वैसा ही मालूम होगा ? अथवा क्या उसकी क़ीमत उसकी नज़र में कुछ कम हो जायगी जो यह जानता है कि उस बूँद के परमाणु एक शक्ति विशेष के बल से परस्पर बँधे हुए हैं और यदि वह शक्ति सहसा दूर कर दी जाय—यदि अकस्मात् उसका विच्छेद हो जाय—तो उसी बूँद से बिजली की चमकीली रेखा निकल पड़े ? अब आप ही कहिए कि पानी के ऐसे बूँद को देख कर किसे अधिक आनन्द होगा ? जब कोई मामूली आदमी अपने घर्म-चक्षुओं से बर्फ़ के किसी गाले को बेपरवाही से देखता है तब उसे उसमें कोई विशेषता नहीं मालूम होती। पर उसी को जब कोई विज्ञानवेत्ता ख़ुर्दबीन लगा कर देखता है, तब उसे उसमें कितनी ही तरह के मनोहर रंग और कितनी ही तरह की अद्भुत अद्भुत शकलें देख पड़ती हैं। इस दशा में मामूली आदमी की अपेक्षा विज्ञान-शास्त्र के ज्ञाता के मन में क्या ऊँचे दरजे के अनेक ख़यालात अधिक न पैदा होंगे ? क्या तुम समझते हो कि किसी गोल चपटी पत्थर पर समानान्तर रेखाओं को देख कर अजान आदमी के चित्त में वैसे ही कवित्वोचित विचार पैदा होते हैं जैसे कि भूगर्भ-विद्या के ज्ञाता के चित्त में, जो इस बात को जानता है कि दस लाख वर्ष पहले इसी पत्थर के ऊपर पर्वताकार बर्फ़ बहता था ? सच तो यह है कि जिन्होंने साइंस का नाम भी नहीं—जो विज्ञानविद्या के पास से होकर भी कभी नहीं निकले—वे सृष्टि की उन अनेक रमणीय वस्तुओं से सम्बन्ध रखनेवाली कविता से बिलकुल ही वंचित रहते हैं जो उनके चारों तरफ़ भरी पड़ी है। वे उन चीज़ों से घेरे हुए रहते हैं, पर उनसे उनको कुछ भी आनन्द या अचरज नहीं मिलता। जिसने लड़कपन में तरह तरह के पौधे और कीड़े मकोड़े

को नहीं इकट्ठा किया उसे उस आनन्द और मनोरञ्जन का अर्धांश भी नहीं मिल सकता जो गली-कूँचों और काँटेदार झाड़ियों में इन चीज़ों को ढूँढने से मिलता है। हज़ारों वर्ष से पृथ्वी के पेट में गड़ी हुई चीज़ों को खोद निकालने का जिसने कभी प्रयत्न नहीं किया उसके मन में वे कवि-जनोचित भाव कभी पैदा नहीं हो सकते जो उन जगहों को देख कर पैदा होते हैं जहाँ ऐसी चीज़ों का ख़ज़ाना पृथ्वी के भीतर गड़ा हुआ पाया जाता है। समुद्र के किनारे सामुद्रिक जीवों से भरे हुए किसी कुण्ड को जिसने ख़ुर्दबीन से नहीं देखा वह बेचारा नहीं जान सकता कि समुद्र-तट में सबसे अधिक आनन्ददायक चीज़ें कौनसी हैं। बड़े अफ़सोस की बात है कि आदमी तुच्छ बातों के पीछे अपना अनमोल समय व्यर्थ नष्ट करते हैं और बहुत बड़ी बड़ी बातों की बिलकुल परवा नहीं करते। परमेश्वर ने इस विस्तृत विश्व में जो नाना प्रकार के अपूर्व अपूर्व दृश्य और चमत्कार दिखलाये हैं उनको समझने की लोग कुछ भी कोशिश नहीं करते; पर रानी एलिज़ेबेथ के ख़िलाफ़ षड्यन्त्र रचने वाली स्काटलैंड की रानी मेरी की कपट-कारिस्तानी-विषयक एक आध शुष्क बात की चर्चा बड़े उन्माद से करने बैठते हैं! किसी ग्रीक या संस्कृत-कवि के एक आध श्लोक की आलोचना करने में तो लोग अपनी सारी विद्वत्ता ख़र्च कर देते हैं; पर इस पृथ्वी के विशाल पृष्ठ पर जगदीश्वर ने अपनी कराङ्गुली से प्रकृति-रूपी इस बड़े महाकाव्य की जो रचना कर रक्खी है उसकी तरफ़ वे आँख उठा कर भी नहीं देखते। कैसा विलक्षण व्यापार है!

६७—विज्ञान में विलक्षण सरसता है। बिना उसे जाने मनोरञ्जक कला-कौशलों से पूरा पूरा आनन्द नहीं मिल सकता।

यहाँ तक जो कुछ लिखा गया उससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य की ज़िन्दगी से सम्बन्ध रखने वाले इस आख़िरी काम के लिए भी विज्ञान की शिक्षा बहुत ज़रूरी है। शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने ही से पूरे तौर पर मनोरञ्जन हो सकता है, और किसी तरह नहीं। हम कह चुके हैं कि [illegible] मनोरञ्जन की सारी बातों के आधार वैज्ञानिक सिद्धान्त हैं।

सृष्टि-सौन्दर्य से सम्बन्ध रखने वाली जितनी कलायें हैं सबकी जड़ शास्त्रीय तत्त्व हैं। इन तत्त्वों से—इन सिद्धान्तों से—जानकारी प्राप्त करने ही से मनोरञ्जक कलाकौशलों से आनन्द उठाने में कामयाबी हो सकती है। बिना इनको जाने पूरे तौर पर मनोरञ्जन नहीं हो सकता; और जितनी कारीगरियाँ हैं उनकी अच्छी तरह परीक्षा कर सकने और उनसे पूरा पूरा आनन्द उठा सकने के लिए उन चीज़ों के अवयवों का सम्बन्ध ज्ञात होना बहुत ज़रूरी है। वे किस तरह बनी हैं? उनके अवयवों का परस्पर सम्बन्ध कैसा है? उनको देखकर मन में क्या क्या भाव पैदा होते हैं? बिना इन बातों के जाने कलाकौशल्य के कामों से पूरा पूरा आनन्द नहीं मिल सकता। और इन सब बातों को जानना मानो विज्ञान जानना है—मानो शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करना है। यही नहीं कि कला-कौशल और कविता के जितने रूप हैं, विज्ञान-विद्या उन सब की सिर्फ़ रक्षी है; किन्तु यथार्थ रीति से विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि वह ख़ुद ही कवितामय है। अर्थात् विज्ञान वह वस्तु है जिसमें ख़ुद ही एक प्रकार की विलक्षण सरसता है।

६८—मन और बुद्धि पर हर तरह के ज्ञान का क्या असर होता है और उनकी अन्यसापेक्ष-योग्यता कितनी है।

यहाँ तक हमने इस बात का विचार किया कि व्यवहार में सब तरह के ज्ञानों का कितना उपयोग होता है और उनमें से हर एक का मोल कितना है। अब तक हमने सिर्फ़ इस बात पर बहस की कि किस तरह के ज्ञान से आदमी का कितना काम निकलता है। अब हमको यह देखना है कि हर तरह के ज्ञान का मन और बुद्धि पर क्या असर होता है और उनकी अन्य-सापेक्ष-योग्यता कितनी है—सापेक्ष भाव के ख़याल से किसकी योग्यता कम है, किसकी अधिक। जिस विषय पर हम लिख रहे हैं उसके इस अंश का विचार, विवश होकर, हमें थोड़े ही में करना पड़ेगा, और सौभाग्य से इस पर बहुत कुछ लिखने की ज़रूरत भी नहीं है। थोड़े ही में काम निकल जायगा। जब हमको यह मालूम हो गया कि किसी एक काम के लिए

कठिन काम है। रसायन-शास्त्र में प्रति दिन नये नये मिश्रित पदार्थों का पता लगने से उनकी संख्या इतनी बढ़ गई है कि, स्कूलों और कालेजों के अध्यापकों को छोड़कर, शायद ही और कोई उन सबकी गिनती कर सके। सब मिश्र-पदार्थों की घटना, उनके अवयवों का परस्पर सम्बन्ध, और उनकी संयोग-क्रिया आदि की बातें अच्छी तरह याद रखना तो, जन्म भर रसायन-विद्या का अभ्यास किये बिना, प्रायः असम्भव सा है। पृथ्वी की पीठ से, उसकी तहों से, और उसके पेट में भरे हुए अनन्त पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाली बातों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भूगर्भशास्त्र का अभ्यास करनेवालों को वर्ष के वर्ष बिताने पड़ते हैं। पृथ्वी की पीठ से जिन बातों का सम्बन्ध है वही थोड़ी नहीं; पेट से सम्बन्ध रखनेवाली बातें तो और भी अधिक हैं। पदार्थ-विज्ञानशास्त्र को देखिए। ध्वनि, उष्णता, प्रकाश, बिजली इत्यादि इस शास्त्र के प्रधान अङ्ग हैं। इनमें सीखने लायक़ इतनी बातें हैं, कि उनकी असंख्येयता का ख़याल करके उसे सीखने की इच्छा रखनेवालों का कलेजा धड़क उठता है। और जब हम इन्द्रिय-विशिष्ट-विज्ञान की तरफ़ ध्यान देते हैं तब हमें वहाँ स्मरण-शक्ति की और भी अधिक ज़रूरत देख पड़ती है। अकेले मानव-शरीर-शास्त्रही में हड्डियों, रगों और पट्ठों की संख्या इतनी अधिक है कि उन सबको अच्छी तरह याद रखने के लिए सीखनेवालों को छः छः सात सात दफ़े उनके नाम रटने पड़ते हैं। बनस्पति-विद्या के जाननेवालों ने बनस्पतियों के जो भेद किये हैं उनकी संख्या तीन लाख बीस हज़ार तक पहुँची है, और प्राणि-शास्त्र के ज्ञाताओं को प्राणियों की जिन तरह तरह की सूरतों से काम पड़ता है उनकी संख्या कोई बीस लाख है। विज्ञान-वेत्ताओं के सामने याद रखने और समझने लायक़ इतना बड़ा ख़ज़ाना पड़ा हुआ है कि उन्हें इन बातों के जानने के लिए अपनी मेहनत को अनेक भागों और उन भागों के अनेक विभागों में बाँटना पड़ता है। बिना इसके उनका कामही नहीं चल सकता। एक एक शाखा प्रशाखा का अलग अलग अभ्यास करने के लिए उन्हें विवश होना पड़ता है। हर आदमी किसी विशेष शाखा या प्रशाखा का पूरे तौर पर अभ्यास करके उससे सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी शाखा

प्रशाखाओं का साधारण तौर पर सिर्फ़ थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त कर लेता है; और बहुत हुआ तो और और शाखा-प्रशाखाओं की भी मोटी मोटी बातें जान लेता है। शास्त्रज्ञान की आज कल ऐसी ही व्यवस्था है। अतएव इसमें सन्देह नहीं कि यदि वैज्ञानिक विषयों की, काम निकाल लेनेही भर के लिए, बहुतही परिमित शिक्षा प्राप्त की जाय तो भी स्मरणशक्ति को बढ़ाने के लिए काफ़ी सामग्री विद्यमान है। और कुछ नहीं तो कमसे कम इतना तो ज़रूरही है कि विज्ञान की शिक्षा से स्मरण-शक्ति उतनी ही बढ़ सकती है जितनी कि भाषा की शिक्षा से।

७०—वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा से स्मरण-शक्ति भी बढ़ती है और बुद्धि भी बढ़ती है।

अब इस बात का विचार कीजिए कि सिर्फ़ स्मरण-शक्ति को बढ़ाने के लिए यदि भाषा-शिक्षा का उतना ही उपयोग हो जितना कि विज्ञान-शिक्षा का, उनसे अधिक नहीं, तो भी यह मानना पड़ेगा कि वैज्ञानिक विषयों के अभ्यास से स्मरण-शक्ति की जो वृद्धि होती है उसमें एक प्रकार की विशेषता है। इस विशेषता के कारण वह वृद्धि भाषाओं के अभ्यास से प्राप्त हुई वृद्धि की अपेक्षा अधिक महत्त्व की है। भाषा सीखने में जो बातें याद करनी पड़ती हैं उनका सम्बन्ध संसार की जिन घटनाओं से होता है वे बहुत करके आकस्मिक होती हैं। उनके सम्बन्ध को लोग वैसा मान लेते हैं। यह नहीं कि इस तरह का सम्बन्ध निश्चित रूप से होता ही है। परन्तु वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा प्राप्त करने में जिन बातों या जिन कल्पनाओं का सम्बन्ध ध्यान में रखना पड़ता है वह सम्बन्ध सांसारिक घटनाओं और सांसारिक वस्तुओं से निश्चित होता है। वैज्ञानिक बातों का जो सम्बन्ध सांसारिक वस्तुओं से होता है वह बहुधा ज़रूरी होता है, नित्य होता है, नियमित होता है। वह आकस्मिक या अनिश्चित नहीं होता; उसमें कार्य्य-कारण-भाव का लगाव भी रहता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शब्द और अर्थ में एक प्रकार का स्वाभाविक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध-सूत्र की खोज यदि जड़ तक नहीं, तो बहुत दूर तक, ज़रूर हो सकती है। यह खोज कुछ

और विवेचना से उसे कोई काम नहीं लेना पड़ता। उसके मन की प्रवृत्ति कुछ ऐसी हो जाती है कि जो कुछ उससे कहा जाता है उसे वह चुपचाप मान लेता है। इसका यह नतीजा होता है कि जो बातें परम्परा से चली आई हैं उनको बिना विचार या विवेचना के ही वह प्रामाण्य मान बैठता है। उस की तबीयत का झुकाव ही कुछ ऐसा हो जाता है कि इस तरह की बातों के सत्यासत्य-निर्णय की वह परवा ही नहीं करता। पर विज्ञान-शिक्षा का फल इससे बिलकुल उलटा होता है। विज्ञान के अभ्यास से मन का झुकाव और ही तरह का हो जाता है। विज्ञान सीखने में बहुत सी बातों का विचार आदमी को ख़ुद ही करना पड़ता है—उसे अपनी ही बुद्धि से बहुत कुछ काम लेना पड़ता है। शास्त्रीय बातों की सत्यता किसी के वाक्य पर अवलम्बित नहीं रहती। किसी के कह देने ही से शास्त्रीय बातें सच नहीं मान ली जातीं। उनकी परीक्षा—उनकी जाँच—का सबको अख़तियार है। सब को इस बात की स्वतन्त्रता है कि वे उन बातों की यथेच्छ जाँच कर लें। यहाँ तक कि अनेक विषयों में विद्यार्थी को ख़ुद ही विचार करके सिद्धान्त निकालने पड़ते हैं। वैज्ञानिक विषयों के विचार में विद्यार्थी को हर घड़ी अपनी विचार-शक्ति का उपयोग करना पड़ता है। उससे यह कभी कोई नहीं कहता कि बिना प्रत्यक्ष अनुभव के वह किसी बात को सच मान ले। अपने अनुभव से वह जो सिद्धान्त निकालता है उसकी सत्यता का प्रमाण जब उसे सृष्टिक्रम में मिल जाता है तब अपनी मानसिक विचार-शक्ति पर उसे और भी अधिक भरोसा हो जाता है। अपनी की हुई विवेचना के नतीजों पर तब उसका विश्वास और भी दृढ़ हो जाता है। ये सब बातें उस विचार-स्वातन्त्र्य का अंकुर हैं जो सदाचरण के लिए बहुत ही लाभदायक हैं। इस तरह का विश्वास प्रति दिन बढ़ते रहने से मनुष्य की स्वतन्त्रता भी बढ़ जाती है। और यह विचार-स्वतन्त्रता बहुत ही अच्छी चीज़ है। यह न समझना चाहिए कि विज्ञान के अभ्यास से सिर्फ़ इतना ही बुद्धि-विषयक लाभ होता है। अपनी ही बुद्धि के भरोसे यदि विज्ञान की शिक्षा हमेशा प्राप्त की जाय, और सब बातों की असलियत की खोज में बुद्धि का प्रयोग किया जाय—और ऐसा ही होना भी चाहिए—तो धैर्य, एकनिष्ठा

और सत्य-प्रीति भी बढ़ जाय। अर्वाचीन विद्वान्, अध्यापक टिंडल, व्यक्ति-परीक्षा-पूर्वक खोज के विषय में कहते हैं:—"इसमें धैर्य्य से काम करना चाहिए। इस तरह की खोज में जल्दी करना उचित नहीं। बहुत धीरज के साथ मेहनत करनी चाहिए। सृष्टि में जो कुछ देख पड़े उसे अधीनता और एकनिष्ठा से आदर-पूर्वक मानना चाहिए। इस विषय में कामयाबी की पहली शर्त यह है कि जो बातें पहले से अपने दिमाग़ में भरी हुई हैं वे यदि सत्य की विरोधी हैं तो, फिर चाहे वे कितनी ही प्रिय क्यों न हों, उन्हें छोड़ने और नई नई सच्ची बातों को स्वीकार करने के लिए जी जान से तैयार रहना चाहिए। जिसे किसी बात का आग्रह नहीं है—जो अपने पूर्व-स्वीकृत मत छोड़ने को तैयार है—उसके मन को बहुत उदार समझना चाहिए। विश्वास कीजिए, ऐसी उदारता दुनिया में बहुत कम पाई जाती है। पर विज्ञान के सच्चे सेवक के तजरिबों में इस तरह की उदारता बहुधा देखी जाती है"।

७३—वैज्ञानिक शिक्षा से धर्म्म पर अधिक श्रद्धा हो जाती है।

अख़ीर में हमें एक बात और कहनी है। इसे कह कर हम इस प्रकरण को पूरा करेंगे। वह ऐसी बात है कि इसे सुन कर सुननेवालों को अत्यन्त आश्चर्य्य होगा। साधारण विद्याभ्यास की अपेक्षा वैज्ञानिक शिक्षा को जो हम इतना महत्त्व देते हैं—उसे जो हम इतना उपयोगी समझते हैं—उनका एक कारण और भी है। वह यह कि वैज्ञानिक विषयों के अभ्यास से धार्म्मिक शिक्षा भी मिलती है। उससे लोगों की श्रद्धा धर्म्म पर अधिक हो जाती है। कहिए, यह आश्चर्य्य की बात है या नहीं? बेशक, हम, यहां पर, "वैज्ञानिक" और "धार्म्मिक" शब्दों का प्रयोग उस परिमित और संकुचित अर्थ में नहीं करते जिसमें कि सब लोग, मामूली तौर पर, प्रति दिन करते हैं। हम इन शब्दों का प्रयोग, यहां पर, बहुत उदात्त और व्यापक अर्थ में करते हैं। धर्म्म के नाम से जो अन्ध-परम्परायें फैली हुई हैं उनमें और विज्ञान में ज़रूर परस्पर विरोध है। विज्ञान-शास्त्र उनका ज़रूर दुश्मन है। परन्तु धर्म्म के जो सच्चे तत्त्व इन अन्ध-परम्पराओं में छिपे रहते हैं उनका

विज्ञान पढ़ने से धर्म्म-हानि नहीं होती; उसके न पढ़ने ही से होती है। जो प्राकृतिक पदार्थ—जो सृष्टिवैचित्र्य—हमें, अपने हर तरफ़, देख पड़ते हैं उनको अच्छी तरह न देखने और उनके विषय में अच्छी तरह विचार न करने ही से धर्म्म का नाश हो रहा है। एक सीधा सादा उदाहरण लीजिए। कल्पना कीजिए कि किसी ग्रन्थकार की प्रति दिन प्रशंसा हो रही है; उस-की स्तुति से आकाश-पाताल एक किया जा रहा है। कल्पना कीजिए कि जो स्तुतिपाठ उसका हो रहा है उसमें सिर्फ़ उसकी बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता और रचना-सौरस्य ही का वर्णन है। कल्पना कीजिए कि उसकी किताबों की तारीफ़ों का पुल बांधने वालों ने सिर्फ़ उनके बाहरी रूप-रङ्ग को देख कर ही यह आडम्बर रचा है; उन किताबों में लिखी हुई बातों को समझने की कोशिश तो दूर रही, कभी उनको खोल कर देखा भी नहीं। इस दशा में, आपही कहिए, ऐसे आदमियों की की हुई स्तुति का मोल कितना होगा? उनकी सचाई के विषय में हमारा कैसा ख़याल होगा? तथापि यदि छोटी छोटी चीज़ों का मुकाबला बड़ी बड़ी चीज़ों से किया जाय तो मालूम होगा कि इस विस्तृत विश्व और उसके आदि-कारण (परमेश्वर) के विषय में, आदमियों की प्रवृत्ति, आम तौर पर, ठीक इसी तरह की है। इसी तरह की नहीं, किन्तु इससे भी बदतर है। यही नहीं कि आदमी, बिना देखे भाले, उन चीज़ों के पास से होकर निकल जाते हैं जिनको वे प्रति दिन अद्भुत अद्भुत चमत्कारों से भरी हुई बतलाते हैं; किन्तु जो लोग उन चीज़ों को ध्यान-पूर्वक देखते हैं उनका लोग उपहास करते हैं और यह तक कहने से नहीं चूकते कि उनके अवलोकन में इन लोगों का जो समय खर्च होता है वह व्यर्थ जाता है। और तो क्या, सृष्टि-सम्बन्धी चमत्कारिक बातों का दिल लगा कर अध्ययन करनेवालों का आदमी धिक्कार तक करते हैं—उनको भला बुरा तक कहने नहीं सकुचते। अतएव हम इस बात को दुबारा कहते हैं कि विज्ञान के अध्ययन से नहीं, किन्तु अनध्ययन से, धर्म्म-हानि होती है। विज्ञान-विद्या का आदर करना—शास्त्र का अध्ययन करना—मानों उस ज्ञानात्मक परमेश्वर की चुपचाप पूजा करना है। सृष्ट पदार्थों के माहात्म्य का ज्ञान होने से उन पदार्थों के आदि-कारण (जगदीश्वर) के

विषय में विज्ञान-वेत्ताओं के मन में पूज्यभाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। इस तरह की पूजा सिर्फ़ मुख-पाठ नहीं—सिर्फ़ मुँह से किया गया स्तुति पाठ नहीं—किन्तु प्रत्यक्ष कार्यों के रूप में परमेश्वर की उपासना है। यह सिर्फ़ मुँह से स्वीकार की गई दाम्भिक भक्ति नहीं, किन्तु यह सच्ची मौन-रूपी यज्ञ है जिसमें आदमी को समय, श्रम और विचारों की आहुति देनी पड़ती है। अर्थात् विश्वरूप परमात्मा को प्रसन्न करने का यह वह महायज्ञ है जिसमें बहुमूल्य समय, श्रम और विचार की दक्षिणा लगती है।

७।—विज्ञान-विद्या से विश्वजात वस्तुओं की कार्य्य-कारण-सम्बन्धिनी एकरूपता में पूज्यबुद्धि उत्पन्न होती है और उन वस्तुओं से सम्बन्ध रखनेवाले प्राकृतिक नियम समझ में आने लगते हैं।

सिर्फ़ इसी कारण से हम सब विज्ञान को धर्मप्रवर्तक नहीं मानते। वह इस कारण से भी धार्मिक प्रवृत्ति को बढ़ाता है कि संसार के सब पदार्थों की स्थिति और कार्य्य-कारण-शक्ति में जो एक प्रकार की एकरूपता देख पड़ती है उसके विषय में वह पूज्य बुद्धि पैदा करता है, और इस से आदमी के विश्वास को बढ़ाता है। विज्ञान के अभ्यास से प्राप्त हुए [illegible] की [illegible] सृष्टि की अपरिवर्तनीय बातों पर—सृष्टि के [illegible] नियमों पर—आदमी का विश्वास दृढ़ हो जाता है। कार्य्य-कारण का नित्य सम्बन्ध समझ में आने लगता है, और शुभाशुभ कर्मों के फल-भोग की आवश्यकता का ज्ञान भी हो जाता है। इस लोक में किये गए कर्मों के शुभाशुभ फलों के विषय में [illegible] अभ्यास से प्राप्त हुई कल्पना के अनुसार [illegible] के [illegible] हो बैठते हैं। [illegible] इस बात की [illegible] प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करके भी वे दण्ड से बच [illegible] है कि विश्व [illegible] का [illegible] हो [illegible] [illegible]। अर्थात् दुःख को किसी न किसी तरह निवारण करके वे सुख [illegible]। यह उनका भ्रम है। विज्ञान-वेत्ता इस तरह के भ्रम में [illegible]

पड़ते। वे जानते हैं कि संसार में जो कुछ है उसकी स्थिति ही ऐसी है कि उसके शुभाशुभ फलों से आदमी नहीं बच सकता । वस्तु-स्थिति के अनुसार जो जैसा कर्म्म करता है उसे वैसा फल भोगना पड़ता है। इन बातों को शास्त्रज्ञ मनुष्य ब्रह्मवाक्य समझता है। उसे इस बात पर पूरा विश्वास होता है कि सांसारिक नियम भंग करने से होनेवाले अशुभ फलों से आदमी हरगिज़ नहीं बच सकता। तत्त्वज्ञानी यह अच्छी तरह समझता है कि जिन प्राकृतिक नियमों का पालन करना मनुष्य का धर्म्म है वे कठोर भी हैं और सुखद भी हैं। उसको विश्वास है कि उन नियमों का पालन करने से—उनको प्रमाण मान कर तदनुसार व्यवहार करने से—सब बातें सुधरती चली जाती हैं और प्रति दिन अधिकाधिक सुख का कारण होती हैं। प्राकृतिक नियमों के परिपालन से हर वस्तु की स्थिति सुधर जाती है और सुख की वृद्धि होती है। इस मर्म्म को जितना विज्ञान-वेत्ता समझ सकता है उतना और कोई नहीं। इसीसे वह इन नियमों का दृढ़ता के साथ पालन करता है। और यदि उनके पालन में बेपरवाही देख पड़ती है तो उसे क्रोध आता है। वह हमेशा इस बात का प्रतिपादन करता है कि संसार में प्रत्येक वस्तु के नियामक ऐसे शाश्वत और अनुल्लंघनीय नियम हैं जिनका पालन बहुत ज़रूरी है। इस प्रकार वह अपने को सच्चा धार्म्मिक सिद्ध करता है।

७६—विज्ञान इस बात को साबित करता है कि जगत के आदि-कारण (परमेश्वर) का ज्ञान होना मानवी बुद्धि के लिए असम्भव है।

विज्ञान में एक और भी धर्म्म-तत्त्व है। उसे भी हम, यहाँ पर, दिखलाते हैं। इस अन्तिम तत्त्व का ज़िक्र करके हम इस प्रकरण को पूरा करेंगे। विज्ञान ही की बदौलत हमको अपने आपका ज्ञान हो सकता है। अर्थात् आत्मज्ञान-प्राप्ति के लिए विज्ञान ही सबसे श्रेष्ठ मार्ग है। जीवन के अतर्क्य अस्तित्व से हम लोगों का जो सम्बन्ध है उसकी कल्पना भी हमें विज्ञान ही की बदौलत हो सकती है। जगत् में जो कुछ ज्ञेय है, उसमें जितनी बातें जानने योग्य हैं, उनका ज्ञान होना विज्ञान ही की सहायता से सम्भव है।

हुआ तो कुछ भी न हुआ। इसका बीज इस बात का ज्ञान है कि जिस उम्र में जो काम बच्चा पसन्द करता है उसी की शिक्षा से उसे लाभ पहुँचता है। अर्थात् उम्र के अनुसार जिन विषयों के सीखने में बच्चों का मन लगता है उन्हीं को सिखाने से बच्चों को लाभ पहुँचता है और उन्हीं से उनकी बुद्धि बढ़ती है। और, इसका उलटा बर्ताव करने से फल भी उलटा होता है। जो बातें बच्चों को नहीं अच्छी लगतीं उन्हें ज़बरदस्ती सिखलाने से कभी लाभ नहीं होता। अब यह राय लोगों में फैलती जाती है कि किसी शिक्षा के पाने की अभिलाषा प्रकट करना इस बात का सबूत है कि बच्चे की बुद्धि उसे प्राप्त करने के योग्य हो गई है और बुद्धि की वृद्धि के लिए उस शिक्षा की उसे ज़रूरत है। इसके विपरीत यदि किसी शिक्षा-सम्पादन में बच्चे का मन नहीं लगता तो जानना चाहिए कि उसे प्राप्त करने की योग्यता उसमें नहीं आई, या जिस रीति से वह शिक्षा दी जाती है वह रीति ही ठीक नहीं है। इसीसे लोग इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि जो शिक्षा बचपन में दी जाय वह मनोरञ्जक होनी चाहिए, जिसमें ख़ुशी ख़ुशी बच्चे उसे सीख लें। यही नहीं, किन्तु जितनी शिक्षा है सब ऐसी होनी चाहिए कि उसमें मन लगे। यही कारण है जो खेल-कूद के लाभों पर व्याख्यान दिये जाते हैं। बचपन में लड़कों को जो तरह तरह के क़िस्से, कहानियाँ और पहेलियाँ इत्यादि सुनाई जाती हैं उनका भी मतलब यही है। इस तरह बच्चों की तबीयत का ख़याल रख कर प्रति दिन नई नई शिक्षा की रीतियाँ निकाली जा रही हैं। हम बराबर इस बात की पूछ पाछ किया करते हैं कि बच्चा इस विषय की शिक्षा पसन्द करता है या नहीं, इस विषय को पसन्द करता है या नहीं। अमुक विषय के सीखने में उसका दिल लगता है या नहीं। एच॰ स्पेंसर साहब की राय है कि—"बच्चों को तरह तरह की चीज़ें अच्छी लगती हैं। उनकी इस आदत को रोकना न चाहिए। नाना प्रकार की बातें सीखने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति बच्चों में होती है उसे बढ़ाना चाहिए। यह इस तरह करना चाहिए कि उनकी इच्छा भी पूरी हो जाय और उनकी बुद्धि भी विकसित होती जाय। अर्थात् खेल-कूद के साथ साथ उन्हें शिक्षा भी मिलती जाय"। इसमें शक भी नहीं

है कि—"पढ़ने से बच्चों का दिल उचटने के पहले ही पाठ याद कराना बन्द कर देना चाहिए"। बच्चों के बड़े होने पर इसी तरह शिक्षा देनी चाहिए। मदरसे में शिक्षा के लिए जितने घण्टे नियत हों उनमें बीच बीच थोड़ी देर के लिए छुट्टी देना, बाहर बागों और खेतों इत्यादि में घुमाने ले जाना, मनोरञ्जक व्याख्यान सुनाना, और सब बच्चों से एकही साथ कविता गवाना—ये और ऐसी ही और भी बहुत सी बातें हैं जिनमें नई रीति से शिक्षा देने के उदाहरण अच्छी तरह देख पड़ते हैं। अब ताड़नवृत्ति मदरसों से इसी तरह लोप हो रही है जिस तरह कि वह मनुष्यों के व्यवहारों से लोप हो रही है। क़ायदे-क़ानून बनाते समय अब सिर्फ़ यह बात देखी जाती है कि प्रजा को उससे सुख होगा या नहीं। नये क़ानून बनाने की ज़रूरत भी इसी कसौटी पर कस कर मालूम की जाती है। सरकार की यह प्रवृत्ति अब प्रति दिन बढ़ती जा रही है। इसी तरह अब घर में और मदरसे में भी बच्चों के सुख का ही ख़याल रखकर शिक्षा देने का क्रम निश्चित किया जाता है। किस बात को बच्चे पसन्द करेंगे? किस बात से उनको आनन्द मिलेगा? इसका विचार करके अब उन्हें शिक्षा दी जाने लगी है। ये जो परिवर्तन हो रहे हैं उनमें विशेषता क्या है? उनका झुकाव किस तरफ़ है? विचार करने से क्या यह बात साफ़ नहीं मालूम होती कि सृष्टिक्रम के अनुसार बर्ताव करने ही की तरफ़ अब लोगों की प्रवृत्ति बढ़ रही है? बचपन ही में बच्चों को जो ज़बरदस्ती शिक्षा देने की रीति थी वह सृष्टिक्रम के विरुद्ध थी। इसलिए लोग अब उस रीति को छोड़ रहे हैं। अब बनाते [illegible] समय अक्षरों और आकृतियों से काम लेने के लिए छोड़ दिया जाता है। अब पाठ कण्ठ करने के लिए लड़के लाचार नहीं किये जाते। अब जो कुछ उन्हें सिखलाना होता है वह मुँह से बतलाकर और चीज़ों का प्रत्यक्ष दिखला कर सिखलाया जाता है। खेती के कारख़ाने और [illegible] प्रदर्शनियाँ वग़ैरह, इस बात के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। नियमों के अनुसार [illegible] शिक्षा देने का सिलसिला उठ गया है। अब बच्चों के [illegible] को शिक्षा दी जाती है। जिन बातों से जो प्रवृत्ति दिखलाते हैं [illegible] उन्हें सिखलाने [illegible] । और [illegible]

दिखला कर फिर उनसे सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्त बतलाये जाते हैं। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पदार्थों की आकृतियां दिखला कर जो शिक्षा दी जाती है वह इस बात का उदाहरण है। विज्ञान-शास्त्रों के मूल सिद्धान्त पहले ही शब्द द्वारा न बतला कर उनसे सम्बन्ध रखनेवाली चीज़ें दिखला कर धीरे धीरे उन्हें बतलाने की जो रीति अब चल पड़ी है वह भी इस बात का उदाहरण है। और, इन सबसे बढ़ कर उदाहरण मनुष्यों के मन की वह प्रवृत्ति है जिसके वशीभूत होकर वे जुदा जुदा तरीकों से सब विषयों को इस तरह सिखलाते हैं जिसमें उनके सीखने में बच्चों का मन लगे और आराम से वे सब बातें सीख लें। इन सब बातों का विचार करने से हमारे निश्चित किये हुए सिद्धान्त की सत्यता के विषय में किसी को भी सन्देह न होगा। प्रकृति का यह नियम है कि आवश्यक काम करने से प्राणियों को जो एक प्रकार का आनन्द होता है—एक प्रकार का समाधान मिलता है—उसीके ख़याल से सब प्राणी वह काम करने के लिए उत्साहित होते हैं। बच्चों का भी यही हाल है। उनके भी काम इसी प्राकृतिक नियम के अनुसार होते हैं। बचपन में लड़के जब प्राकृतिक नियमों से उत्साहित होकर सब बातें आपही आप सीखने की कोशिश करते हैं तब मनकों या मूँगों को दांत से काटने और खिलौनों को तोड़ कर टुकड़े टुकड़े करने में उन्हें मज़ा आता है। इसीसे वे ऐसा करते हैं और इसीसे पदार्थों के गुण-धर्म्म का ज्ञान उन्हें सहज ही हो जाता है। प्रकृति उन्हें सिखलाती है कि खिलौनों और मनकों को तोड़ फोड़ कर तुम पदार्थों के गुण-धर्म्म का ज्ञान प्राप्त करो। इससे यह साफ़ मालूम होता है कि इस समय सब लोग जो बच्चों के सीखने के विषय और उनके सिखलाने की रीति को यथा-सम्भव मनोरञ्जक बनाने का प्रयत्न करते हैं वह प्रकृति या परमेश्वर के उद्देश और जीवन-शास्त्र के नियमों का अनुसरण मात्र है। और कुछ नहीं।

१२—शिक्षा का क्रम और तरीक़ा मानसिक शक्तियों की वृद्धि के अनुसार होना चाहिए।

अब हम उस राजमार्ग पर आ गये हैं जिस पर चलकर हम पेस्ट-

लोज़ी के निकाले हुए सिद्धान्त तक पहुँच सकते हैं। स्विट्ज़रलैंड में इस नाम का एक विद्वान् हो गया है। उसने शिक्षा का जो एक नया तरीक़ा निकाला है उसे निकले बहुत दिन हुए। उसका मत है कि शिक्षा का क्रम और तरीक़ा, दोनों बातें, उसी हिसाब से होनी चाहिए जिस हिसाब से मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ बढ़ती हैं। मन से सम्बन्ध रखनेवाली शक्तियों की बढ़ती प्राकृतिक विषयों के अनुसार होती है। जो कुछ सुधार उनमें होता है सब नियमानुसार होता है। जिस समय उनकी बाढ़ के दिन होते हैं उस समय प्रत्येक शक्ति के लिए एक विशेष प्रकार के ज्ञान की—एक विशेष प्रकार की शिक्षा की—ज़रूरत होती है। अतएव जिन नियमों के अनुसार मानसिक शक्तियाँ सुधरती हैं और जिस तरह की शिक्षा उन्हें दरकार होती है उसका पता लगाना हमारा काम है। इसी सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा देने की तरफ़ आजकल लोगों के मन का झुकाव हो रहा है। शिक्षा-सम्बन्धी जिन सुधारों का वर्णन ऊपर किया गया वे इस व्यापक सिद्धान्त के कुछ अंश के अनुसार व्यवहार किये जानेही का फल है। अध्यापकों को अब इस सिद्धान्त का ज्ञान हो चला है; और शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकों में इस पर प्रति दिन अधिक ज़ोर भी दिया जाने लगा है। एम० मार्सेल साहब का मत है कि—"सृष्टि का क्रम शिक्षा के क्रमों का बीज है। जितने तरीक़े हैं सबका असली नमूना सृष्टि, अर्थात् प्रकृति, का तरीक़ा है"। वाइस साहब कहते हैं—"बच्चों को आप ही आप ज्ञान प्राप्त करने के योग्य बना देना ही शिक्षा का सबसे अच्छा तरीक़ा है। सर्वोत्तम रीति वही है जिससे बच्चे इस लायक़ हो जायँ कि वे ख़ुद ही अपने आप को ठीक ठीक शिक्षा दे सकें"। वैज्ञानिक विषयों के अभ्यास से जैसे जैसे हमें पदार्थों के गुण-धर्म्म और उनकी घटना और स्थिति आदि का ज्ञान होता जाता है वैसेही वैसे उनकी व्यवस्था, प्राकृतिक सत्ता, अथवा स्थितिकी क्रमत्व, असली भाव हमें दिखाई देता जाता है। वैज्ञानिक विषयों का विशेष अभ्यास करने से अब हम इस बात को समझने लगे हैं कि प्रकृति का जीवन-क्रम जैसा चल रहा है वैसाही चलने देना चाहिए। उसका प्रतिबन्ध करना, या उसमें किसी तरह का विघ्न डालना, अच्छा नहीं।

आज कल जिस तरह बीमारों की चिकित्सा होती है उसीको देखिए। अब पहले की तरह आसुरी उपचार नहीं किये जाते। अब उनके बदले सौम्य रीति की चिकित्सा की जाती है। दवा-पानी में कठोरता का बर्ताव अब नहीं होता। यहाँ तक कि बहुधा दवा-पानी की ज़रूरत ही नहीं समझी जाती। बीमार को पथ्यपूर्वक रखना ही लोग बस समझते हैं और खाने-पीने का विचार रखने से बहुधा दवा देने की ज़रूरत पड़ती भी नहीं। यह जीवन-क्रम में विघ्न न डालने ही का फल है। अब हम लोगों को यह बात मालूम हो गई है कि जिस तरह उत्तरी अमेरिका के दुधपिये बच्चों के अंग पट्टियाँ बाँध बाँध कर सुडौल किये जाते हैं उस तरह हमें अपने बच्चों को एक विशेष प्रकार के आकार का बनाने के लिए उनके बदन पर पट्टियाँ बाँधने या और किसी तरह साँचे में ढालने की ज़रूरत नहीं है। अब हमें यह बात भी मालूम हो गई है कि जेलखानों में क़ैदियों का सुधार करने के लिए बुद्धिमानी से भरी हुई चाहे जितनी तरकीबें निकाली जावें, पर वे उतनी कारगर नहीं होतीं जितनी कि अपनी उदर-पूर्ति के लिए खुद अपने हाथ से मेहनत करने की स्वाभाविक तरकीब कारगर होती है। शिक्षा का भी यही हाल है। उसके सम्बन्ध में भी अब हमें इस बात का तजरिबा हो रहा है कि बुद्धि के विकास के साथ ही साथ यदि उसके अनुरूप शिक्षा दी जायगी तभी वह फलदायक होगी। मनुष्य मात्र की बुद्धि, क्रम के हिसाब से विकास पाया करती है—उसकी वृद्धि हुआ करती है। अतएव इस बुद्धि-विकास को ध्यान में रख कर जिस तरह की शिक्षा क्रमानुकूल हो उसी तरह की शिक्षा यदि दी जायगी तभी उससे यथेष्ट लाभ होगा। अन्यथा नहीं।

१३—इस सिद्धान्त के अनुसार मदरसों में थोड़ी बहुत शिक्षा दी भी जाती है। यह सिद्धान्त बिलकुल ही त्याज्य नहीं माना गया

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह सिद्धान्त निर्विवाद है। इस सिद्धान्त का मतलब यह है कि जैसे जैसे बच्चे की बुद्धि बढ़ती जाय और विकास-

ग्रहण करने में उनकी मानसिक शक्तियों का सामर्थ्य जैसे जैसे अधिक होता जाय वैसे ही वैसे उनकी ग्रहण-शक्ति और बुद्धि-विकास के अनुसार उन्हें यथाक्रम शिक्षणीय विषय सिखलाये जायँ। बच्चों की शिक्षा में विषयों की योजना और उनके सिखाने की तरकीब, इन दोनों बातों का विचार रखना मुनासिब है। यह सिद्धान्त इतना स्पष्ट है कि इसके विषय में और कुछ कहने की ज़रूरत ही नहीं। एक बार बतला देने ही से यह स्वयं सिद्ध सा मालूम होता है। हम यह नहीं कह सकते कि इस सिद्धान्त की अब तक लोगों ने बराबर अवहेलना ही की है। नहीं, इसका समूल तिरस्कार कभी नहीं हुआ। इसके अनुसार शिक्षा दी भी जाती है। अध्यापक लोग भी विवश होकर इस सिद्धान्त के अनुसार थोड़ी बहुत शिक्षा मदरसों में देते ही आये हैं। क्योंकि बिना ऐसा किये उनका काम ही न चल सकता। यदि वे इस सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा न देते तो उन्हें शायद शिक्षा ही बन्द कर देनी पड़ती। ऐसा कभी नहीं हुआ कि जोड़ सीखे बिना लड़कों को त्रैराशिक सिखलाया गया हो। ऐसा भी कभी नहीं हुआ कि कापियों पर बड़े अक्षर लिखने की तरफ़ हुए बिना बच्चों से छोटे अक्षर लिखने का अभ्यास कराया गया हो। रेखागणितविद्या सिखलाने से पहले हमेशा रेखा-गणित की शिक्षा दी गई है। परन्तु पुरानी शिक्षा-पद्धति में एक दोष यह था कि जिन तत्त्वों को लोग सामान्य रीति पर मानते थे उनको वे छोटी छोटी सब विषयों में न मानते थे। अर्थात् वे उन्हें सामान्य रीति पर तो मानते थे; पर विशेष विशेष बातों में न मानते थे। परन्तु यथार्थ बात यह है कि शिक्षा के ये पूर्वोक्त तत्त्व सब कहीं बराबर नियामक हैं। सब कहीं उनकी एक सी सत्ता है। जबसे बच्चा दो चीज़ों के स्थिति-विषयक परस्पर सम्बन्ध को जानने लगता है, अर्थात् उनके पास या दूर होने आदि के सम्बन्ध का ज्ञान उसे हो जाता है, तब से यदि इस बात को अच्छी तरह समझने में कि पृथ्वी जल और थल के मेल से बना हुआ एक गोला है, उस पर जंगल पहाड़, समुद्र, नदियाँ और शहर हैं, और यह अपनी धुरी पर घूमती हुई सूर्य की भी प्रदक्षिणा करती है, कई वर्ष लग जाते हैं, यदि वह एक कल्पना के बाद दूसरी कल्पना तक क्रम क्रम से धीरे धीरे पहुँचता है

और यदि दोष की कल्पनायें, जिनका ज्ञान वह प्राप्त करता है, उत्तरोत्तर अधिक व्यापक और अधिक पेचीदा होती हैं; तो क्या इससे यह बात साफ़ ज़ाहिर नहीं होती कि बच्चे को जो विषय सीखने हैं उन्हें उसे यथाक्रम सीखना चाहिए? अर्थात् जिन विषय को जिस क्रम से उसे सीखना मुनासिब हो उसी क्रम से उसे सीखना चाहिए। हर एक बड़ी बात—हर एक व्यापक बात—बहुत ही छोटी छोटी बातों के मेल से बनती है। अतएव क्या किसी को इसके बतलाने की ज़रूरत है कि इन बहुत सी विशेष विशेष बातों को समझे बिना कोई भी व्यापक बात समझ में नहीं आ सकती? व्यापक बातों के अन्तर्गत जो विशेष विशेष बातें होती हैं उनका ज्ञान हुए बिना बच्चे को बड़ी बड़ी बातें सिखलाना क्या एक बहुत ही बेहूदा रीति नहीं है? इस रीति के अनुसार बच्चों को शिक्षा देना मानों ज़ीने की पहली सीढ़ी पर पैर न रख कर एक दम उन्हें ऊपर की सीढ़ी पर चढ़ा देने की कोशिश करना है; अथवा विचारशृङ्खला के पहले विचार को न सिखलाकर एक दम अन्त के विचार को सिखलाना है। हर विषय का अभ्यास करने में यथाक्रम अधिक अधिक पेचीदा बातों का सामना करना पड़ता है। जैसे जैसे किसी विषय में प्रवेश होता जाता है वैसेही वैसे उसकी कठिनता भी बढ़ती जाती है। अर्थात् उसके सरल अंश से पहले काम पड़ता है और कठिन से पीछे। यह कठिनता क्रम क्रम से विशेष होती जाती है। इन सब अंशों को सीखने के लिए जिन मानसिक शक्तियों की ज़रूरत होती है उनकी तरक्की तभी हो सकती है जब ये सब अंश अच्छी तरह समझ में आ जायँ—जब ये सब बातें पूरे तौर पर ध्यान में चढ़ जावें। इस बात का होना तभी सम्भव है जब ये बातें अपने मूल-क्रम से सिखलाई जायँगी। प्राकृतिक रीति से जो बात जिस नियम से और जिस क्रम से होती है शिक्षा में उसी का अनुसरण करने से कामयाबी होगी, अन्यथा नहीं। यदि इस क्रम की परवा न की जायगी तो फल यह होगा कि शिक्षणीय विषय के सीखने में मन न लगेगा और उससे घृणा हो जायगी। इस तरह की क्रमहीन शिक्षा से जो हानि होती है उसे भविष्यत् में ख़ुद ही पूरा करने के लिए यदि विद्यार्थी में यथेच्छ बुद्धि और सामर्थ्य

नहीं है तो येमन सीखी हुई बातें निर्जीव की तरह उनके दिमाग़ में पड़ी रह जायँगी और उनका शायद ही कभी कोई उपयोग होगा। मतलब यह कि इस तरह शिक्षा प्राप्त करना न करने के बराबर है।

१४—जिन नियमों के अनुसार वनस्पतियों और प्राणियों का शरीर-पोषण होता है उन्हीं के अनुसार मनुष्यों का मानसिक पोषण भी होना चाहिए।

परन्तु यहाँ पर यह बात पूछी जा सकती है कि—"किसी विशेष प्रकार की शिक्षा-पद्धति निश्चित करने के लिए इतना कष्ट उठाने की ज़रूरत ही क्या है? यदि यह बात सच है कि शरीर की तरह मन की उन्नति ऐसे नियमों के अनुसार होती है जो पहलेही से निश्चित हो चुके हैं; यदि वह आपही आप परिपक्व अवस्था को पहुँच जाता है; जिन जिन विशेष बातों के सीखने से मन का पोषण होता है उन्हें यथासमय सीखने के लिए यदि उसे आपही आप इच्छा होती है; और यदि मन में ही ऐसी शक्ति विद्यमान है जो आपही आप यह बतला देती है कि किस समय कौन सी शिक्षा दरकार है—तो फिर लड़कों की शिक्षा में हस्तक्षेप करने की ज़रूरत ही क्या है? बच्चों को शिक्षा देने के विषय में दस्तन्दाज़ी करने की आवश्यकता ही क्या है? क्यों न वे बिलकुल ही प्रकृति के भरोसे छोड़ दिये जावें? क्यों न उनका विद्याभ्यास सृष्टिक्रम ही के अनुसार हो? क्यों न हम लोग इस विषय में चुपचाप रहें और जिस तरह शिक्षा प्राप्त करना लड़कों को अच्छा लगे उसी तरह खुद ही उसे प्राप्त करने के लिए उन्हें अनुमति दे दें? क्यों न सब बातों में हम एक सा बर्ताव करें"? यह प्रश्न बहुत ही बेढंगा है। इसमें सच की अपेक्षा असत्यता ही की मात्रा अधिक है। हमने यहाँ तक इस विषय का जो प्रतिपादन किया उसका मतलब प्रश्नकर्ता ने, जान पड़ता है, यही समझ रक्खा है कि बच्चों की शिक्षा का क्रम बिलकुल ही खुला हुआ छोड़ दिया जाय, उसमें किसी तरह का प्रतिबन्ध ही न रहे। यदि यह बात ऐसी ही हो तो सचमुच यह कहा जा सकता है कि हमने अपने अपनी ही तर्क-प्रणाली से हार मानी। परन्तु बात

तो यह है जो कुछ हमने लिखा है वह यदि अच्छी तरह समझ लिया जाय तो ऐसी निर्मूल शङ्काओं का उत्थान करने की जगह ही न रह जाय। हमारे प्रतिपादन में इस तरह की गड़बड़ होने की ज़रा भी सम्भावना नहीं। प्राकृतिक पदार्थों पर एक दृष्टि डालने ही से हमारे कहने की सचाई साफ़ मालूम हो जायगी । प्राणियों और वनस्पतियों से सम्बन्ध रखनेवाला साधारण नियम यह है कि उनकी भीतरी शारीरिक रचना जितनी ही अधिक पेचीदा होती है उतनी ही अधिक अवधि तक उन्हें अपने पोषण और रक्षण के लिए अपने जन्मस्थान, अर्थात् माँ-बाप, पर अवलम्बित रहना पड़ता है । जिन वनस्पतियों में फूल नहीं होते उनमें एक प्रकार के छोटे छोटे दाने होते हैं । वे स्पोर कहलाते हैं। महीन रेशेदार ऐसे वनस्पतियों के छोटे छोटे दाने बीज का काम देते हैं। ये बीज बहुत जल्द तैयार होते हैं और आप ही आप नीचे गिर कर अपनी जाति के दूसरे वनस्पतियों को पैदा करते हैं। इनको आप ही आप गति प्राप्त हो जाती है। अब जिन पेड़ों मे फूल होते हैं उनको देखिए और इस बात का विचार कीजिए कि उनके फूलों से पैदा होनेवाले बीजों की क्या दशा होती है। उनके बीज धीरे धीरे बढ़ते हैं। वे फूलों के अनेक आच्छादनों के भीतर बन्द रहते हैं। अंकुर निकलने के बाद उनकी वर्द्धमान अवस्था में उनके पोषण के लिए अनेक प्रकार की सामग्री दरकार होती है। इन दोनों प्रकार के बीजों में जो अन्तर होता है उसका विचार करने से यह बात साबित होती है कि हमारे बतलाये हुए नियम का उदाहरण वनस्पतियों में बहुत ही अच्छी तरह से पाया जाता है। प्राणियों में तो इस बात के न्यूनाधिक उदाहरण अत्यन्त सूक्ष्म जीव-जन्तुओं से लगा कर मनुष्यों तक में पाये जाते हैं। मॉनेर नाम के अत्यन्त सूक्ष्म कीड़ों को देखिए। उनके आप ही आप दो टुकड़े हो जाते हैं। पर अलग हो जाने पर भी उनके प्रत्येक टुकड़े में वही सब बातें होती हैं जो पूरे कीड़े में होती हैं। पूरे और आधे कीड़े के सामर्थ्य में कुछ भी अन्तर नहीं होता। प्राणियों में जो सामर्थ्य होना चाहिए वही इन कीड़ों के अकेले एक टुकड़े में भी होता है। अब मनुष्य को देखिए। उसके शिशु को ९ महीने तक गर्भवास करना पड़ता है और पैदा होने पर पोषण के लिए बहुत दिन

शिक्षा

मानसिक, नैतिक और शारीरिक ।

अर्थात्

प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता हर्बर्ट स्पेन्सर के "एजुकेशन" नामक
ग्रन्थ का अनुवाद ।

अनुवादक

महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, प्रयाग ।

१९१६

पुस्तक-सूची

प्रकरण-सूची

विषय-सूची

नम्बर | विषय | पृष्ठ

पहला प्रकरण

(संसार में कौनसी शिक्षा सबसे अधिक उपयोगी है)

नम्बर विषय पृष्ठ

दूसरा प्रकरण

(मानसिक शिक्षा)

तीसरा प्रकरण

(नैतिक शिक्षा)

चौथा प्रकरण

(शारीरिक शिक्षा)

भूमिका।

योरप के तत्त्वज्ञानियों में महा-दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर का स्थान सबसे ऊँचा है। बड़े बड़े विद्वानों तक ने आपको पाश्चात्य दार्शनिकों का शिरोमणि माना है। यह पुस्तक आपही की "एजुकेशन्" (Education) नामक अँगरेज़ी-पुस्तक का हिन्दी-अनुवाद है।

शिक्षा की जैसी विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण मीमांसा इस पुस्तक में स्पेन्सर ने की है वैसी आज तक और किसी ने नहीं की। शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकों में यह पुस्तक अद्वितीय है। स्पेन्सर की पुस्तकों में से जितना प्रचार इस पुस्तक का हुआ है उतना और किसी का नहीं हुआ। योरप और एशिया की अनेक भाषाओं में इसके अनुवाद हो गये हैं और होते जारहे हैं। अमेरिका में तो इस पुस्तक का बहुत ही अधिक आदर हुआ है। आज तक इसकी लाखों कापियाँ छपकर बिक चुकी हैं और बराबर बिक रही हैं। स्पेन्सर ने इस पुस्तक में ऐसी योग्यता से शिक्षा की मीमांसा की है और ऐसे अखण्डनीय प्रमाणों से अपने कथन को सिद्ध किया है कि उसके सिद्धान्तों को मानने में प्रायः किसी को भी "किन्तु", "परन्तु" करने की जगह नहीं रह गई। स्पेन्सर के सिद्धान्तों के प्रायः सर्वांश को मान्य समझ कर अँगरेज़ों ने अपने देश में अपनी शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन आरम्भ कर दिया है और जैसे जैसे सुभीता होता जाता है वैसे वैसे वे यथासमय बराबर परिवर्तन करते चले जा रहे हैं। इतने ही से इस पुस्तक की योग्यता और उपयोगिता अच्छी तरह समझ में आ सकती है। शिक्षा-प्रचार के सम्बन्ध में इँगलेंड के मुक़ाबले में बेचारा भारतवर्ष कोई चीज़ ही नहीं। इस देश में तो शिक्षा की बड़ी ही हीन दशा है। अतएव हम लोगों के लिए तो स्पेन्सर के शिक्षा-विषयक सिद्धान्तों के जानने और तदनुसार व्यवहार करने की बहुत ही अधिक आवश्यकता है। बालक, युवा और वृद्ध, सब के

लिए, यह पुस्तक एक सी उपयोगी है। स्पेन्सर ने इस बात को सप्रमाण सिद्ध कर दिखाया है कि अपनी सन्तति का जीवन सार्थक करना अथवा उसे आमरण *महादुर्दमनीय आपदाओं में फँसाना सर्वथा माता-पिता के* हाथ में है। इससे यदि औरों के लिए नहीं तो बाल-बच्चेदार मनुष्यों के लिए तो यह परमावश्यक है कि वे स्पेन्सर की मीमांसा को विचारपूर्वक पढ़ें और प्राणों से भी प्यारी अपनी सन्तति की शिक्षा का सुप्रबन्ध करके अपने पितृधर्म का पालन करें। सन्तान के अच्छी तरह पालन, पोषण और शिक्षण की योग्यता न रख कर जो लोग पिता के पद के अधिकारी बनते हैं वे ईश्वर की दृष्टि में अपने को अपराधी बनाते हैं। पुत्र उत्पन्न करके उसकी शिक्षा में अवहेलना करना, और अपनी अयोग्यता अथवा मूर्खता के कारण उसके जीवन को हमेशा के लिए कण्टकमय बनाना, बहुत बड़ा पाप है। इस घोर पातक—इस कर्तव्यहीनता के महा अनर्थकारी परिणाम—से बचने की जिन्हें कुछ भी इच्छा हो उनका यह परम धर्म है कि वे स्पेन्सर साहब की पुस्तक को ध्यान से पढ़ कर अपनी सन्तति के कल्याण का तन, मन, धन से उपाय करें। जो मनुष्य अपनी सन्तति के जीवन को यथाशक्ति सार्थक करने की योग्यता नहीं रखते, अथवा जान बूझ कर उस तरफ ध्यान नहीं देते, उनको पिता बनने का अधिकार नहीं; उनको पुत्रोत्पादन करने का अधिकार नहीं; उनको विवाह करने का अधिकार नहीं। जितने विद्यार्थी मदरसों, स्कूलों और कालेजों में शिक्षा पा रहे हैं वे सब एक न एक दिन पिता के पद पर अवश्य आरूढ़ होंगे। अतएव युवा और अधेड़ ही को नहीं, इन छोटे बड़े सब उम्र के विद्यार्थियों को भी चाहिए कि वे स्पेन्सर साहब की शिक्षा से लाभ उठाने का जी जान से प्रयत्न करें।

स्पेन्सर ने शिक्षा की जो मीमांसा इस पुस्तक में की है उसके किसी किसी अंश का सम्बन्ध पाश्चात्य देशों ही की सामाजिक अवस्था और शिक्षा-प्रणाली के अनुकूल है। उसे अलग को छोड़ कर और सब अंश सब देशों के लिए समान उपयोगी हैं। पुस्तककर्ता ने शिक्षा का जो नमूना इस पुस्तक में दिखलाया है वह सर्वोत्कृष्ट नमूना है। उस कोटि की शिक्षा कैसी

होनी चाहिए, इसका एक सजीव चित्र सा उसने खींच दिया है। हिन्दुस्तान के समान अवनत, परावलम्बी, अकर्म्मण्य और शिक्षा-पराङ्मुख देश के लिए स्पेन्सर के नमूने की शिक्षा का एकदम अनुसरण करना बिलकुल ही असम्भव है। उसके सिद्धान्तों को पढ़ कर तत्काल उनके अनुसार व्यवहार नहीं हो सकता। परन्तु शिक्षा के परमोपयोगी नमूने का ज्ञान लेना हम लोगों के लिए बहुत आवश्यक है। यदि यह बात मालूम हो जायगी कि सबसे अच्छी शिक्षा कैसी होनी चाहिए तो क्रम क्रम से तदनुकूल व्यवहार करने का द्वार तो उन्मुक्त हो जायगा। पथिक को अपने गन्तव्य स्थान की दिशा और उसका मार्ग मालूम हो जाने से उस तक पहुँचने में बहुत सुभीता होता है। जिसे यही नहीं मालूम कि हमें कहाँ और किस मार्ग से जाना है वह, सम्भव है, कभी अपने अभीष्ट स्थान को न पहुँच सके। और यदि पहुँचे भी तो, मार्ग में अनेक कष्ट उठाने के बाद, देर से पहुँचे।

स्पेन्सर में विषय-प्रतिपादन करने की शक्ति बहुत ही अद्भुत थी। जिस विषय की विवेचना उसने आरम्भ की है उसकी पराकाष्ठा कर दी है। जगह जगह पर उसने प्राकृतिक नियमों की दुहाई दी है। जितने नैसर्गिक नियम हैं, सब मानों प्रत्यक्ष परमेश्वर के बनाये हुए क़ानून हैं। उनकी पाबन्दी करना मानों परमेश्वर की आज्ञा पालन करना है। और परमेश्वर की आज्ञायें कभी अनुचित और अनिष्टकारिणी नहीं हो सकतीं। अतएव स्पेन्सर ने यथासम्भव इन्हीं आज्ञाओं का अनुसरण करने की सलाह दी है। प्राकृतिक नियम तोड़ने पर प्राकृतिक ही सज़ा देने, प्राकृतिक मनोविकारों की स्वतन्त्र तृप्ति करने, भूख और प्यास आदि के रूप में प्राकृतिक आकांक्षाओं की पूर्ति करने, जो प्राकृतिक शक्ति जितना काम कर सकती है उससे अधिक काम उससे न लेने, का स्पेन्सर ने बार बार विवेचन किया है। उस के प्रायः सभी सिद्धान्तों का आधार प्राकृतिक नियमों ही पर अवलम्बित है। इसी से उसके उपदेश इतने अर्थपूर्ण हैं; इसी से उसके सिद्धान्त इतने अखण्डनीय हैं। जितने नैसर्गिक व्यापार हैं सब कार्य-कारण-भाव के सिल-सिले हैं। इस बात को स्पेन्सर ने बड़ी ख़ूबी से समझाया है। इस बात के समझ लेने से मनुष्य में दूरदर्शिता और सत्यासत्य-बुद्धि उत्पन्न हुए बिना

नहीं रह सकती। कार्य्य-कारण-भाव का ज्ञान होने से मनुष्य के ध्यान में यह बात भी आ जाती है कि प्रत्येक विषय के सुधार का उसके कार्य्य-कारण से क्या सम्बन्ध है। और इस सम्बन्ध का समझ लेना मानों सुधार के सच्चे तरीक़े को ढूँढ़ निकालना है।

स्पेन्सर की विषय-विवेचना से एक और भी बहुत ही उपयोगी बात की शिक्षा मिलती है। वह यह है कि मनुष्य को प्रत्येक चीज़ परिश्रम करके प्राप्त करना चाहिए और स्वाभाविक शक्तियों का विकास, बिना औरों की मदद के, मनुष्यों को यथासम्भव ख़ुद ही करना चाहिए। स्पेन्सर का यह सिद्धान्त बहुत ही उपयोगी है। यदि इस बात को सब लोग मान लें और परिश्रमपूर्वक सब चीज़ों की प्राप्ति का ख़ुद ही प्रयत्न करें, और ख़ुद ही अपनी ईश्वरदत्त शक्तियों को विकसित करें, तो देश की उन्नति होने में कुछ भी देर न लगे।

बच्चों के मानसिक और नैतिक शिक्षण के विषय में स्पेन्सर के विचार बड़े ही उदात्त और श्रद्धेय हैं। अपने बच्चों के मानसिक और नैतिक शिक्षण के लिए माता-पिता को जिन शास्त्रों, जिन नियमों, या जिन बातों का जानना ज़रूरी है उनको जान कर यदि वे तदनुकूल व्यवहार करने लगें तो कुछ ही दिनों में भावी सन्तति की मानसिक और नैतिक अवस्था उन्नत हो जाय। और, मानसिक तथा नैतिक उन्नति का समाज पर जो असर पड़ता है वह बहुत ही मङ्गलकारक होता है। अतएव इन विषयों में भी स्पेन्सर के सिद्धान्तों का अनुसरण करने से हमारे समाज और हमारे देश के कल्याण की बहुत कुछ आशा है।

व्यापार-धन्धा करके यथेष्ट धन-सम्पादन का जो मार्ग स्पेन्सर ने बतलाया है वह और भी अधिक महत्त्व-पूर्ण है। क्योंकि, इस समय, इस विषय में, हमारे देश की दशा अत्यन्त हीन हो रही है। हम लोगों को पेट भर खाने तक को नहीं मिलता। इस अवस्था में, सामाजिक या राजनैतिक विषयों की उन्नति होना प्रायः असम्भव है। जो भूखा है वह समाज का क्या सुधार करेगा? उससे राजनैतिक विषयों की उन्नति की आशा रखना केवल दुराशा है। इस लिए हम लोगों को उदरपूर्ति के लिए पहले प्रयत्न

करना चाहिए। इस विषय में हमारा एक मात्र त्राता विज्ञान है। वैज्ञानिक शिक्षा को स्पेन्सर ने इसी लिए प्रधानता दी है और सब तरह की शिक्षाओं में इसी को सबसे अधिक उपयोगी बतलाया है। इस शिक्षा की ओर ध्यान देना प्रत्येक भारतवर्षवासी का परम कर्तव्य होना चाहिए।

शारीरिक शिक्षा की दुर्दशा का जो वर्णन स्पेन्सर ने किया है वह बड़ा ही हृदयविदारी है। उसने, इस विषय में, जो कुछ लिखा है उसका सम्बन्ध विलायत से है। इस देश में तो विद्यार्थियों की शारीरिक दुर्दशा का अन्त ही नहीं। उसके खयाल से स्पेन्सर की बतलाई हुई दुर्गतियों को सोच कर पढ़नेवाले को रोमांच होता है। व्यायाम का बहुत कुछ अभाव, अपरिपक्व वय में सोलह सोलह घंटे मानसिक मेहनत करके परीक्षाओं का पास करना, पांच छः वर्ष के होते ही छोटे छोटे बच्चों का मदरसे जाना—शरीरारोग्य का एकदम ही नाश कर डालना है। वर्तमान शिक्षा के भयङ्कर परिणामों को सोच कर बदन थर थर कांपने लगता है। इस निर्दय शिक्षा-प्रणाली की बदौलत कितने ही सुकुमार बालक अकाल ही में मौत के मुँह में चले जाते हैं। जो बच जाते हैं वे जन्मरोगी हो जाते हैं और अपने शारीरिक रोगों और व्यङ्गों से अपनी सन्तति का भी जीवन कण्टकमय बनाने के कारण होते हैं। स्पेन्सर ने इन बातों का बहुत ही भयानक चित्र खींचा है। उसे पढ़ कर हम लोग वर्तमान कठोर शिक्षा-प्रणाली की हानियों से बहुत कुछ बच सकते हैं। यदि यह पुस्तक हमें उस समय पढ़ने को मिलती जिस समय हम विद्यार्थी थे, या उसके बाद जब हमने पहले ही पहल सांसारिक व्यवहारों का जाल अपने गले में डाला था, तो हम अनेक दुस्सह व्याधियों से बच जाते। पाठक, विश्वास कीजिए, हम आपसे सर्वथा सच कह रहे हैं। इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं।

इस पुस्तक का अनुवाद हिन्दी में करने का निश्चय कर चुकने पर जब हमने मूल पुस्तक को ध्यान से पढ़ा तब हमें मालूम हुआ कि पुस्तक बहुत क्लिष्ट है। अतएव उसका अनुवाद हिन्दी में करना सहज काम नहीं। इस पर हमने इस बात की खोज की कि इस देश की और भी किसी भाषा में इसका अनुवाद हुआ है या नहीं। खोज का फल यह हुआ

कि हमें संस्कृत, मराठी और उर्दू, इन तीन भाषाओं में इसके अनुवाद का पता लगा। इसका संस्कृत-अनुवाद किसी मदरासप्रान्त-वासी सज्जन ने किया है। वह बँगलौर से प्रकाशित हुआ था। बहुत सम्भव है माइसोर गवर्नमेंट की मदद से यह अनुवाद प्रकाशित हुआ हो। पर यह अनुवाद हमें न मिल सका। प्रकाशकों ने हमारे पत्र के उत्तर में लिखा कि संस्कृत-अनुवाद की सब कापियाँ बिक गईं। इसका मराठी-अनुवाद श्रीयुत वासुदेव गणेश सहस्रबुद्धे ने किया है और आज तक इसके कई संस्करण छप कर बिक चुके हैं। पूना में "दक्षिणा प्राइज़ कमिटी" नाम की एक सभा है। वह उत्तमोत्तम ग्रन्थों के लेखकों को पुरस्कार देती है। उसकी बदौलत आज तक अनेक उपयोगी पुस्तकें मराठी में प्रकाशित हो चुकी हैं और अब भी प्रकाशित होती जाती हैं। यह मराठी-अनुवाद इस सभा का पसन्द किया हुआ है। सहस्रबुद्धे महाशय को इसके लिए दक्षिणा भी मिली है। इसे उन्होंने कोई डेढ़ वर्ष के परिश्रम से समाप्त किया था। उर्दू-अनुवाद मौलवी ख्वाजह ग़ुलामुलहसनी साहब पानीपती ने किया है। यह अनुवाद "अंजुमने-तरक़्क़ी-उर्दू" के प्रयत्न का फल है। १९०३ में इस अंजुमन ने कुछ किताबों के अनुवाद कराने के लिए एक विज्ञापन दिया और यह लिखा कि जो लोग इन किताबों का अनुवाद करना चाहें वे अपने अपने अनुवाद का नमूना भेजें। इन किताबों में स्पेन्सर की "शिक्षा" का भी नाम था। पाँच आदमियों ने इस पुस्तक के कुछ पृष्ठों का अनुवाद करके अंजुमन के पास भेजा। सब नमूनों की जाँच कई नामी नामी विद्वानों से कराई गई। बहु-सम्मति से ख़्वाजह साहब का अनुवाद सबसे अच्छा ठहरा। अतएव वही प्रकाशित किया गया। स्पेन्सर की इस पुस्तक के सम्बन्ध में अंजुमन ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट में लिखा है:—

> "यह किताब प्रसिद्ध तत्ववेत्ता हर्बर्ट स्पेन्सर की रचना है। इसका नाम "शिक्षा" है। यह किताब इस रुतबे की है कि यदि "अंजुमने-उर्दू" की तरफ़ से सिर्फ़ यही एक किताब तरजुमा होकर प्रकाशित होती तो अंजुमन धन्यवाद की पात्र थी"।

जिस अंजुमन की यह राय है उसके सभासद कितने ही प्रसिद्ध प्रसिद्ध

विद्वान् हैं। अतएव, इस राय को पढ़ कर, पाठक इस पुस्तक की योग्यता और उपयोगिता का अन्दाज़ सहज ही में कर सकेंगे।

मदन्मुले महाशय ने अपने अनुवाद में ख़ूब स्वतन्त्रता से काम लिया है। इस बात को उन्होंने भूमिका में स्वीकार भी किया है। उन्होंने मनमानी काट छांट की है। जो बात आपको इस देश की समाज-व्यवस्था के प्रतिकूल देख पड़ी है उसे तो आपने छोड़ ही दिया है; किन्तु और भी आपने मनमानी छोड़ छाड़ की है। अनेक स्थलों में आपने नया मज़मून भी अपनी तरफ़ से मिलाया है। उदाहरण के लिए, आपके अनुवाद के अन्तिम पृष्ठ पर जो मज़मून है वह बिलकुल ही नया है। विपरीत इसके, ग्याजुद्द साहब ने स्पेन्सर के एक एक शब्द का अनुवाद किया है। कहीं बिन्दु-विसर्ग भी आप से छूटने नहीं पाया। "अंजुमने-तरक्क़ी-उर्दू" की आज्ञा अनुवाद करने की थी, मूल पुस्तक का मतलब लिखने की नहीं। इसी से, आप कहते हैं, आप ने ऐसा किया। इस पर भी आपका अनुवाद बहुत अच्छा हुआ है। शाब्दिक अनुवाद होने पर भी मूल का मतलब समझने में बाधा नहीं आती। बड़े बड़े विद्वानों ने आपके अनुवाद की प्रशंसा की है। यह प्रशंसा सर्वथा यथार्थ है। यदि आप स्वतन्त्रतापूर्वक मूल पुस्तक का मतलब उर्दू में लिखते तो फिर क्या कहना था। ऐसा करने से सोने में सुगन्ध आजाती। अनुवाद और भी उत्तम होता। इस अनुवाद में हमें सिर्फ़ यही एक त्रुटि देख पड़ी कि मूल का भाव कहीं कहीं ठीक नहीं उतरा। उदाहरणार्थ—स्पेन्सर ने चौथे प्रकरण के अन्त में बहुत अधिक मानसिक मेहनत करने के दुःखकारक परिणामों का वर्णन करते हुए लिखा है कि "दिन बाहर परिश्रम के कारण भूख जाती रहती है। थोड़ा भी पैदल चलने से थकावट मालूम होती है। ज़ीने पर चढ़ने से दम फूलने लगता है। दृष्टि अत्यन्त मन्द हो जाती है और दाढ़ मारी जाती है।" इस अंश का अनुवाद करने में ग्याजुद्द साहब ने "[illegible]" का अर्थ किया है—"नज़र पंगाल ग़ुबार नज़र आने"। यह ठीक नहीं मालूम होता। यहाँ पर स्पेन्सर का मतलब सिर्फ़ दृष्टि की कमज़ोरी से जान पड़ता है, बुरे बुरे स्वप्नों से नहीं। "[illegible]" का अर्थ "स्वप्न" भी हो सकता है.

परन्तु वहाँ स्थलों में मतलब नहीं, सिर्फ़ दृष्टि की कमज़ोरी से है। पेंशान ग्याव तो कभी कभी नीरोग आदमियों को भी होते हैं। इसी तरह की और भी त्रुटियाँ इस अनुवाद में हैं। कुछ भी हो, इन दोनों अनुवादों से हमें बहुत सहायता मिली है। अतएव हम अनुवादक महाशयों के हृदय से कृतज्ञ हैं। कोई ६ महीने के सतत परिश्रम से हमारा यह हिन्दी-अनुवाद समाप्त हुआ है।

हमने अपने अनुवाद में मूल की कोई बात नहीं छोड़ी। पर न तो हमने मूल के एक एक शब्द ही का अनुवाद किया है और न अपनी तरफ से कोई बात बढ़ाई ही है। स्पेन्सर के मतलब को हमने अपने शब्दों में लिखने की यथाशक्ति चेष्टा की है। परन्तु उसकी भाषा इतनी जटिल और बहुर्थ-गर्भित है कि उसका मतलब अच्छी तरह समझाने के लिए हमें बहुधा अनुवाद को पल्लवित करना पड़ा है। उसकी एक बात को स्पष्ट करने के लिए कहीं कहीं पर हमे चार बातें कहनी पड़ी है। परन्तु कोई बिलकुल ही नई बात हमने अपनी तरफ से नहीं लिखी। हाँ, जहाँ पर स्पेन्सर ने ग्रीक, लैटिन आदि पुरानी भाषाओं की शिक्षा की अनुपयोगिता दिखलाई है वहाँ हमने "संस्कृत" का भी नाम लिख दिया है। यदि हमने कुछ अधिक लिखा है, तो इतना ही। एक आध जगह पर जहाँ हमे अपनी तरफ से कुछ कहना था वहाँ हमने अपने कथन को पाद-टीका मे लिख दिया है।

पुस्तक के प्रत्येक प्रकरण मे जितने पाराग्राफ़ हैं सबमे हमने नम्बर-वार अङ्क दे दिये हैं और प्रत्येक पाराग्राफ़ का सारांश ऊपर लिख दिया है। यह सारांश प्रत्येक पाराग्राफ़ के मतलब को थोड़े में जान लेने के लिए आईने का काम देता है। उसे पढ लेने से यह झट मालूम हो जाता है कि इस पाराग्राफ का विषय क्या है। पुस्तक के आरम्भ मे प्रकरण-क्रम से सब पाराग्राफों की नम्बरवार एक सूची दे दी गई है और प्रत्येक पाराग्राफ का सारांश भी उसके सामने लिख दिया गया है। इसके सिवा सारी पुस्तक का संक्षिप्त सारांश लिख कर अलग भी लगा दिया गया है। जिसे पूरी पुस्तक का अनुवाद पढ़ने के लिए समय नहीं, वह सिर्फ़ संक्षिप्त सारांश ही पढ़ कर स्पेन्सर के सिद्धान्तो का थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जिसे सारांश भी पढ़ने की फ़ुरसत नहीं वह सिर्फ़ विषय-सूची ही पढ़ कर

यह जान सकता है कि इस पुस्तक में किन किन बातों का वर्णन है । इसके सिवा हर्बर्ट स्पेन्सर का जीवन-चरित और मूल अँगरेज़ी-पुस्तक के प्रकाशक की भूमिका का अनुवाद भी आरम्भ में लगा दिया गया है । कोई पुस्तक पढ़ते समय पढ़ने वाले के मन में पुस्तककर्ता का परिचय प्राप्त करने की इच्छा सहज ही उत्पन्न होती है । इसी लिए स्पेन्सर का संक्षिप्त चरित भी लिख कर इस पुस्तक के साथ प्रकाशित कर देना हमने मुनासिब समझा । मतलब यह कि शक्ति भर पुस्तक को उपयोगी बनाने में कोई कसर नहीं की गई ।

इस अनुवाद में भाषा के सौन्दर्य पर हमने ध्यान नहीं दिया । सीधी सादी भाषा में ही मूल-पुस्तक के मतलब को समझाने का हमने यत्न किया है । कहीं कहीं निरुपाय होकर हमें संस्कृत के कठिन शब्दों का भी प्रयोग करना पड़ा है । पर उर्दू, फ़ारसी आदि भाषाओं के जो शब्द बोल-चाल में आते हैं उनका प्रयोग भर सक करने में हमने त्रुटि भी नहीं की । भाषा चाहे जैसी हो, पुस्तक का मतलब समझ में आजाना चाहिए । मतलब ही मुख्य है । भाषा-सौन्दर्य गौण बात है । अतएव, यदि, इस अनुवाद को पढ़ कर स्पेन्सर का मतलब पाठकों की समझ में आ जाय तो हम इतने ही से अपने को कृतार्थ मानेंगे । स्पेन्सर बहुत बड़ा विद्वान् था । उसकी लेखनी में अद्भुत और आश्चर्य-कारिणी शक्ति थी । उसके विचार अत्यन्त गहन और गम्भीर हैं । जगह जगह पर उसने, इस पुस्तक में, वैज्ञानिक विषयों का विचार किया है । अतएव हमें इस अनुवाद में बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है । इस बात को वही लोग समझ सकेंगे जिनको कभी इस तरह की क्लिष्ट और गम्भीर-विवेचना-पूर्ण पुस्तक के अनुवाद करने का मौका आया होगा । स्पेन्सर के ग्रन्थों का अनुवाद करने की हममें यथेष्ट योग्यता नहीं । तथापि इस परमोपयोगी पुस्तक के अनुवाद से होनेवाले लाभ के ख़याल से हमने जो यह चापल्य किया है, आशा है, उसे विचारशील पाठक क्षमा करेंगे ।

जुही, कानपुर,
८ अक्टूबर, १९०६

महावीरप्रसाद द्विवेदी

मूल अँगरेज़ी पुस्तक "शिक्षा" के प्रकाशक की

भूमिका ।

१८७८ ईसवी में इस पुस्तक का एक सस्ता संस्करण निकाला गया। उसकी भूमिका मे पुस्तककर्त्ता, हर्बर्ट स्पेन्सर कहते हैं:—

"शिक्षा के विषय में यह छोटी सी पुस्तक जो मैंने लिखी है उसके असली संस्करण की मांग बढ़ती देख मेरे मन मे यह कल्पना हुई कि मैं इसका एक सस्ता संस्करण निकालूँ जिससे सब लोगों को इसे मोल लेने मे अधिक सुभीता हो। अमेरिका में इस पुस्तक का बहुत अधिक प्रचार हुआ है और फ़्रांस, जर्मनी, इटली, रूस, हंगारी, हालैंड और डेनमार्क की भाषाओं में इसके अनुवाद हो गये हैं। इन बातों ने मेरे इरादे को और भी पक्का कर दिया और इस बात का विश्वास दिला दिया कि अधिक प्रचार के लिए इंगलैंड में इस पुस्तक के एक सस्ते संस्करण के निकलने की ज़रूरत है।"

"इसके मूल लेख में कोई फेरफार नहीं किये गये। यदि मेरे पास और अधिक ज़रूरी काम न होते तो मैं इस पुस्तक को सावधानी से दुबारा देख जाता। पर विशेष महत्त्व के कामों को रोक कर इसे दुहराना मैंने मुनासिब नहीं समझा"।

अब तक (१९०३ ईसवी तक) यह पुस्तक स्पेन, स्वीडन, बोहेमिया, ग्रीस, जापान, चीन, बलगेरिया और अरब में भी भाषान्तरित हो गई है—इन देशों की भाषाओं में भी इसके अनुवाद छप गये हैं। संस्कृत में भी इसका अनुवाद हो गया है।

इस पुस्तक का और भी अधिक प्रचार करने के लिए, स्पेन्सर साहब की सलाह से, रेशनैलिस्ट प्रेस असोसिएशन अब इसका पहले से भी सस्ता संस्करण प्रकाशित करती है। ऐसा करने से पुस्तक का मूलांश पूर्ववत् अक्षर प्रक्षर वैसा ही रक्खा गया है।

हर्बर्ट स्पेन्सर का जीवन-चरित।

यह संसार प्रकृति और पुरुष का लीला-स्थल है। बिना इन दोनों का संयोग हुए संसार क्या, कुछ भी नहीं बन सकता। संसार में दृष्टादृष्ट जो कुछ है प्रकृति का खेल है; पर उस खेल का दिखाने वाला पुरुष है। प्रकृति का दूसरा नाम पदार्थ है और पुरुष का दूसरा नाम शक्ति। जितने पदार्थ हैं सबमें कोई न कोई शक्ति विद्यमान है। पानी से भाफ, भाफ से मेघ और मेघों से फिर पानी। रुई से सूत, सूत से कपड़े और कपड़ों से फिर रुई। बीज से वृक्ष, वृक्ष से फूल, फूल से फल और फल से फिर बीज। इसी तरह संसार में उलट फेर लगा रहता है और प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त रहने वाली शक्ति-विशेष इसका कारण है। जबसे सृष्टि हुई तबसे प्रकृति-पुरुष का झंझट जो शुरू हुआ सो अब तक बराबर चला जा रहा है। यदि प्रकृति निर्बल और पुरुष प्रबल हो जाता है तो उसे विद्वान् लोग उत्क्रान्ति कहते हैं और उसकी विपरीत घटना को अपक्रान्ति कहते हैं। संसार में जितने व्यापार हैं सब का कारण इस उत्क्रान्ति और अपक्रान्ति ही के आघात-विघात हैं। जिन नियमों—जिन सिद्धान्तों—के अनुसार यह सब होता है उनकी विवेचना करने वालों का नाम तत्त्व-दर्शी है। ऐसे तत्त्व-दर्शियों के शिरोमणि हर्बर्ट स्पेन्सर का संक्षिप्त चरित सुनिए।

इँगलैंड के डर्बी नामक शहर में २७ एप्रिल १८२० को स्पेन्सर का जन्म हुआ। उसका पिता वहाँ एक मदरसे में अध्यापक था और पक्का पादरी था। खर्च अधिक था। स्कूल की नौकरी से जो आमदनी होती थी उससे काम न चलता था। इससे स्पेन्सर का पिता लड़कों के घर जा कर पढ़ाया करता था। इससे अधिक मेहनत पड़ती थी, जिसका फल यह हुआ कि वह बीमार हो गया और मदरसे से उसे इस्तेफ़ा देना पड़ा। जब उसकी तबी-यत कुछ अच्छी हुई तब उसने कलाबत्तू की टोपियाँ तैयार करने का एक कारख़ाना खोला। उससे उसे नुकसान हुआ। जिससे उसको सब अवलम्बन

मूल अँगरेज़ी पुस्तक "शिक्षा" के प्रकाशक की

भूमिका।

१८७८ ईसवी में इस पुस्तक का एक सस्ता संस्करण निकाला गया। उसकी भूमिका में पुस्तककर्ता, हर्बर्ट स्पेन्सर कहते हैं:—

"शिक्षा के विषय में यह छोटी सी पुस्तक जो मैंने लिखी है उसके असली संस्करण की माँग बढ़ती देख मेरे मन में यह कल्पना हुई कि मैं इसका एक सस्ता संस्करण निकालूँ जिससे सब लोगों को इसे मोल लेने में अधिक सुभीता हो। अमेरिका में इस पुस्तक का बहुत अधिक प्रचार हुआ है और फ़्रांस, जर्मनी, इटली, रूस, हँगरी, हालैंड और डेनमार्क की भाषाओं में इसके अनुवाद हो गये हैं। इन बातों ने मेरे इरादे को और भी पक्का कर दिया और इस बात का विश्वास दिला दिया कि अधिक प्रचार के लिए इँगलैंड में इस पुस्तक के एक सस्ते संस्करण के निकलने की ज़रूरत है।"

"इसके मूल लेख में कोई फेरफार नहीं किये गये। यदि मेरे पास और अधिक ज़रूरी काम न होते तो मैं इस पुस्तक को सावधानी से दुबारा देख जाता। पर विशेष महत्त्व के कामों को रोक कर इसे दुहराना मैंने मुनासिब नहीं समझा"।

अब तक (१९०३ ईसवी तक) यह पुस्तक स्पेन, स्वीडन, बोहेमिया, ग्रीस, जापान, चीन, बलगेरिया और अरब में भी भाषान्तरित हो गई है—इन देशों की भाषाओं में भी इसके अनुवाद छप गये हैं। संस्कृत में भी इसका अनुवाद हो गया है।

इस पुस्तक का और भी अधिक प्रचार करने के लिए, स्पेन्सर साहब की सलाह से, रेशनेलिस्ट प्रेस असोसिएशन अब इसका पहले से भी सस्ता संस्करण प्रकाशित करती है। ऐसा करने में पुस्तक का मूलांश पूर्ववत् अक्षर प्रत्यक्षर वैसा ही रक्खा गया है।

हर्बर्ट स्पेन्सर का जीवन-चरित।

यह संसार प्रकृति और पुरुष का लीला-स्थल है। विना इन दोनों का संयोग हुए संसार क्या, कुछ भी नहीं बन सकता। संसार में दृष्टादृष्ट जो कुछ है प्रकृति का खेल है; पर उस खेल का दिखाने वाला पुरुष है। प्रकृति का दूसरा नाम पदार्थ है और पुरुष का दूसरा नाम शक्ति। जितने पदार्थ हैं सबमें कोई न कोई शक्ति विद्यमान है। पानी से भाफ, भाफ से मेघ और मेघों से फिर पानी। रुई से सूत, सूत से कपड़े और कपड़ों से फिर रुई। बीज से वृक्ष, वृक्ष से फूल, फूल से फल और फल से फिर बीज। इसी तरह संसार में उलट फेर लगा रहता है और प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त रहने वाली शक्ति-विशेष इसका कारण है। जबसे सृष्टि हुई तबसे प्रकृति-पुरुष का झंझट जो शुरू हुआ तो अब तक बराबर चला जा रहा है। यदि प्रकृति निर्बल और पुरुष प्रबल हो जाता है तो उसे विद्वान् लोग उत्क्रान्ति कहते हैं और उसकी विपरीत घटना को अपक्रान्ति कहते हैं। संसार में जितने व्यापार हैं सब का कारण इस उत्क्रान्ति और अपक्रान्ति ही के आघात-विघात हैं। जिन नियमों—जिन सिद्धान्तों—के अनुसार यह सब होता है उनकी विवेचना करने वालों का नाम तत्त्व-दर्शी है। ऐसे तत्त्व-दर्शियों के शिरोमणि हर्बर्ट स्पेन्सर का संक्षिप्त चरित सुनिए।

इँगलैंड के डर्बी नामक शहर में २७ एप्रिल १८२० को स्पेन्सर का जन्म हुआ। उसका पिता वहां एक मदरसे में अध्यापक था और चचा पादरी था। ख़र्च अधिक था। स्कूल की नौकरी से जो आमदनी होती थी उससे काम न चलता था। इससे स्पेन्सर का पिता लड़कों के घर जा कर पढ़ाया करता था। इसमें अधिक मेहनत पड़ती थी, जिसका फल यह हुआ कि वह बीमार हो गया और मदरसे से उसे इस्तेफ़ा देना पड़ा। जब उसकी तबीयत कुछ अच्छी हुई तब उसने कलाबत्तू की डोरियां तैयार करने का एक कारख़ाना खोला। उसमें उसे नुक़सान हुआ। जिसने जन्म भर अध्ययन

और अध्यापन किया उनसे इस तरह के काम भला कैसे हो सकते थे? अन्त में कारखाना बन्द करना पड़ा। तब स्पेन्सर के पिता ने अपना एक मदरसा अलग खोल लिया। इसमें उसे कामयाबी हुई और घर का खर्च अच्छी तरह चलने लगा।

हर्बर्ट स्पेन्सर लड़कपन में बहुत कमज़ोर था। सात आठ वर्ष की उम्र तक उसने कुछ भी नहीं पढ़ा लिखा। उसकी कमजोरी देख कर उसका पिता भी कुछ न कहता था। उसने अपने लड़के पर पढ़ने लिखने के लिए कभी दबाव नहीं डाला। हर्बर्ट को छोटी ही उम्र में विज्ञान का चसका लग गया था। वह दूर दूर तक घूमने निकल जाया करता था और तरह तरह के कीड़े, मकोड़े और पौधे लाकर घर पर जमा करता था। इसे ही उसकी विज्ञान-शिक्षा का प्रारम्भ समझिए। पिता इन बातों से अप्रसन्न न होता था। वह उलटा पुत्र को उत्साहित करता था। उसका कहना था कि जो बात तुम्हें अच्छी लगे वही करो। इसीसे स्पेन्सर कीट-पतङ्गों के रूपान्तर और पौधों में होने वाले फेरफार देखने ही में कई वर्ष तक लगा रहा।

मिल की तरह स्पेन्सर ने भी किसी मदरसे में शिक्षा नहीं पाई। घर ही पर स्पेन्सर के पिता और चचा ने उसे शिक्षा दी। हाँ, कुछ दिन के लिए एक मदरसे में वह गया था। वहाँ उसको क्लास में १२ लड़के थे। वहाँ पाठ सुनाने का समय आने पर हर्बर्ट बेचारे को एकदम सब लड़कों के नीचे जाना पड़ता था। पर गणित इत्यादि वैज्ञानिक शिक्षा का समय आते ही वह सबसे ऊपर पहुँच जाता था। प्रायः प्रति दिन ऐसा ही होता था। स्पेन्सर का पिता अच्छा विद्वान् था, और चचा भी। इससे वे दोनों जब मिलते थे तब किसी न किसी गंभीर शास्त्रीय विषय की चर्चा ज़रूर करते थे। उनकी बातें स्पेन्सर ध्यान से सुनता था और उनसे बहुत फ़ायदा उठाता था। पुत्र की प्रवृत्ति वैज्ञानिक विषयों की ओर देख कर पिता ने उसे और भी अधिक उत्तेजना दी और अपनी सारी विद्या-बुद्धि खर्च करके पुत्र के हृदय में शास्त्र के मोटे मोटे सिद्धान्त खचित कर दिये। इससे यह न समझना चाहिए कि स्पेन्सर को पुस्तकावलोकन से प्रेम न था। प्रेम था

और चतुर था। परन्तु विशेष करके वह प्राकृतिक विषयों ही की पुस्तकें देखा करता था।

स्पेन्सर को पहले पहल "सैंडफर्ड एंड मर्टन" (Sandford and Merton) नाम की किताब पढ़ाई गई। उसे स्पेन्सर ने बड़े चाव से पढ़ा। कुछ दिन में उसे पढ़ने का इतना शौक बढ़ा कि दिन दिन भर रात रात भर उसके हाथ से किताब न छूटती थी। उसकी माँ न चाहती थी कि वह इतनी मेहनत करे, क्योंकि वह बहुत कमज़ोर था। इससे रात को वह अक्सर स्पेन्सर के कमरे में सोने के पहले यह देखने जाया करती थी कि कहीं वह पढ़ तो नहीं रहा। उसे आती देख स्पेन्सर मोमबत्ती को गुल करके चुप चाप लेट रहता था, जिससे उसकी माँ समझे कि वह सो रहा है। पर उसके चले जाने पर वह फिर पढ़ना शुरू कर देता था।

कोई ११ वर्ष की उम्र में स्पेन्सर की कमज़ोरी जाती रही। वह तगड़ा हो गया। वह पढ़ता भी था और घूमता फिरता भी था। इससे उसके दिमाग़ पर अधिक बोझ नहीं पड़ा और इसीसे उसके शरीर में बल भी आ गया। स्पेन्सर बड़ा निडर और साहसी था। एक दफ़े वह अपने चचा के घर से अकेला अपने घर पैदल चला आया। पहले दिन वह ४८ मील चला, दूसरे दिन ४७ मील!

बिना सबूत के स्पेन्सर किसी की बात न मानता था। चाहे जो हो, जब तक वह उसकी बात की सचाई को सबूत की कसौटी पर न कस लेता था, या ख़ुद तजरिबे से उसकी सचाई को न जान लेता था, तब तक कभी उस पर विश्वास न करता था। यह विलक्षणता उसमें लड़कपन ही से थी; पर आदत उसकी मरते तक नहीं छूटी। इसी के प्रभाव से उसने पूर्ववर्ती-तत्त्वज्ञानियों के सिद्धान्तों को चुप चाप न मान कर सबकी परीक्षा की और उनके सन्दिग्ध अंश का कठोरता-पूर्वक खण्डन किया।

सोलह सत्रह वर्ष की उम्र तक स्पेन्सर को घर पर ही शिक्षा मिलती रही। इतने दिनों में उसने गणित-शास्त्र, यन्त्र-शास्त्र, चित्र-विद्या आदि में अच्छा अभ्यास कर लिया। स्पेन्सर को संस्कृत की समकक्ष लैटिन और

इतना अनादर हुआ तब यदि हिन्दुस्तान में इनको कोई न पूछे तो आश्चर्य ही क्या है?

यद्यपि स्पेन्सर की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं रही, तथापि वह अपनी निर्धनता के कारण विचलित नहीं हुआ। उसे आडम्बर बिलकुल पसन्द न था। इससे उसका खर्च भी कम था। जो कुछ उसे मिलता था उसी से वह सन्तुष्ट रहता था। यद्यपि अपनी पूर्वोक्त दोनों पुस्तकें छपाने में उसका बहुत सा रुपया बरबाद हो गया, तथापि उसने किसी से आर्थिक सहायता नहीं ली। कुछ उदार लोगों ने उसकी सहायता करना भी चाहा; पर उसने कृतज्ञता-पूर्वक उसे लेने से इनकार कर दिया। पुस्तक-प्रकाशन में स्पेन्सर की कोई १५,००० रुपये की हानि हुई। यह सुन कर अमेरिका के कुछ उदार लोगों ने उसे २२,५०० रुपये भेजे। परन्तु उसने यह रुपया भी लेना नहीं स्वीकार किया।

हर्बर्ट स्पेन्सर की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक "सिस्टम आफ़ सेन्थैटिक फिलासफ़ी" (A System of Synthetic Philosophy) अर्थात् संयोगात्मकतत्त्वज्ञान-पद्धति है। १८६० ईसवी में उसे स्पेन्सर ने लिखना शुरू किया। बीच में उसे धन-सम्बन्धी और शरीर-सम्बन्धी यद्यपि अनेक विघ्न उपस्थित ... पै तक अविश्रान्त परिश्रम करके उसे उसने समाप्त करके ... पुस्तक में उसने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन बड़ी ही ... है। संसार में जो कुछ दृश्य अथवा अदृश्य हैं सब को ... ने उत्क्रान्ति मत के आधार पर सिद्ध कर दिखाई। इस ... उसने पांच भागों में विभक्त किया और दस जिल्दों में ...। उनका विवरण इस तरह है:—

...न्सपल्स (First Principles) अर्थात् ...सिद्धान्त	१ जिल्द
...आफ़ बायोलजी (Principles of Biology) ...विनशास्त्र के मूलतत्त्व	२ जिल्द
३—प्रान्सपल्स आफ़ साइकालजी (Principles of Sociology) अर्थात् मानस-शास्त्र के मूलतत्त्व ...	२ जिल्द

परिणतिवाद, के आधार पर उसने प्राणियों की उत्पत्ति सिद्ध की। परन्तु इस विषय की उपपत्ति के अनेक सिद्धान्त स्पेन्सर ने पहले ही से निश्चित कर लिये थे। इस बात को डारविन ने साफ़ साफ़ स्वीकार किया है।

डारविन की पूर्वोक्त पुस्तक के निकलने के कोई चार वर्ष बाद स्पेन्सर की "मानस-शास्त्र के मूलतत्त्व" (Principles of Psychology) नामक पुस्तक निकली। इसके लिखने में स्पेन्सर ने इतनी मेहनत की कि सिर्फ़ १८ महीने में यह पुस्तक उसने तैयार करदी। इस कारण उसकी नीरोगता में बाधा आ गई। तबीयत उसकी बहुत ही कमज़ोर हो गई और कोई दो ढाई वर्ष तक वह कोई नई किताब नहीं लिख सका। हाँ, दिल बहलाने के लिए सामयिक पुस्तकों में वह कभी कभी लेख लिखता रहा। इस बीच में स्पेन्सर का यश दूर दूर तक फैल गया। "मानस-शास्त्र के मूलतत्त्व" लिखने से उसका बड़ा नाम हुआ। वह अब एक विचक्षण दार्शनिक गिना जाने लगा। इस पुस्तक ने तत्त्वज्ञान के प्रवाह को एक बिलकुल ही नये रास्ते में ले जाकर डाल दिया।

किसी नये लेखक या नये विद्वान् के गुणों की क़दर होने में बहुधा बहुत दिन लगते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर ने यद्यपि ऐसी अच्छी अच्छी किताबें लिखीं; परन्तु उनकी बहुत ही कम क़दर हुई। स्पेन्सर की पहली किताब "सोशल स्टेटिक्स" को किसी प्रकाशक या पुस्तक-विक्रेता न लेना और छपा कर प्रकाशित करना मंज़ूर न किया। तब स्पेन्सर ने उसकी ७५० कापियाँ ख़ुद ही छपवाईं। इनमें से कुछ उसने मुफ़्त बाँट दीं। बाक़ी किताबों के बिकने मे कोई चौदह पन्द्रह वर्ष लगे। यही दशा "मानस-शास्त्र के मूलतत्त्व" की हुई। उसे भी छपाना किसी ने स्वीकार न किया। अन्त में स्पेन्सर ही ने उसे भी प्रकाशित किया। उसे भी बिकने मे दस बारह वर्ष लगे। इन किताबों को उसने किताब बेचनेवालों को कमीशन पर बेचने के लिए दे दिया था। स्पेन्सर को इन किताबों के लिखने से धन-सम्बन्धी लाभ तो कुछ हुआ नहीं, हानि ख़ूब हुई। उसने जान लिया कि इस तरह की किताबों की क़दर नहीं है। हाँ, यदि वह उपन्यास लिखता तो उसे ख़ातिरख़्वाह आमदनी होती। जब इँगलैंड में इस तरह की किताबों का

इतना अनादर हुआ तब यदि हिन्दुस्तान में इनको कोई न पू
ही क्या है ?

यद्यपि स्पेन्सर की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं रही, तथापि
निर्धनता के कारण विचलित नहीं हुआ। उसे आडम्बर बिलकुल
था। इससे उसका खर्च भी कम था। जो कुछ उसे मिलता था
वह सन्तुष्ट रहता था। यद्यपि अपनी पूर्वोक्त दोनों पुस्तकें छपाने
हुत सा रुपया बरबाद हो गया, तथापि उसने किसी से आर्थिक
हीं ली। कुछ उदार लोगों ने उसकी सहायता करना भी चाहा; प
म्रता-पूर्वक उसे लेने से इनकार कर दिया। पुस्तक-प्रकाशन में
कोई १५,००० रुपये की हानि हुई। यह सुन कर अमेरिका व
र लोगों ने उसे २२,५०० रुपये भेजे। परन्तु उसने यह रुपया भी
स्वीकार किया।

र्बर्ट स्पेन्सर की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक "सिस्टम आफ़ सेन्थे
फ़ी" (A System of Synthetic Philosophy) अर्थात् संयोग
ज्ञान-पद्धति है। १८६० ईसवी में उसे स्पेन्सर ने लिखना शुरू किया
उसे धन-सम्बन्धी और शरीर-सम्बन्धी यद्यपि अनेक विघ्न उपस्थित
पे ३६ वर्ष तक अविश्रान्त परिश्रम करके उसे उसने समाप्त करके
। पुस्तक में उसने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन बड़ी ही
द्ध है। संसार में जो कुछ दृश्य अथवा अदृश्य है सब को
अपने उत्क्रान्ति मत के आधार पर सिद्ध कर दिखाई। इस
को उसने पांच भागों में विभक्त किया और दस जिल्दों में
गा। उनका विवरण इस तरह है:—

प्रिन्सिपल्स (First Principles) अर्थात्
सिद्धान्त ... ... } १ जिल्द

न आफ़ बायोलजी (Principles of Biology)
वनशास्त्र के मूलतत्त्व ... ... } २ जिल्द

१—प्रिन्सिपल्स आफ़ साइकालजी (Principles of Socio-
logy) अर्थात् मानस-शास्त्र के मूलतत्त्व ... } २ जिल्द

इतना अनादर हुआ तब यदि हिन्दुस्तान में इनको कोई न पूछे तो आश्चर्य ही क्या है ?

यद्यपि स्पेन्सर की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं रही, तथापि वह अपनी निर्धनता के कारण विचलित नहीं हुआ। उसे आडम्बर बिलकुल पसन्द न था। इससे उसका खर्च भी कम था। जो कुछ उसे मिलता था उसी से वह सन्तुष्ट रहता था। यद्यपि अपनी पूर्वोक्त दोनों पुस्तकें छपाने में उसका बहुत सा रुपया बरबाद हो गया, तथापि उसने किसी से आर्थिक सहायता नहीं ली। कुछ उदार लोगों ने उसकी सहायता करना भी चाहा; पर उसने कृतज्ञता-पूर्वक उसे लेने से इनकार कर दिया। पुस्तक-प्रकाशन में स्पेन्सर की कोई १५,००० रुपये की हानि हुई। यह सुन कर अमेरिका के कुछ उदार लोगों ने उसे २२,५०० रुपये भेजे। परन्तु उसने यह रुपया भी लेना नहीं स्वीकार किया।

हर्बर्ट स्पेन्सर की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक "सिस्टम आफ़ सिन्थेटिक फ़िलासफ़ी" (A System of Synthetic Philosophy) अर्थात् संयोगात्मकतत्त्वज्ञान-पद्धति है। १८६० ईसवी में उसे स्पेन्सर ने लिखना शुरू किया। बीच में उसे धन-सम्बन्धी और शरीर-सम्बन्धी यद्यपि अनेक विघ्न उपस्थित हुए तथापि ३६ वर्ष तक अविश्रान्त परिश्रम करके उसे उसने समाप्त करके ही छोड़ा। इस पुस्तक में उसने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन बड़ी ही योग्यता से किया है। संसार में जो कुछ दृश्य अथवा अदृश्य है सब की उत्पत्ति उसने अपने उत्क्रान्ति मत के आधार पर सिद्ध कर दिखाई। इस प्रचण्ड पुस्तक को उसने पांच भागों में विभक्त किया और दस जिल्दों में प्रकाशित कराया। उनका विवरण इस तरह है:—

१—फ़र्स्ट प्रिन्सिपल्स (First Principles) अर्थात् प्राथमिक सिद्धान्त	१ जिल्द
२—प्रिन्सिपल्स आफ़ बायोलजी (Principles of Biology) अर्थात् जीवनशास्त्र के मूलतत्त्व	२ जिल्द
३—प्रिन्सिपल्स आफ़ साइकालजी (Principles of Sociology) अर्थात् मानसशास्त्र के मूलतत्त्व ...	२ जिल्द

नैतिक शास्त्रों के उत्कर्ष के लिए फ़्रांस में एक प्रसिद्ध विद्यापीठ है। उसकी एक शाखा तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखती है। उसमें विख्यात विद्वान् एमरसन की जगह पर कुछ काल तक वह निबन्धकार रहा। परन्तु वह बड़ा ही निस्पृह और स्वाधीनचेता था। योरप और अमेरिका के—विशेष करके इँग-लैंड के—विश्व-विद्यालयों ने उसे दर्शन-शास्त्र की शिक्षा देने के लिए कितने ही ऊँचे ऊँचे पद देने की इच्छा प्रकट की; परन्तु उसने कृतज्ञता-पूर्वक उन्हें अस्वीकार कर दिया। स्वाधीन रह कर अपनी सारी उम्र उसने विद्या-व्यासङ्ग में ख़र्च कर दी और अपने अभूत-पूर्व तत्त्व-ज्ञान-पूर्ण ग्रन्थों से अपना नाम अमर करके संसार को अनन्त लाभ पहुँचाया।

स्पेन्सर की उम्र के पिछले पाँच सात वर्ष अच्छे नहीं कटे। वह अकसर बीमार रहा करता था। कोई दस पन्द्रह वर्ष पहले से वह एकान्त-वास करने लगा था। वह बहुत कम मिलता जुलता था। अपने सांसारिक काम समाप्त करके वह मृत्यु की राह देखने लगा था। अन्त में वह आ गई और ८४ वर्ष की उम्र में, ८ दिसम्बर १९०३ को, वह उसे इस लोक से उठा ले गई। पर उसका अक्षय यश पूर्ववत्, किम्बहुना उससे भी अधिक, प्रकाशित हो रहा है। उसे ले जाने या कम कर देने की किसी में शक्ति नहीं। स्पेन्सर ने लिख रक्खा था कि मरने पर मेरा मृत शरीर जलाया जाय, गाड़ा न जाय। ऐसा ही किया गया और उसका नश्वर पञ्चभूतात्मक शरीर अग्नि के संस्कार से फिर पञ्चभूतों में जा मिला। शवदाह की प्रथा जिन लोगों में नहीं है उन्हें स्पेन्सर के उदाहरण पर विचार करना चाहिए। इस देश के निवासियों में श्यामजी कृष्ण वर्म्मा पहले सज्जन हैं जिन्होंने आक्सफ़र्ड-विश्वविद्यालय से एम० ए० की पदवी पाई है। स्पेन्सर की श्मशान-क्रिया के समय वे वहाँ उपस्थित थे। थोड़ा सा समयोचित-भाषण करने के बाद उन्होंने १५ हज़ार रुपया ख़र्च करके स्पेन्सर के नाम से एक छात्रवृत्ति नियत करने का निश्चय किया। इस निश्चय का वे पालन भी कर रहे हैं। इँगलैंड के इस महर्षि-तुल्य वेदान्त-वेत्ता का इस तरह भारतवर्ष के एक विद्वान् द्वारा आदर होना कुछ कौतूहल-जनक अवश्य है। सच है, दर्शन-शास्त्र की महिमा यह बूढ़ा भारत अब भी ख़ूब जानता है।

स्पेन्सर शान्ति-भाव को बहुत पसन्द करता था। वह युद्ध के ख़िलाफ़ था। बोअर-युद्ध का कारण उस समय के उपनिवेश-सम्बन्धी मेम्बर चेम्बर लेन साहब थे। उन पर, उनके इस अनुचित काम के कारण, स्पेन्सर ने अप्रसन्नता प्रकट की थी। उसके मरने के बाद उसकी जो एक चिट्ठी प्रकाशित हुई है उसमें उसने जापान को शिक्षा दी है कि यदि तुम अपना भला चाहते हो तो योरप वालों से दूर ही रहो और योरप की स्त्रियों से विवाह करके अपनी जातीयता को बरबाद न करो। नहीं तो तुम किसी दिन अपनी स्वाधीनता खो बैठोगे।

हर्बर्ट स्पेन्सर ने यद्यपि पाठशाला में शिक्षा नहीं पाई और यद्यपि वह संस्कृत की तरह की ग्रीक और लैटिन इत्यादि प्राचीन भाषाओं के ख़िलाफ़ था—यहां तक कि वह ग्रीक भाषा का एक शब्द तक नहीं जानता था—तथापि वह बहुत अच्छी अँगरेज़ी लिखता था और अपने मन का भाव बड़ी ही योग्यता से प्रकट कर सकता था। उसकी तर्क-शक्ति अद्वितीय थी। जिस विषय का उसने प्रतिपादन किया है—जिस विषय में उसने बहस की है—उसे सिद्ध करने में उसने कोई बात नहीं छोड़ी। उसकी प्रतिपादन-शक्ति ऐसी बढ़ी चढ़ी थी कि जो लोग उसकी राय के ख़िलाफ़ थे उनको भी उसकी तर्कना सुन कर उसके सामने सिर झुकाना पड़ता था। पर खेद की बात है, उसकी क़दर उसी के देश, इंग्लैंड, में और देशों की अपेक्षा बहुत कम हुई। सच है, हीरे की क़दर हीरे की खान में कम होती है।

स्पेन्सर का मत है कि विज्ञान पढ़ने से मनुष्य अधार्मिक नहीं होता। विज्ञान से धर्म्मनिष्ठा अधिक बढ़ती है। जो लोग ऐसा नहीं समझते उन्होंने विज्ञान की महिमा को जानाही नहीं। इस विषय पर उसने "शिक्षा" नाम की अपनी इस पुस्तक में बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण बहस की है। उसने लिखा है कि ज़रा ज़रा सी बातों पर वाद-विवाद करके व्यर्थ समय नष्ट करना और सृष्टि-रचना में परमेश्वर ने जो अगाध चातुर्य्य दिखलाया है उस पर ज़रा भी विचार न करना बड़े ही आश्चर्य्य की बात है। परन्तु पीछे उसका मत कुछ और ही तरह का हो गया था। जिस स्पेन्सर ने सृष्टि-सम्बन्धिनी एक "अनन्त, अनन्तादि और सर्वव्यापक शक्ति" की महिमा गाई उसी ने "विद्व-

कर्म्मा, जगन्नाकर और सर्वशक्तिमान् ईश्वर" की अपने समाज घटना-शास्त्र में कड़ी समालोचना की। यह शायद धर्म्मश्रद्धा में उसकी अशक्तता का कारण हो। क्योंकि धर्म्म-विषयक बातों में श्रद्धा ही प्रधान है।

स्पेन्सर ने पचास साठ वर्ष तक अविश्रान्त ग्रन्थ-रचना की। उसके ग्रन्थों को पढ़ कर संसार के सुशिक्षित लोगों के विचारों में ख़ूब फेर-फार हो रहे हैं। आशा है कि इस फेर-फार के कारण सांसारिक जनों का कल्याण होगा। स्पेन्सर का विद्याभ्यास दीर्घ, ज्ञान-भाण्डार अगाध और परिश्रम अप्रतिहत था। वह अत्यन्त कर्त्तव्यनिष्ठ, दृढ़निश्चय और निर्लोभी था। उसके समान तत्वज्ञानी योरप में बहुत कम हुए हैं। किसी किसी का मत है कि तत्त्वज्ञानियों में अरिस्टाटल, बेकन और डारविन ही की उपमा उससे थोड़ी बहुत दी जा सकती है। ईश्वर करे इस महादार्शनिक की पुस्तकों का अनुवाद इस देश की भाषाओं में हो जाय, जिससे इस बूढ़े वेदान्ती भारतवर्ष के निवासियों को भी उसके सिद्धान्त समझने में सुभीता हो।

— — —

पुस्तक का संक्षिप्त सारांश।

इस पुस्तक को हर्बर्ट स्पेन्सर ने चार भागों में विभक्त किया है और प्रत्येक भाग का नाम उसने प्रकरण रक्खा है।

पहले प्रकरण

में इस बात का बयान है कि कौन सी शिक्षा, संसार में, सबसे अधिक उपयोगी है। इसका विचार स्पेन्सर ने बड़ी ही योग्यता से किया है। पहले उसने यह दिखलाया है कि आदमियों को लाभ या उपयोगिता का कम ख़याल रहता है, दिखाव ही का अधिक रहता है। असभ्य आदमियों से लेकर सभ्य देशों के बड़े बड़े विद्वान् तक शोभा-सिंगार और रीति-रवाज ही की विशेष परवा करते हैं। वे यह नहीं देखते कि जो काम हम कर रहे हैं उनसे हमें कितना लाभ पहुँचता है या वह हमारे लिए कहाँ तक उपयोगी है। जो काम हम और लोगों को करते देखते हैं वही हम भी करने लगते हैं। उन्हीं की नक़ल करने की हमारी आदत हो गई है। शिक्षा के सम्बन्ध में भी लोग अन्ध-परम्परा ही के भक्त हो रहे हैं। बच्चों को किस तरह की शिक्षा से लाभ होगा—संसार में इस समय किस तरह की शिक्षा की सबसे अधिक ज़रूरत है—इसका वे बिलकुल विचार नहीं करते। लड़कों और लड़कियों, दोनों, की शिक्षा का यही हाल है। जिस तरह की शिक्षा की परिपाटी चली आती है लोगों को उसमें, उपयोगिता के ख़याल से, फेरफार करने का ध्यान ही नहीं है। उपयोगिता और लाभ की कुछ भी परवा न करके सब लोग जिस तरह की शिक्षा को अच्छा समझते हैं वही दी जाती है। ग्रीक और लैटिन आदि पुरानी भाषाओं के पढ़ने से उतना लाभ नहीं होता और इतिहास की जैसी शिक्षा दी जाती है उसका भी विशेष उपयोग नहीं होता; तथापि, इन आदमियों के बीच में बैठ कर [illegible] करने की [illegible] पैदा करने के लिए बच्चों को इन विषयों की शिक्षा ज़रूर दी जाती है। वे समझते हैं कि समाज

जिस शिक्षा को अच्छा समझे उसे ही देना हमारा कर्त्तव्य है—लाभालाभ का विचार करने की कोई ज़रूरत नहीं। इससे बड़ी हानि होती है। इसके कारण बच्चे, बड़े होने पर, अपने कर्त्तव्य को अच्छी तरह नहीं कर सकते। संसार में जन्म लेकर अपने जीवन को पूरे तौर पर सफल करना ही मनुष्य का प्रधान उद्देश होना चाहिए। पर इस तरह की शिक्षा से यह उद्देश अच्छी तरह नहीं सफल होता।

संसार में आकर मनुष्य को जितने काम करने पड़ते हैं वे पांच भागों में बाँटे जा सकते हैं। यथाः—

(१) वे काम जिनकी मदद से मनुष्य अपनी प्राण-रक्षा प्रत्यक्ष रीति से कर सकता है।

(२) वे काम जो निर्वाह के लिए आवश्यक बातों को प्राप्त करा कर, परोक्ष रीति से, मनुष्य की जीवन-रक्षा में मदद देते हैं।

(३) वे काम जो सन्तान के पालन, पोषण और शिक्षण आदि से सम्बन्ध रखते हैं।

(४) वे काम जिनकी ज़रूरत, समाज-नीति और राज-नीति की उचित व्यवस्था के लिए होती है।

(५) वे काम जिन्हें लोग, और बातों से फ़ुरसत पाने पर, मनोरञ्जन के लिए करते हैं।

इन पांचों भागों का क्रम अपने अपने महत्त्व के अनुसार है। अर्थात् जो काम जितने अधिक महत्त्व का है उसका नम्बर भी उतना ही ऊँचा है। जो शिक्षा जिस नम्बर के काम से सम्बन्ध रखती है उसे भी उतनी ही ऊँची और उतने ही अधिक महत्त्व की समझना चाहिए। इस हिसाब से जो शिक्षा मनुष्य की प्राण-रक्षा करने में प्रत्यक्ष मदद दे वह पहले दरजे की हुई। जो परोक्ष रीति से प्राण-रक्षा में मदद दे वह दूसरे दरजे की हुई। इसी तरह और भी समझिए। अतएव लोगों को चाहिए कि अपने बच्चों को शिक्षा देने में शिक्षा के महत्त्व का ज़रूर ख़याल रक्खें। हर एक विषय की उन्हें उतनी शिक्षा देनी चाहिए जितनी से वे अपने जीवन को पूरे तौर पर सफल कर सकें। अर्थात् जीवन-व्यापार अच्छी तरह चलाने के लिए जिस

शिक्षा की जितनी अधिक ज़रूरत हो वह उतनी ही अधिक दी जाय। इन पांचों प्रकार की शिक्षाओं के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा सकता है कह कर स्पेन्सर ने इस योग्यता के साथ बहस की है कि उसकी विद्वत्ता और विवेचना-शक्ति को देख कर आश्चर्य होता है। उसकी युक्ति-प्रतियुक्तियां बड़ी ही गम्भीर हैं। उसकी तर्कना-प्रणाली, उसकी प्रभावोत्पादक भाषा, उसके व्यावहारिक प्रमाण बहुत ही प्रशंसनीय हैं। उसकी उक्तियों को पढ़ कर प्रकृत विषय हृत्पटल पर खिंच सा जाता है और उसकी बात—उसके कथन—की फल-निष्पत्ति स्वीकार करते ही बनती है।

पहले प्रकार की, अर्थात् प्राण-रक्षा-सम्बन्धिनी, शिक्षा सबसे अधिक हत्त्व की है। इसी से परमेश्वर ने बहुत करके उसे अपने ही हाथ में रक्खा । बच्चा वर्ष छः महीने का होते ही अपना पराया पहचानने लगता है। भय कारण उपस्थित होते ही रोने लगता है। जिन जानवरों को उसने कभी देखा उन्हें देख कर घबरा जाता है। कुछ और बड़ा होने पर सामने हुई ईंट, पत्थर आदि को देख कर उनसे बच कर चलता है। ऐसे जिनसे हाथ पैर कट जाने का डर रहता है उनसे वह बचता है। आती हुई गाड़ी को देख कर एक तरफ़ हो जाता है। इसी तरह से वह बड़ा होता जाता है वैसे ही वैसे वह आपही आप स्वभाव ही शरीर की रक्षा करता है। शरीर-रक्षा की यह शिक्षा उसे क़ुदरत देती है—परमेश्वर ही उसके लिए शिक्षक का काम करता है। पर को भी इस प्रकार की शिक्षा का कुछ अंश प्राप्त करना चाहिए। य से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ ऐसे स्वाभाविक नियम हैं जिनका करने से आदमी बीमारी से नहीं बच सकता और बीमार होना बहुत उम्र का कम हो जाना है। अतएव इस तरह की हानि से ए मनुष्य को स्वच्छता और शरीर-रचना-सम्बन्धी बातों की मिलनी चाहिए। इस बात पर स्पेन्सर ने दूर तक बहस इन विषयों के न जानने से मनुष्य अपने स्वास्थ्य को कहां डालता है, इसका बड़ा ही ओजस्विनी भाषा में वर्णन

जिस शिक्षा को अच्छा समझे उसे ही देना हमारा कर्त्तव्य है—लाभालाभ का विचार करने की कोई ज़रूरत नहीं। इससे बड़ी हानि होती है। इसके कारण बच्चे, बड़े होने पर, अपने कर्त्तव्य को अच्छी तरह नहीं कर सकते। संसार में जन्म लेकर अपने जीवन को पूरे तौर पर सफल करना ही मनुष्य का प्रधान उद्देश होना चाहिए। पर इस तरह की शिक्षा से यह उद्देश अच्छी तरह नहीं सफल होता।

संसार में आकर मनुष्य को जितने काम करने पड़ते हैं वे पांच भागों में बांटे जा सकते हैं। यथा:—

(१) वे काम जिनकी मदद से मनुष्य अपनी प्राण-रक्षा प्रत्यक्ष रीति से कर सकता है।

(२) वे काम जो निर्वाह के लिए आवश्यक बातों को प्राप्त करा कर, परोक्ष रीति से, मनुष्य की जीवन-रक्षा में मदद देते हैं।

(३) वे काम जो सन्तान के पालन, पोषण और शिक्षण आदि से सम्बन्ध रखते हैं।

(४) वे काम जिनकी ज़रूरत, समाज-नीति और राज-नीति की उचित व्यवस्था के लिए होती है।

(५) वे काम जिन्हें लोग, और बातों से फ़ुरसत पाने पर, मनोरञ्जन के लिए करते हैं।

इन पाँचों भागों का क्रम अपने अपने महत्त्व के अनुसार है। अर्थात् जो काम जितने अधिक महत्त्व का है उसका नम्बर भी उतना ही ऊँचा है। जो शिक्षा जिस नम्बर के काम से सम्बन्ध रखती है उसे भी उतनी ही ऊँची और उतने ही अधिक महत्त्व की समझना चाहिए। इस हिसाब से जो शिक्षा मनुष्य की प्राण-रक्षा करने में प्रत्यक्ष मदद दे वह पहले दरजे की हुई। जो परोक्ष रीति से प्राण-रक्षा में मदद दे वह दूसरे दरजे की हुई। इसी तरह और भी समझिए। अतएव लोगों को चाहिए कि अपने बच्चों को शिक्षा देने में शिक्षा के महत्त्व का ज़रूर ख़याल रक्खें। हर एक विषय की उन्हें इतनी शिक्षा देनी चाहिए जितनी से वे अपने जीवन को पूरे तौर पर सफल कर सकें। अर्थात् जीवन-व्यापार अच्छी तरह चलाने के लिए जिस

शिक्षा की जितनी अधिक ज़रूरत हो वह उतनी ही अधिक दी जाय। इन पांचों प्रकार की शिक्षाओं के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा सकता है कह कर स्पेन्सर ने इस योग्यता के साथ बहस की है कि उसकी विद्वत्ता और विवेचना-शक्ति को देख कर आश्चर्य होता है। उसकी युक्ति-प्रतियुक्तियां बड़ी ही गम्भीर हैं। उसकी तर्कना-प्रणाली, उसकी प्रभावोत्पादक भाषा, उसके व्यावहारिक प्रमाण बहुत ही प्रशंसनीय हैं। उसकी उक्तियों को पढ़ कर प्रस्तुत विषय हृत्पटल पर खिंच सा जाता है और उसकी बात—उसके कथन—की फल-निष्पत्ति स्वीकार करते ही बनती है।

पहले प्रकार की, अर्थात् प्राण-रक्षा-सम्बन्धिनी, शिक्षा सबसे अधिक महत्त्व की है। इसी से परमेश्वर ने बहुत करके उसे अपने ही हाथ में रक्खा है। बच्चा वर्ष छः महीने का होते ही अपना पराया पहचानने लगता है। भय का कारण उपस्थित होते ही रोने लगता है। जिन जानवरों को उसने कभी नहीं देखा उन्हें देख कर घबरा जाता है। कुछ और बड़ा होने पर सामने पड़ी हुई ईंट, पत्थर आदि को देख कर उनसे बच कर चलता है। ऐसे शस्त्र जिनसे हाथ पैर कट जाने का डर रहता है उनसे वह बचता है। सामने आती हुई गाड़ी को देख कर एक तरफ़ हो जाता है। इसी तरह जैसे जैसे वह बड़ा होता जाता है वैसे ही वैसे वह आपही आप स्वभाव ही से अपने शरीर की रक्षा करता है। शरीर-रक्षा की यह शिक्षा उसे .कुदरत .खुद ही देती है—परमेश्वर ही उसके लिए शिक्षक का काम करता है। पर आदमी को भी इस प्रकार की शिक्षा का कुछ अंश प्राप्त करना चाहिए। शरीरारोग्य से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ ऐसे स्वाभाविक नियम हैं जिनका पालन न करने से आदमी बीमारी से नहीं बच सकता और बीमार होना मानों थोड़ी बहुत उम्र का कम हो जाना है। अतएव इस तरह की हानि से बचने के लिए मनुष्य को स्वच्छता और शरीर-रचना-सम्बन्धी बातों की शिक्षा ज़रूर मिलनी चाहिए। इस बात पर स्पेन्सर ने दूर तक बहस की है और इन विषयों के न जानने से मनुष्य अपने स्वास्थ्य को कहां तक नाश कर डालता है, इसका बड़ी ही ओजस्विनी भाषा में वर्णन किया है।

कलाओं से पूरे तौर पर मनोरञ्जन होने के लिए विज्ञान की बड़ी ज़रूरत है। प्रतिमानिर्माण-विद्या के लिए भी मनुष्य के शरीर की बनावट और यंत्र-शास्त्र के नियमों से परिचय होना चाहिए। कविता में भी स्वाभाविक मनोविकारों से सम्बन्ध रखनेवाले विज्ञान के ज्ञान बिना काम नहीं चल सकता। स्वाभाविक प्रतिभा और विज्ञान के मेल से ही कवि और कारीगर को पूरी पूरी कामयाबी हो सकती है। विज्ञान, कविता की जड़ ही नहीं, वह ख़ुद भी एक विलक्षण प्रकार की कविता है। इन बातों को स्पेन्सर ने उदाहरणपूर्वक सप्रमाण सिद्ध कर दिखाया है और हर एक विषय का तफसीलवार वर्णन किया है। उसके कोटिक्रम और वर्णनवैचित्र्य को पढ़ कर उसकी विद्वत्ता की सहस्र मुख से प्रशंसा करने को जी चाहता है।

इस प्रकार हर तरह के कामों में कामयाबी होने और जीवन को पूरे तौर पर सफल करने के लिए स्पेन्सर ने विज्ञान-शिक्षा की ज़रूरत दिखलाई है। जितने प्रकार की शिक्षायें हैं सबसे अधिक प्रधानता और महत्त्व उसने विज्ञान ही को दिया है। भाषा-शिक्षा के विषय में, उसके प्रत्येक अंश का विचार करके, उसने यह सिद्धान्त निकाला है कि भाषाओं के पढ़ने की अपेक्षा विज्ञान से अधिक लाभ होता है। विज्ञान-शिक्षा से मनुष्य की स्मरण-शक्ति ही नहीं बढ़ जाती, उससे सारासार विचार-शक्ति भी बढ़ती है। लोगों का ख़याल है कि वैज्ञानिक शिक्षा से आदमी नास्तिक हो जाता है। इस बात का स्पेन्सर ने बड़े ही ज़ोरशोर से खण्डन किया है और यह दिखलाया है कि विज्ञान की बदौलत आदमी नास्तिक होने के बदले उलटा आस्तिक हो जाता है और प्रकृति या परमेश्वर में उसकी श्रद्धा बहुत अधिक बढ़ जाती है। विज्ञान आदमी को अधार्म्मिक नहीं, धार्म्मिक बनाता है। उससे विश्वजात वस्तुओं की कार्य्य-कारण-सम्बन्धिनी एकरूपता में पूज्य बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। उससे विचार और विवेचना की भी शक्ति बढ़ती है और मन तथा बुद्धि को विकसित करने में वह सबसे अधिक सहायता देता है। यही नहीं, किन्तु उससे आदमी का आचरण भी सुधर जाता है। इस तरह, विज्ञान की महिमा का गान करके अन्त में स्पेन्सर ने विज्ञान-शिक्षा ही को सबसे अधिक उपयोगी बतलाया है और इस बात पर खेद प्रकट

किया है कि शिक्षा-विद्या के इतने लाभदायक होने पर भी लोगों का इस तरफ़ बहुत ही कम ध्यान है ।

दूसरे प्रकरण

में स्पेन्सर ने मानसिक शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का विचार किया है । शिक्षा-पद्धति का सामाजिक, धार्म्मिक और राजनैतिक बातों से मिलान करके पहले उसने यह दिखलाया है कि जैसा ज़माना होता है वैसी ही शिक्षा भी दी जाती है । जिस समय छोटे छोटे अपराधों के लिए भी बड़े बड़े दण्ड दिये जाते थे उस समय शिक्षा-पद्धति भी आज कल की अपेक्षा बहुत कठोर थी । अध्यापक लोग ज़रा ज़रा सी बात पर लड़कों को कठोर दण्ड देते थे । पर अब वह समय नहीं रहा । अब स्वतन्त्रता का समय है । सब लोगों को अपने मनोऽनुकूल काम करने की बहुत कुछ स्वाधीनता मिल गई है । बादशाहों की प्रभुता पहले की अपेक्षा कम और प्रजा की स्वतन्त्रता अधिक हो गई है । अतएव शिक्षा-पद्धति पर भी इन बातों का असर पड़ा है । अब वह पहले की अपेक्षा बहुत कोमल हो गई है; अध्यापकों के अधिकार कम हो गये हैं; विद्यार्थियों की स्वतन्त्रता बढ़ गई है ।

शिक्षा के सम्बन्ध में आज कल लोगों की रायों में बहुत भेद हो गया है । कोई किसी पद्धति को अच्छा समझता है, कोई किसी को । पर इससे किसी को असन्तुष्ट न होना चाहिए । मत-भिन्नता से हानि नहीं हो सकती; उलटा लाभ ही होता है । जिसकी राय में जो बात अच्छी होती है वह धीरे धीरे स्वीकार कर ली जाती है और जो बात बुरी होती है वह धीरे धीरे परित्यक्त हो जाती है । एक ज़माना वह था जब लोग लड़कों से सब बातें तोते की तरह रटा रटा कर ज़बानी याद कराते थे । पर अब लोग इस बुरी प्रथा को छोड़ते जाते हैं । ज़माना कभी एकसा नहीं रहता । किसी समय शारीरिक सुन्दरता ही की तरफ़ लोगों का सबसे अधिक ध्यान था । शारीरिक शिक्षा ही को लोग सब कुछ समझते थे । फिर वह ज़माना आया जब इस प्रकार की शिक्षा को तुच्छ समझ कर लोगों ने

मानसिक शिक्षा ही को प्रधानता दी। सब लोग मन को ही ख़ूब सुशिक्षित करना अपना सबसे बड़ा कर्तव्य समझने लगे। अब वह भी नहीं रहा। अब ते मन के सुधार के साथ साथ शरीर के भी सुधार की तरफ़ लोगों का ध्यान जाने लगा है।

इसके बाद स्पेन्सर ने इस सिद्धान्त को प्रधानता दी है कि बच्चों को ऐसे तरीक़े से शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे उन्हें शिक्षा भी मिलती जाय और उनका मनोरञ्जन भी होता जाय। पढ़ने-लिखने में बच्चों को कष्ट न हो। सब बातों को वे ख़ुशी से हँसते खेलते सीखें। जिन नियमों के अनुसार वनस्पतियों और प्राणियों का शरीरपोषण होता है उन्हीं के अनुसार मनुष्यों का मानसिक पोषण भी होता है। अर्थात् मानसिक शक्तियों का विकास धीरे धीरे होता है। अतएव शिक्षा का क्रम और तरीक़ा मानसिक शक्तियों की वृद्धि के अनुसार होना चाहिए। जैसे जैसे मानसिक शक्तियाँ प्रबल होती जायँ वैसेही वैसे शिक्षा का क्रम भी कठिन होना चाहिए। स्विटज़रलैंड के प्रसिद्ध विद्वान् पेस्टलोज़ी की शिक्षा-पद्धति इसी तरह की है। पर उसमें जो सफलता नहीं हुई उसका कारण उस पद्धति की सदोषता नहीं, किन्तु योग्य शिक्षकों का अभाव है। उसके सिद्धान्तों में भूल नहीं है। भूल है उन सिद्धान्तों के व्यवहार की रीति में।

स्पेन्सर की राय है कि जहाँ तक हो सके बच्चों को अपनी बुद्धि की उन्नति आपही करने के लिए उत्साहित करना चाहिए। उन्हें इस तरह शिक्षा देना चाहिए जिसमें वे ख़ुद ही हर एक बात के विषय में जानकारी प्राप्त करने का यत्न करें। उनमें जिज्ञासा-वृत्ति का अंकुर बहुत ही छोटी उम्र में उगाना चाहिए। जब बच्चा गोदी में हो तभी से उसे अनेक प्रकार के रंग, अनेक प्रकार की लम्बी-चौड़ी, मोटी-पतली चीज़ें दिखा कर उसकी शिक्षा शुरू करना चाहिए। जिस क्रम और जिस रीति से मनुष्य-जाति ने शिक्षा पाई है उसी क्रम और उसी रीति से बच्चों को शिक्षा देना चाहिए। शिक्षा का स्वाभाविक तरीक़ा यही है। शुरू शुरू में मनुष्य ने हर एक चीज़ को प्रत्यक्ष देख कर उसके विषय का ज्ञान प्राप्त किया था। यह नहीं कि उसका वर्णन पहले पढ़ा हो और उसके रूप, रंग और गुण का प्रत्यक्ष ज्ञान

अन्त में स्पेन्सर ने उन दो महत्त्वपूर्ण बातों पर विचार किया है जिनकी लोग सबसे अधिक अवहेलना करते हैं। उनमें से पहली बात यह है कि शिक्षा इस तरह दी जाय जिसमें बिना अध्यापक और माँ-बाप की मदद के बुद्धि का विकास आपही आप होता जाय। दूसरी बात यह है कि शिक्षा का क्रम ऐसा हो कि उससे बच्चों का मनोरञ्जन होता जाय और पढ़ने लिखने से उन्हें घृणा होने के बदले आनन्द की प्राप्ति हो। इन बातों को ध्यान में रख कर दी गई शिक्षा से जो लाभ होते हैं उनका स्पेन्सर ने इस ख़ूबी से वर्णन किया है कि हम उसकी तारीफ़ नहीं कर सकते। उसकी तर्कना-प्रणाली में कुछ ऐसी मोहिनी शक्ति है कि उसका कथन हृदय में प्रवेश कर जाता है और सारी शङ्काओं का एकदम समाधान हो जाता है। उसके लेख को पढ़ने पर फिर कोई शङ्का नहीं रह जाती और मन में यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि जो कुछ यह कह रहा है सब सच है।

तीसरे प्रकरण

में स्पेन्सर ने नैतिक शिक्षा का विचार किया है। पहले उसने वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में बच्चों के पालन-पोषण और नैतिक शिक्षण की दुरवस्था को देख कर खेद प्रकट किया है। बच्चों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए—उन्हें किस तरह सदाचरणशील बनाना चाहिए—इस बात का जानना बहुत ज़रूरी है। यह नहीं कि जिसके जी में जैसा आवे वह अपने लड़के लड़कियों से वैसा ही व्यवहार करे। इस समय इस शिक्षण के विषय मे कोई नियमही निश्चित नहीं। प्रत्येक माँ और प्रत्येक बाप का "पेनल कोड" या "धर्म्मशास्त्र" जुदा जुदा है। जैसी सज़ा उनके जी में आती है वैसी ही वे देते हैं। एक ही अपराध के लिए कभी एक तरह की सजा देते हैं, कभी दूसरे तरह की। कभी कुछ हुक्म देते हैं, कभी कुछ। जो हुक्म आज देते हैं उसे कल रद कर देते हैं। पहले कहते हैं, यदि तुम ऐसा काम फिर करोगे तो मारे जावेगे। पर जब बच्चे उस काम को करते हैं तब मारना भूल जाते हैं। अतएव बच्चों को यही नहीं मालूम होता कि उन्हें क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए। इस सारी अव्यवस्था का कारण

माँ-बाप की अविचार-शीलता है—यह सिर्फ़ उनकी नासमझी का कारण है। यदि उनको मदरसे में इस बात की शिक्षा दी जाती कि लड़कों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए तो कदापि उनसे ऐसी ग़लतियाँ न होतीं।

नैतिक शिक्षा समाज की स्थिति के अनुसार होती है। समाज की जैसी अवस्था होती है, कुटुम्ब की भी वैसी ही अवस्था होती है। एकदम से नैतिक सुधार नहीं हो सकता। कुटुम्ब-व्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाली और और बातों के सुधार के साथ साथ मनुष्य के स्वभाव में भी सुधार होता जाता है—उसकी सदाचरण-शीलता में भी उन्नति होती जाती है। अतएव जब तक माँ-बाप सदाचरण-शील न होंगे तब तक उनकी सन्तति भी सदाचरण-शील नहीं हो सकती; क्योंकि माँ-बाप के गुण-दोष परम्परा से सन्तति को प्राप्त होते हैं। पिता क्रोधी होने से पुत्र भी थोड़ा बहुत ज़रूर क्रोधी होता है। जिस देश या जिस समाज में शिक्षा का विशेष प्रचार होता है उसमें नीतिमत्ता की भी विशेषता होती है। नीति और सभ्यता का जोड़ा है। सभ्यता जितनी ही अधिक होगी लोगों के नैतिक आचरण उतने ही अधिक उन्नत होंगे। इसी से जो समाज जितना कम सभ्य है उसके साथ उतना ही अधिक कठोरता का बर्ताव करना पड़ता है। असभ्य जंगली जातियों को मधुर और कोमल शब्दों में नैतिक उपदेश देने से काम नहीं चल सकता। उनको सुमार्ग पर लाने के लिए—उन्हें सदाचार सिखलाने के लिए—कठोर शासन का प्रयोग किये बिना कामयाबी नहीं हो सकती। परन्तु सभ्य और सुशिक्षित लोगों को सदाचार की शिक्षा देने के लिए बेत उठाने या और कोई शारीरिक दण्ड देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। तात्पर्य यह कि अपनी अपनी स्थिति के अनुसार नैतिक शिक्षा का क्रम जुदा जुदा होता है।

माँ-बाप की स्थिति जैसी होती है बच्चों की भी वैसी ही होती है। असभ्य लोगों की संतति भी असभ्य होती है। इससे उसके साथ कठोर बर्ताव करना पड़ता है। पर सभ्य आदमियों की सन्तति के साथ वैसा बर्ताव नहीं करना पड़ता। उनके साथ कोमल बर्ताव करने ही से काम निकल जाता है। जैसे जैसे समाज की दशा सुधरती जाती है, बच्चों के स्वभाव में भी सुधार होता जाता है। अतएव सब लोगों के लिए एक तरह

के नैतिक नियम नहीं बनाये जा सकते। अपनी अपनी स्थिति के अनुसार इन नियमों में परिवर्तन होना चाहिए।

स्पेन्सर साहब प्राकृतिक नियमों के बड़े कायल हैं। आपको बनावटी बातों से घृणा है। नैतिक शिक्षा के विषय में भी आपका सिद्धान्त है कि सब लोगों को प्रकृति ही की नकल करनी चाहिए। जितने नैतिक अपराध हैं सबके लिए कुदरती ही सज़ा मुनासिब सज़ा है। आग पर हाथ रखने से हाथ ज़रूर जल जाता है। चाहे कोई जितने बार आग पर हाथ रक्खे सज़ा वही मिलती है। हर बार हाथ जले बिना नहीं रहता। अतएव प्रकृति की यह अटल और निश्चित दण्ड देते देख बच्चे कभी आग नहीं छूते। माँ-बाप को चाहिए कि वे भी इस नियम में प्रकृति का अनुकरण करें—कुदरत को अपना पथदर्शक मानें। जो बात वे लड़कों से कहें उसे ज़रूर करें। यदि वे दण्ड देने की धमकी दें, तो ज़रूर दण्ड दें, जिसमें बच्चों को विश्वास हो जाय कि हमारे माँ-बाप जो कुछ कहते हैं वही करते भी हैं। उनकी बात कभी मिथ्या नहीं होती। इस तरह का विश्वास बच्चों के दिल पर जम जाने से वे कभी माँ-बाप की आज्ञा उल्लंघन न करेंगे। माँ-बाप को भी चाहिए कि सोच समझ कर आज्ञा दें। जहाँ तक हो सके कोई कड़ी आज्ञा न दें, कोई कठोर दण्ड देने की धमकी न दें। पर यदि निरुपाय होकर वैसा करना पड़े तो प्रकृति की तरह निर्दयता के साथ उसे कर भी दिखावें, जिसमें लड़कों को यह ख़याल न हो कि हमारे माँ-बाप यों ही धमकी दे दिया करते हैं, उसे पूरी नहीं करते। अतएव उनकी आज्ञा उल्लंघन करने से हमारी कोई हानि नहीं हो सकती।

इसके आगे स्पेन्सर ने अस्वाभाविक दण्डों की निन्दा और प्राकृतिक दण्डों की प्रशंसा उदाहरणपूर्वक की है। उसने ऐसे ऐसे व्यावहारिक और अनुकूल उदाहरण देकर अपने सिद्धान्त को प्रमाणित किया है कि उन्हें सुन कर फिर कोई शङ्का नहीं रहजाती। पहले उसने प्राकृतिक दण्डों के सुपरिणाम सोदाहरण दिखला कर कृत्रिम दण्डों की हानियाँ बतलाई हैं। फिर प्राकृतिक शिक्षा से होनेवाले लाभ दिखला कर कृत्रिम दण्डों का नुकसान बड़ी ही मनोरञ्जक युक्ति से वर्णन की है। अन्त में उसने यह

सिद्धान्त निकाला है कि बच्चों का अपराध चाहे थोड़ा हो चाहे बहुत, हर
हालत में, उन्हें प्राकृतिक ही दण्ड देना चाहिए । यदि वे चाकू खो दें तो
उन्हीं के जेब-ख़र्च से एक नया चाकू ख़रीद कराना चाहिए । यदि वे अपना
कोट फाड़ डालें तो जब तक मामूली तौर पर नया कोट बनवा देने का वक़्
आवे तब तक उन्हें फटा ही कोट पहने रहने देना चाहिए । यदि वे
पने खिलौने अलल्लल कर दें—घर में इधर उधर फेंक दें—तो उन्हीं से
को उठवाना चाहिए । और यदि न उठावें तो, जब तक वे अपनी हठ
ड़ें तब तक, वे चीज़ें उन्हें खेलने को न मिलें ।

स्पेन्सर की राय है कि बच्चों के साथ कभी कठोरता का व्यवहार न
ना चाहिए । माँ-बाप को चाहिए कि वे अपने लड़के लड़कियों से मित्रवत्
ार करें । कठोरता का व्यवहार करने से बहुत हानि होती है और
ता का व्यवहार करने से बहुत लाभ । यदि प्रसन्नता अथवा क्रोध
रने का कारण न्याय्य हो तो वैसा करना अनुचित नहीं । पर बच्चों
ना प्रभुत्व दिखा कर उनसे आज्ञा-पालन कराना मुनासिब नहीं ।
लिए यह बहुत ज़रूरी बात है कि अपना शासन आपही करने
ता सम्पादन करने के लिए बचपन ही से वे भले-बुरे परिणामों का
ान करें । लड़कों में हठ और स्वेच्छाचार को देख कर बुरा न
हिए । क्योंकि ये बातें स्वाधीनता के अङ्कुर हैं । प्रकरण के अन्त
नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में कई एक बहुत ही लाभदायक
र यह सिद्ध किया है कि प्राकृतिक शिक्षा-पद्धति माँ-बाप और
हों के लिए मङ्गल-कारिणी है ।

चौथे प्रकरण

क शिक्षा का वर्णन है । इसका आरम्भ इस तरह किया गया
कर आदमियों को नादानी पर क्रोध भी आता है, दुःख
कभी कभी हँसी भी आजाती है । स्पेन्सर ने लिखा है कि
ल, भेड़, घोड़े और सुवर तक (याद रखिए, यह इँगलिस्तान
ने, पीने का ख़ूब प्रबन्ध करते हैं; ख़ुदही उनको देख-भाल

भी करते हैं; और ख़ुदही इस बात को भी हमेशा देखते रहते हैं कि किस तरह का खाना खिलाने से वे ख़ूब मोटे ताज़े होंगे। परन्तु अपने बच्चों को अच्छी तरह पालने-पोसने और खिलाने-पिलाने की वे ज़रा भी परवा नहीं करते। वे कभी इस बात की जांच नहीं करते कि हमारे बच्चे जो चीज़ें खाते हैं, जो कपड़े पहनते हैं, जिन कमरों में रहते हैं वे उनके लायक हैं या नहीं। घोड़ों और सुवरों की, इस विषय में, उन्हें अधिक परवा रहती है; अपने बच्चों की बहुधा कुछ भी नहीं! यह कितने आश्चर्य की बात है! इस इतने महत्त्व के काम को वे लोग स्त्रियों और दाइयों पर छोड़ देते हैं। इसके बाद स्पेन्सर ने यह दिखलाया है कि जीवन-निर्वाह के कामों में मेहनत बढ़ती जाती है। उसे सहने और ख़ूब काम कर सकने के लिए सुदृढ़ शरीर की बड़ी ज़रूरत है। अतएव शरीर को मज़बूत बनाने के लिए कोई बात उठा न रखनी चाहिए। जैसे और सब विषयों में विज्ञान सबसे अधिक काम आता है वैसे ही शारीरिक सुधार में भी विज्ञान की मदद दरकार है। लड़कों की शारीरिक शिक्षा वैज्ञानिक सिद्धान्तों ही के अनुसार होनी चाहिए।

इसके आगे स्पेन्सर ने खाने-पीने का विचार किया है। उसकी राय है कि भूखे रहने की अपेक्षा अधिक खा जाना अच्छा है। यह बात ऊपर से देखने में ज़रा अश्रद्धेय मालूम होती है, पर स्पेन्सर ने अपने सिद्धान्त के पक्ष में बड़े ही दृढ़ प्रमाण दिये हैं। उनको पढ़ कर उसकी बात पर श्रद्धा उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। उसने लिखा है कि खाने-पीने में बच्चों की रोक-टोक कभी न करना चाहिए। उनको भूख भर खा लेने देना चाहिए। भोजन का परिमाण निश्चित नहीं किया जा सकता। क्षुधा ही उसकी सच्ची माप है। खाने के विषय में पशु, पक्षी, मनुष्य—बाल, वृद्ध, युवा—सबकी मार्गदर्शक एक मात्र क्षुधा है।

जो जानवर पौष्टिक ख़ुराक खाते हैं—उदाहरणार्थ घोड़े—वे ख़ूब चुस्त और चालाक होते हैं। घास-पात आदि अपौष्टिक ख़ुराक खाने वाले जानवरों से मेहनत भी वे अधिक कर सकते हैं। यही नियम मनुष्यों के विषय में भी होना चाहिए। क्योंकि वैज्ञानिक नियम जीवधारी मात्र के लिए

एक से होते हैं। अतएव बच्चों को पौष्टिक भोजन देना चाहिए; पर इसका ख़याल रखना चाहिए कि वह भोजन ऐसा हो कि जल्द हज़म हो जाय। बच्चों को हमेशा एक ही तरह का भोजन न देना चाहिए। उसमें हमेशा फेर-फार करते रहना चाहिए। और, हर दफ़े, खाना खाते समय, कई तरह की चीज़ें खिलानी चाहिए। नई नई चीज़ें खाने से लड़कों का चित्त प्रसन्न रहता है; खाना जल्द हज़म हो जाता है; और रुधिराभिसरण अच्छी तरह होता है। यह क्या कम लाभ है?

खाने-पीने की तरह बच्चों के कपड़े-लत्ते की तरफ़ भी लोगों का बहुत कम ध्यान है। सरदी, गरमी का ख़याल रख कर बच्चों को कपड़े न पहनाने से ज़रूर हानि होती है। सरदी में बदन खुला रहने से आदमी का क़द छोटा हो जाता है। विज्ञान इस बात का प्रमाण है कि शरीर से अधिक गरमी निकलने ही से आदमी ठिंगना हो जाता है। बड़े आदमियों की अपेक्षा लड़कों को गरमी पैदा करने वाली चीज़ें दूनी खानी चाहिए; और शरीर को भी ख़ूब गरम रखना चाहिए। यथेष्ट कपड़ा न पहनाने से या तो बच्चों की बाढ़ कम हो जाती है, या उनके शरीर की बनावट को हानि पहुँचती है। बच्चों के कपड़ों के विषय में चार बातों का ख़याल रखना चाहिए। यथा:—

(१) बच्चों के कपड़े न तो इतने ज़ियादह हों कि बहुत गरमी के कारण उन्हें तकलीफ़ मालूम हो; और न इतने कम ही हों कि उन्हें सरदी लगे। कपड़े ऐसे होने चाहिए कि साधारण तौर पर सरदी की बाधा बच्चों को न हो।

(२) महीन कपड़े अच्छे नहीं। कपड़े मोटे होने चाहिए जिसमें शरीर की गरमी बाहर न निकल सके।

(३) कपड़े मज़बूत हों—इतने मज़बूत कि बच्चे चाहे जितना खेलें कूदें न वे फटें और न घिसें।

(४) कपड़ों का रङ्ग ऐसा होना चाहिए कि पहनने और धुलने रहने से वह उड़ न जाय।

इसके आगे स्पेन्सर ने व्यायाम के विषय पर बहस की है। आपने लड़के और लड़कियों, दोनों, के लिए कसरत करने की बहुत बड़ी ज़रूरत बत-

लाई है और यह लिखा है कि लड़कों के लिए तो मदरसों में कसरत का प्रबन्ध है भी, पर लड़कियों के लिए बिलकुल ही नहीं है। लोग यह समझते हैं कि लड़कियों को लड़कों की तरह खेलने-कूदने और कसरत करने देने से बड़ी होने पर उनकी शालीनता में बाधा आ जायगी। यह उनकी भूल है। क्या बचपन में दौड़ने-धूपने और उछलने-कूदने वाले लड़के वयस्क होने पर अक्खड़ और अशिष्ट हो जाते हैं? कभी नहीं। अतएव लड़कियों के लिए भी आरोग्य-वर्द्धक व्यायाम का प्रबन्ध होना चाहिए। कृत्रिम उपायों से उन्हें अशक्त, सुकुमार और भीरु बनाना बहुत बुरा है। मदरसों में जो "जिमनास्टिक" की शिक्षा दी जाती है वह उतनी लाभ-दायक नहीं जितना कि स्वाभाविक खेल-कूद लाभ-दायक है। खेल-कूद को रोकना मानों शरीर-वृद्धि के लिए ईश्वर-दत्त साधनों को रोकना है। हाँ, खेल-कूद के साथ यदि "जिमनास्टिक" भी हो तो उससे लाभ हो सकता है। पर सिर्फ़ "जिमनास्टिक" पर ही अवलम्बन करना अच्छा नहीं।

इसके आगे स्पेन्सर ने एक परमोपयोगी विषय पर विचार आरम्भ किया है। इस विचार में उसने यह साबित कर दिखाया है कि आज कल के आदमी अपने पूर्वजों की अपेक्षा कम शक्ति रखते हैं और वर्तमान पीढ़ी को देखने से मालूम होता है कि हम लोगों की सन्तति हम से भी अधिक अशक्त होगी। इसका प्रधान कारण उसने मानसिक श्रम की अधिकता बतलाया है। बहुत अधिक मेहनत करने से पिता की शरीर-प्रकृति बिगड़ जाती है। इससे उसकी सन्तति भी अशक्त होती है। इसके आगे स्पेन्सर ने *एक लड़कियों के मदरसे के, और एक नव-युवकों के नार्मल-स्कूल के,* शिक्षा-क्रम का वर्णन करके विद्यार्थियों की शारीरिक दुर्दशा का बड़ा ही हृदय-द्रावक चित्र खींचा है। उसने दिखाया है कि विद्यार्थियों को इतना मान-सिक श्रम करना पड़ता है कि उनका शरीर रोगों का घर हो जाता है और उनका सारा जीवन दुःखमय बन जाता है। यही नहीं, किन्तु उनकी सन्तति भी उन्हीं की सी अशक्त और रोगी पैदा होती है। जो लोग अपने शरीर को कुछ भी परवा न करके विश्वविद्यालय की ऊँची ऊँची परीक्षाओं को पास करना ही अपने जीवन का उद्देश समझते हैं उनकी सारी आशाओं पर

पानी पड़ जाता है। क्योंकि जब उनका शरीर ही रोग का घर हो जायगा तब उनको अपनी ऊँची शिक्षा से लाभ ही क्या होगा ? उनका सारा श्रम प्रायः व्यर्थ जायगा। और, यदि, उससे लाभ भी होगा तो बहुत कम। यहाँ पर स्पेन्सर ने अधिक मानसिक श्रम करने से होने वाली हानियों का ऐसा हृत्कम्पकारी वर्णन किया है और खुद अपना तजरिबा बयान करके अपने कथन को इस योग्यता से सप्रमाण सिद्ध किया है कि उसके पढ़ने से दुःख, शोक और क्रोध से मन का अजब हाल हो जाता है। उस समय यह ख़याल चित्त में जम जाता है कि भारतवर्ष में छोटे छोटे बच्चों से जो इतना अधिक मानसिक परिश्रम मदरसों में लिया जाता है उससे वे बेचारे बिलकुल ही पिस जाते हैं। अतः उनके शरीरारोग्य की दुर्दशा तो होती ही है उनको भावी, और सर्वथा निरपराध, सन्तति को भी उनके कारण अनेक आपदायें झेलनी पड़ती हैं। यह विषय बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसका विचार यदि शिक्षा-विभाग के अधिकारी न करें तो कुछ बस की बात नहीं। पर समझदार लड़कों और उनके माँ-बाप या रक्षकों को तो अवश्य ही करना चाहिए। जिन स्कूलों या मदरसों से गवर्नमेंट का कुछ भी सम्बन्ध नहीं उनके अधिकारियों को भी स्पेन्सर की बातों का विचार कर के लड़कों को अधिक मानसिक श्रम की हानियों से बचाने की ज़रूर चेष्टा करनी चाहिए।

अधिक दिमाग़ी मेहनत से होने वाले भयङ्कर परिणामों का वर्णन करके स्पेन्सर ने तोते की तरह रटने के अनेक दोष दिखलाये हैं। इसके बाद उसने यह सिद्ध किया है कि आज कल की बलात्कारपूर्ण शिक्षा-प्रणाली से लड़कों की अपेक्षा लड़कियों को अधिक हानि पहुँचती है। क्योंकि, लड़कों से तो कुछ व्यायाम भी कराया जाता है, पर लड़कियों से बिलकुल ही नहीं। इससे वे पाण्डुवर्ण कुबड़ी और जन्म-रोगिणी हो जाती हैं। फिर उसने यह दिखलाया है कि स्त्रियों की विद्वत्ता को देख कर पुरुष उन पर मोहित नहीं होते। मोहित होते हैं उनकी सुघरता, उनके सुस्वभाव और उनके चातुर्य आदि को देख कर। अतएव इस इरादे से उनको विद्या-विद्यालय की श्रमसाध्य शिक्षा दिलाना कि उनको अच्छा वर मिले, व्यर्थ

है। विद्योपार्जन करना उत्तम है, पर उसके कारण शरीर रोगी न होना चाहिए। यदि शरीर ही अयल, रोगी और कुरूप हो गया तो ऊँची शिक्षा बहुत कम लाभ-दायक हो सकती है।

वर्तमान शारीरिक शिक्षा-पद्धति में स्पेन्सर ने चार दोष दिखला कर पुस्तक समाप्त की है। यथाः—

(१) बच्चों को पेट भर खाना नहीं दिया जाता।

(२) उन्हें काफ़ी तौर पर कपड़ा पहनने को नहीं मिलता।

(३) उनसे (कम से कम लड़कियों से) काफ़ी कसरत नहीं कराई जाती।

(४) उनसे बहुत अधिक दिमाग़ी मेहनत ली जाती है।

शारीरिक शिक्षा को तुच्छ समझने और मानसिक शिक्षा को इतना महत्त्व देने का कारण वर्तमान सामाजिक उन्नति है। अब लोगों को शारीरिक शक्ति की बहुत कम ज़रूरत है, क्योंकि सब कहीं शान्ति का साम्राज्य है। अब लड़ाई और दङ्गे-फ़साद करने का ज़माना नहीं। अब तो जितने सामाजिक काम हैं सबकी कामयाबी मनुष्यों के बुद्धि-बल ही पर अवलम्बित है। इसीसे मानसिक शिक्षा का इतना ज़ोर है। परन्तु आरोग्य-रक्षा मनुष्य का कर्त्तव्य है और शरीरारोग्य-सम्बन्धी नियमों को तोड़ना पाप है। जब तक ये बातें लोगों के ध्यान में अच्छी तरह न आवेंगी तब तक वे अपने बच्चों की शरीर-रक्षा का यथेष्ट उपाय न करेंगे।

शिक्षा।

पहला प्रकरण।

संसार में कौनसी शिक्षा सबसे अधिक उपयोगी है।

कपड़े-लत्ते की अपेक्षा सिंगार की प्रधानता।

यह कहना बहुत ठीक है कि, समय के हिसाब से, लोगों का ध्यान सिंगार, शोभा, या सजावट की तरफ़ पहले जाता है, कपड़े-लत्ते की तरफ़ पीछे। जो लोग अपने बदन को सुई से गुदवा कर सिर्फ़ इसलिए बेहद तकलीफ़ उठाते हैं कि वे ख़ूबसूरत देख पड़ें वही सर्दी-गर्मी की बहुत बड़ी तकलीफ़ों को सह लेते हैं; पर उनसे बचने की कुछ भी कोशिश नहीं करते। जरमनी के रहनेवाले हम्बोल्ट नाम के प्रवासी ने एक जगह लिखा है कि दक्षिणी अमेरिका की ओरिनोको नदी के आस-पास रहनेवाले असभ्य आदमी अपने शरीर-सुख की तो बिलकुल परवा नहीं करते; परन्तु दस-पन्द्रह दिन तक वे इसलिए मेहनत-मजदूरी करते हैं कि उससे जो कुछ उन्हें मिले उससे वे रंग इत्यादि मोल लेकर अपने बदन को रँग कर लोगों से वाहवाही लें। इसी तरह इन असभ्य आदमियों की जो स्त्री बदन पर सूत का एक धागा भी न डाल कर दिगम्बर रूप में अपनी झोपड़ी से बाहर निकलते ज़रा भी नहीं शरमाती, वही अपने बदन को रँगे बिना बाहर आने का साहस नहीं करती। वह यह समझती है कि बदन पर रंग से सिंगार किये बिना घर से बाहर निकलना शिष्टता के नियमों का उल्लंघन करना है। समुद्र के रास्ते प्रवास करनेवाले प्रवासियों को मालूम है कि असभ्य

जङ्गली आदमी कपड़ों—छींट और थानाव इत्यादि—को उतना पसन्द नहीं करते जितना कि वे कांच के रंगीन मनकों और रांगे के छोटे मोटे गहनों को पसन्द करते हैं। इन चीज़ों की अपेक्षा कपड़े की वे बहुत ही कम क़दर करते हैं, अगर इन जङ्गली आदमियों को कोई कोट, कमीज़ या कुर्ता दे तो वे उसे पहनते नहीं, किन्तु उससे वे अपने बदन को इस बुरी तरह से सजाते हैं जिसे देख कर हँसी आती है। इससे यह बात अच्छी तरह साबित है कि इन लोगों का ध्यान फ़ायदे की तरफ़ कम जाता है, सिंगार या सजावट की तरफ़ अधिक। सिंगार के सामने फ़ायदे को वे कुछ समझते ही नहीं। सिंगार ही को अपना सर्वस्व समझते हैं। ये उदाहरण तो कोई चीज़ ही नहीं; इनसे भी विशेष विलक्षण उदाहरण मिलते हैं। उन्नीमवें शतक के मध्य में कप्तान स्पीक नाम का एक प्रवासी इँगलैंड में हो गया है। उसने अफ़्रीका के रहनेवाले अपने असभ्य नौकरों के विषय में लिखा है कि आसमान साफ़ रहने पर, अर्थात् धूप मे, तो वे बकरी की खाल के अपने अँगरखे पहने हुए बाहर अकड़ते फिरते थे; पर बरसते में वे उन्हें तह करके रख देते थे और नंगे बदन कांपते हुए पानी में घूमा करते थे! जङ्गली आदमियों की रीति-रस्म और चाल-ढाल से जान पड़ता है कि कपड़े पहनने की रीति सिंगार या सजावट ही से निकली है। अर्थात् उन्नति होते होते सिंगार ही ने वस्त्राच्छादन का रूप धारण किया है—सिंगार ही को देख कर बदन को कपड़े से ढकने की कल्पना मनुष्यों के मन में पैदा हुई है। असभ्य जङ्गली आदमियों की बात जाने दीजिए। सभ्य कहलानेवाले ख़ुद हम लोगों में से अधिक आदमी आज कल भी कपड़े के गरम और मज़बूत होने की अपेक्षा उसके महीन होने की तरफ अधिक ध्यान देते हैं। कपड़े से आराम मिले या न मिले, पर काट अच्छा होना चाहिए। जब हम देखते हैं कि इस समय भी लोगों का ध्यान दिखाव की तरफ़ इतना अधिक है, पर आराम और उपयोगिता की तरफ़ इतना कम, तब वस्त्राच्छादन, अर्थात् पोशाक, की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे हमें एक और प्रमाण मिल जाता है। इन प्रमाणों से साबित है कि सिंगार से ही कपड़े-लत्ते पहनने की कल्पना मनुष्यों को हुई है।

२—मन से सम्बन्ध रखने वाली बातों में भी फ़ायदे का कम ख़याल किया जाता है, दिखाव का अधिक।

आश्चर्य है कि मन की भी यही दशा है। शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली बातों की तरह मन से सम्बन्ध रखनेवाली बातों में भी फ़ायदे का कम ख़याल किया जाता है। शोभा या दिखाव का अधिक, देखने में जो बात अधिक अच्छी मालूम होती है उसी की लोग अधिक परवा करते हैं। पुराने ज़माने ही में नहीं, आज कल भी, जिस ज्ञान या जिस विद्या के कारण आदमियों की नज़र में मनुष्य की प्रतिष्ठा बढ़ती है, उसी की तारीफ़ होती है, उसी की तरफ़ लोग अधिक ध्यान देते हैं; हानि-लाभ का वे ख़याल नहीं करते। किस विद्या, या किस ज्ञान, की उपयोगिता अधिक है—इस बात की तो लोग परवा नहीं करते, परवा करते हैं सिर्फ़ वाहवाही पाने की। ग्रीस अर्थात् यूनान के मदरसों में गाना-बजाना, कविता, अलङ्कार-शास्त्र और तत्त्वज्ञान की शिक्षा सबसे अच्छी शिक्षा समझी जाती थी। साक्रेटिस (सुक़रात) नाम का विद्वान् वहाँ बहुत बड़ा तत्त्वज्ञानी हो गया है। उसके पहले तो तत्त्वज्ञान की विद्या का ऐहिक, अर्थात् लौकिक, कामों में कुछ भी उपयोग न होता था। लोग समझते थे कि ऐसे कामों से उसका कुछ सम्बन्ध ही नहीं। पर, सुन कर आश्चर्य होता है, संसार में जो बातें अधिक काम में आती हैं—मनुष्य के जीवन से जिस विद्या और शिक्षा का अधिक सम्बन्ध रहता है—उनकी तरफ़ लोगों का बहुत ही कम ध्यान था। वे उनको बहुत ही कम महत्त्व या ज़रूरत की समझते थे। और आज कल की क्या हालत है? आज कल भी हमारे विश्वविद्यालयों और स्कूलों में वही पुरानी लकीर पीटी जाती है: वही पुरानी बातें सिखलाने की तरफ़ अधिक ध्यान दिया जाता है। इन विद्यार्थियों में से सौ विद्यार्थी, स्कूल और कालेजों में पढ़ लिख कर निकलने पर, अपनी लैटिन, ग्रीक और संस्कृत भाषाओं का व्यावहारिक बातों में कुछ भी उपयोग नहीं करते। अर्थात् कामकाज में वे लोग उनसे कुछ भी फ़ायदा नहीं उठाते। यह ऐसी बात नहीं जिसे बतलाने की ज़रूरत हो। इसे कौन नहीं जानता? व्यापार करने, दफ़्तर में लिखने पढ़ने,

अपने घर या ज़मींदारी का काम-काज चलाने, किसी रेल या बैंक का प्रबन्ध करने वगैरह में, बरसों दिन-रात मेहनत करके सीखी गई इन भाषाओं से किसी विद्यार्थी को क्या कुछ भी मदद मिलती है ? क्या उसे इनसे कुछ भी फ़ायदा पहुँचता है ? यदि पहुँचता भी है तो बहुत कम—इतना कम कि, कुछ दिनों में, इन भाषाओं के ज्ञान के अधिक अंश को वह बिलकुल ही भूल जाता है। और यदि कभी कोई बात-चीत करते या व्याख्यान देते समय एक आध लैटिन या संस्कृत-वाक्य कह डालता है अथवा प्राचीन देश की किसी पौराणिक आख्यायिका का हवाला दे देता है, तो वर्तमान विषय को अधिक स्पष्ट करने के इरादे से वह ऐसा कम करता है, अपनी विद्वत्ता दिखलाने के इरादे से अधिक। जिस विषय पर वह कुछ कह रहा है उसे ग्रीक, लैटिन या संस्कृत के वाक्यों की सहायता से सुननेवालों को ख़ूब समझा देने की अपेक्षा उनको सुना कर अपनी पण्डिताई प्रकट करना ही उसका प्रधान उद्देश रहता है। मतलब यह कि सुननेवालों पर असर पड़ना चाहिए; विषय उनकी समझ में आवे या न आवे। ख़ूब समझा देने का परवा लोगों को कम रहती है; क़िस्से-कहानी कह कर सुननेवालों पर अपनी बात का असर डालने की अधिक। सब लोग अपने लड़कों को ये पुरानी भाषायें क्यों सिखलाते हैं ? विचार करने से इसका कारण यह मालूम होता है कि आदमियों को सर्व-साधारण, अर्थात् समाज, की पसन्द का काम करना अच्छा लगता है। जब कोई यह देखता है कि और लोग अपने लड़कों को पुरानी भाषायें पढ़ाते हैं तब वह, उपयोगिता और हानि-लाभ का विचार न करके अपने लड़कों को भी वही भाषायें पढ़ाने लगता है। मेरा मतलब यह कि और लोगों की नजर में हमारे लड़के भी विद्वान और प्रतिष्ठा-पात्र समझे जायँ। इसके सिवा इन पुरानी भाषाओं के सिखलाने का और कोई कारण नहीं देख पड़ता। लोकरीति के अनुसार जिस समय जिस तरह के कपड़े-लत्ते पहनने की चाल होती है उसी तरह के कपड़े-लत्ते लोग पहनते हैं। यही हाल पढ़ाने लिखाने का भी है। इसमें भी लोग लोकरीति की नकल करते हैं। अपने लड़कों के मन का [illegible] उसी तरह औरों को देख कर पढ़ाते हैं जिस तरह कि वे

अपने बदन को ढकने के लिए मामूली कपड़े-लत्ते पहनते हैं। ओरीनोको के जंगली आदमी अपनी झोपड़ियों से बाहर निकलने के पहले अपने बदन को रँग लेते हैं। यह काम क्या वे किसी तरह का फ़ायदा समझ कर करते हैं? नहीं, फ़ायदे का उन्हें कुछ भी ख़याल नहीं होता। वे अपने बदन को सिर्फ़ इसलिए रँगते हैं, कि बेरँगे हुए बाहर निकलने में उन्हें शरम लगती है। इसी तरह लैटिन, ग्रीक या संस्कृत की शिक्षा जो लड़कों को दी जाती है, इस ख़याल से नहीं दी जाती, कि इससे उनको कुछ फ़ायदा पहुँचेगा; किन्तु इस ख़याल से दी जाती है कि यदि ये भाषायें हमारे लड़कों को न आवेंगी तो लोग यह समझेंगे कि उनको विद्या पूरी ही नहीं हुई। माँ-बाप को इस बात का हौसला रहता है कि लोग उनके लड़कों को सुशिक्षित कहें; तब कहीं उनका आदर हो; कोई उनको तुच्छ दृष्टि से न देखे। इन भाषाओं का पढ़ाना लड़कों को मानो सुशिक्षा और सभ्यता की सनद देना है।

३—स्त्रियों की शिक्षा में बाहरी दिखाव पर और भी अधिक ध्यान दिया जाता है।

स्त्रियों की शिक्षा के विषय में तो यह बात और भी अधिक स्पष्टता से देखी जाती है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कपड़े-लत्ते आदि से अपने बदन को सजाने और सिंगारने की ओर भी अधिक चाव है। हानि-लाभ का ख़याल न करके जिस तरह वे अपने बदन के सिंगार की तरफ़ अधिक ध्यान देती हैं उसी तरह वे अपने मन को भी, औरों की देखादेखी, सिर्फ़ उसे सिंगारने ही के इरादे से, शिक्षित करती हैं। पुराने ज़माने में स्त्री और पुरुष दोनों को अपने अपने बदन सिंगारने का एक ही सा ख़याल था। अर्थात् इस विषय में कोई एक दूसरे से कम न था। पुरुषों को अपने अपने बदन सजाने और सिंगारने का उतना ही शौक़ था जितना कि स्त्रियों को था। परन्तु जैसे जैसे शिक्षा और सभ्यता बढ़ती जाती है वैसे वैसे आद-मियों के पहरावे में सुधार होता जाता है। अब लोगों को यह ख़याल होने लगा है कि कपड़े सादे हुए तो चिन्ता नहीं; पर उनसे आराम मिलना

चाहिए। हानि-लाभ और आराम का ख़याल अब लोगों को अधिक है; सजाव और सिंगार का कम। इसी तरह आदमियों की शिक्षा में उपयोगिता का ख़याल बाहरी दिखाव के ख़याल की अपेक्षा अधिक किया जाने लगा है। परन्तु स्त्रियों की हालत पहले ही की सी बनी हुई है। न बदन के सिंगारने के विषय में स्त्रियों में कोई सुधार हुआ और न मन ही के। कानों में बालियाँ और बाले, उँगलियों में छल्ले और अँगूठियाँ, और हाथ में कंगन पहनना; सिर की बेनी को बड़ी सफ़ाई से सँवारना; अब भी, कभी कभी, तरह तरह के रंग लगाना; ख़ूब चित्ताकर्षक और रंग बिरंगे कपड़े पहनना—इत्यादि स्त्रियों की बातों पर विचार करने से यह अच्छी तरह साबित होता है कि स्त्रियों को हानि-लाभ की परवा की अपेक्षा दिखाव और सिंगार की अधिक परवा है। अपने बदन को गरम रखने और आराम देने का उन्हें उतना ख़याल नहीं, जितना कि इस बात का है कि उन्हें दूसरे औरतें ख़ूब सुन्दर और सजी-बजी समझें। यही हाल स्त्रियों की शिक्षा का है। सुघरता की जितनी क़दर है; बैठने-उठने, बात-चीत करने और पहनने-ओढ़ने में लोक-रीति के अनुसार व्यवहार की बातें जानने की जितनी क़दर है; शिष्टाचार और सभ्यता का बर्ताव सीखने की जितनी क़दर है—और बातों की उतनी क़दर नहीं। दिखाव की जितनी क़दर है उपयोगिता या फ़ायदे की उतनी क़दर नहीं। इँगलैंड में स्त्रियों को गाना-बजाना आना चाहिए, नाचना आना चाहिए, तसवीर खींचना आना चाहिए, यहाँ तक कि बाक़ायदा बैठने-उठने और बात-चीत करने का ढंग भी आना चाहिए। न मालूम कितना समय इन सब बातों के सीखने में ख़र्च होता है। अगर कोई पूछे, कि इँगलैंड की स्त्रियों को इटली और जर्मनी की भाषायें क्या सिखलाई जाती हैं, तो कितने ही झूठे-सच्चे कारण बतलाये जा सकेंगे। पर उनमें से सबसे बड़ा सच्चा कारण यह है कि सिर्फ़ प्रतिष्ठा के ख़याल से स्त्रियों को इन भाषाओं के सीखने की ज़रूरत समझी जाती है। अर्थात् बिना इन भाषाओं को सीखे स्त्रियाँ समाज में आदरणीय ही नहीं समझी जातीं। इसी से उन्हें इन भाषाओं को सीखना पड़ता है। इन भाषाओं में जो पुस्तकें हैं उनको पढ़कर फ़ायदा उठाने के लिए स्त्रियाँ

जो वे भाषायें नहीं पढ़ाई जातीं। यह बात कोई कह भी नहीं सकता कि ऐसी किताबें पढ़कर स्त्रियों ने कभी फ़ायदा उठाया हो। और उठाया भी होगा तो शायद ही कभी किसी ने उठाया होगा। इन किताबों के पढ़ने का असल मतलब यह है कि स्त्रियां इटली और जर्मनी की भाषाओं में गीत गा सकें और उनके इस अनोखे कौशल की सब कहीं तारीफ़ हो—लोग आपस में आश्चर्य के साथ कानाफूसी करें। इसी तरह इँग्लैंड में स्त्रियां राजाओं के जन्म, मृत्यु, विवाह इत्यादि की, और ऐसी ही और भी छोटी मोटी ऐतिहासिक घटनाओं की तारीखें इस मतलब से नहीं याद करतीं कि उनके याद कर लेने से कुछ फ़ायदा होगा; किन्तु इसलिए कि लोगों की समझ में शिक्षित स्त्रियों को इन बातों का मालूम होना बहुत ज़रूरी है। स्त्रियों को यह ख़याल होता है—उनको इस बात का डर रहता है—कि यदि उन्हें इस तरह की ऐतिहासिक घटनाओं का ज्ञान न होगा तो लोगों की दृष्टि में वे गिर जायँगी—लोग उन्हें तुच्छ समझने लगेंगे। इँग्लैंड में आज कल लड़कियों को जितने विषय सिखलाये जाते हैं उनमें से लिखना, पढ़ना, इन्शा, व्याकरण, हिसाब और सुई का काम—बस इतने ही विषय ऐसे हैं जो व्यवहार में काम आते हैं, अर्थात् रोज़मर्रा के कामकाज में जिनका उपयोग होता है। इनमें से भी कुछ विषय ऐसे हैं जो निज के फ़ायदे के ख़याल से नहीं पढ़ाये जाते; किन्तु इस ख़याल से पढ़ाये जाते हैं कि और लोगों की राय में उनका पढ़ना अच्छा है।

२—शिक्षा के सम्बन्ध में बाहरी दिखाव की प्रधानता के कारण।

इस बात को अच्छी तरह समझने के लिए कि कपड़ेलत्ते की तरह
...द के सम्बन्ध में भी क्यों लोग फ़ायदे की अपेक्षा शोभा और सिंगार को
...क अधिक ध्यान देते हैं, हमें उसका मूल कारण जानना चाहिए। वह मूल
...ण यह है कि बहुत पुराने ज़माने से लेकर आज तक लोगों का झुकाव
...े निज की ज़रूरतों को दूर करने की अपेक्षा समाज की ज़रूरतों को दूर
...की तरफ़ अधिक रहा है। मानसिक ज़रूरतों का ख़याल लोगों को कम
...: समाज की ज़रूरतों का अधिक। मानसिक ज़रूरतें हमेशा सामाजिक

ज़रूरतों के तावे में रही हैं। जो बात अपने को अच्छी लगती है उसकी अपेक्षा समाज को जो अच्छी लगती है उसे करने की हर आदमी कोशिश करता है। अपनी इच्छा या अनिच्छा की परवा न करके, समाज की इच्छा के अनुसार बर्ताव द्वारा, वह उसके वश में रहना ही अपना सबसे बड़ा उद्देश समझता है। अथवा यह कहना चाहिए कि व्यक्ति पर समाज की सत्ता चलती है। समाज की जो राय होती है, व्यक्ति-मात्र को उसके सामने सिर झुकाना पड़ता है। लोगों का ख़याल है कि व्यक्ति—पृथक् पृथक् हर आदमी—पर सत्ता चलानेवाली, अर्थात् उसे अपने तावे में रखनेवाली, सिर्फ़ गवर्नमेंट है। अर्थात् सिर्फ़ गवर्नमेंट अपनी इच्छा के अनुसार बर्ताव कराने के लिए सब लोगों को मजबूर कर सकती है—फिर उस गवर्नमेंट की सत्ता चाहे किसी राजा के हाथ में हो, चाहे किसी पारलियामेंट के हाथ में हो, चाहे यथा-नियम मुक़र्रर किये गये किसी और अधिकारि-वर्ग के हाथ में हो। परन्तु यह ख़याल ठीक नहीं। जो लोग ऐसा समझते हैं वे ग़लती करते हैं। इस तरह की गवर्नमेंटें तो प्रसिद्ध ही हैं; पर इनके सिवा और भी बहुत सी अन्तर्गत गवर्नमेंटें हैं। इन दूसरी तरह की गवर्नमेंटों को लोग यद्यपि गवर्नमेंट के नाम से नहीं पुकारते, तथापि वे हर कुटुम्ब और हर समाज में पाई जाती हैं। प्रत्येक स्त्री और प्रत्येक पुरुष इस तरह की गवर्नमेंटों में राजा-रानी या और कोई राज्याधिकारी होने की कोशिश करता है। ऐसी गवर्नमेंटों में हर आदमी अपने से छोटों पर प्रभुता जमाने और उनसे सन्मान पाने, और अपने से बड़ों को प्रसन्न रखने, की फ़िक्र में रहता है। इसी प्रयत्न में, इसी कोशिश में, इसी खैंचातानी में, हर आदमी लगा रहता है और ज़िन्दगी का बहुत सा हिस्सा इसी खटपट में खर्च हो जाता है। हर आदमी इस प्रयत्न में रहता है कि रुपया-पैसा इकट्ठा करके, अमीरी ठाठ से रह कर, अच्छे कपड़े पहन कर और अपनी विद्या-बुद्धि का प्रकाशन करके वह औरों से बढ़ जाय। वह इस प्रकार की कारवाई से—इस प्रकार के आचरण से—नियमन, नियंत्रण या रुकावट के उस जाल को और भी अधिक घना कर देता है जिससे समाज हर व्यक्ति को अपनी जगह पर बाँध सा रखता है। अर्थात् समाज को व्यवस्थित रखने में वह विशेष सहायता पहुँचाता है।

जिस तरफ़ आंख उठा कर देखिए उसी तरफ़ आपको यह बात देख पड़ेगी। असभ्य जंगली आदमियों के सरदारों को देखिए। लड़ाई का भयानक रंग अपने बदन में पोत कर, और खोपड़ियों की करधनी अपनी कमर में बांध कर, वे भी अपने अधीन आदमियों पर अपना रोब जमाते हैं। नागरिक तरुण स्त्रियों को देखिए। बड़ी ऊंची चोटी करके, रंग बिरंगे कपड़े पहन कर, और अनेक तरह के नाज़ो-नख़रे दिखला कर वे भी औरों का मन अपनी तरफ़ आकर्षित करने की कोशिश करती हैं। उनका भी एकमात्र उद्देश औरों पर विजय प्राप्त करने ही का रहता है। इन उदाहरणों को जाने दीजिए। ये तो बहुत छोटे उदाहरण हैं। अजी, बड़े बड़े विद्वान् इतिहास-कार और तत्त्वज्ञानी पण्डितों तक की यही दशा है। ये लोग तक अपनी विद्या, अपनी बुद्धि और अपने ज्ञान का उपयोग सिर्फ़ दूसरों को अपनी विद्वत्ता दिखलाने ही के इरादे से करते हैं। इनका भी यही मतलब रहता है कि और लोग इनको बहुत बड़े विद्वान्, पंडित और वेदान्ती समझें। इन में से एक आदमी भी इस बात पर सन्तोष नहीं करता कि जितना कला-कौशल, जितना ज्ञान या जितनी विद्या उसमें है उसे चुपचाप ज़ाहिर कर देना ही बस है। नहीं, हर एक की यही इच्छा रहती है कि जो कुछ उसे मालूम है उसका असर दूसरों पर पड़े। जब तक वह अपने गुणों का प्रभाव दूसरों पर डालने की कोशिश नहीं करता तब तक उसे एक तरह की बे-चैनी सी रहती है। मतलब यह कि हर एक पढ़ा लिखा आदमी चाहता है कि औरों की नज़र में वह अधिक पंडित और अधिक विद्वान् मालूम हो। और यही मतलब—यही उद्देश—हमारी शिक्षा का [illegible] करता है। यह बात यही है जिसके ख़्याल से अक्सर लोग यह निश्चय करते हैं कि हमारी शिक्षा कैसी होनी चाहिए। हम लोग इस बात का कभी ख़्याल नहीं करते कि किस तरह की विद्या, किस तरह की शिक्षा, किस तरह का ज्ञान हमारे लिए अधिक उपयोगी है; प्रत्युत हम इस बात का करते हैं कि किस तरह की शिक्षा से लोग हमारी सबसे अधिक तारीफ़ करेंगे; किस तरह की शिक्षा से लोग हमें सबसे अधिक [illegible] समझेंगे; किस तरह की शिक्षा से लोग हमारा सबसे अधिक आदर करेंगे। हमको सिर्फ़ इस बात का

है, अर्थात् कभी कभी इन विषयों का परस्पर एक दूसरे से मुक़ाबला किया जाता है और इस बात पर बहस होती है कि किसे सीखने से अधिक फ़ायदा है और किसे सीखने से कम। पर इस चर्चा—इस बहस—में कोई प्रमाण या कोई सिद्धान्त निश्चित करके उसके आधार पर एक शब्द भी नहीं कहा जाता; जो कुछ कहा जाता है अपनी अपनी राय के मुताबिक़—अपने अपने तजरिबे के मुताबिक़। इस तरह की एकदेशीय बहस भी कोई बहस है। ऐसी चर्चा की, ऐसे वाद-विवाद की, क़ीमत बहुत कम है। हमें हर एक विषय की शिक्षा के सम्बन्ध में विचार नहीं करना; किन्तु सब तरह की शिक्षाओं के सम्बन्ध में विचार करना है। इस दशा में गणित और पुरानी भाषाओं से सम्बन्ध रखने वाले विचार को, सब तरह की शिक्षाओं से सम्बन्ध रखनेवाले इस सर्वव्यापी विचार का, सिर्फ़ एक अंश समझना चाहिए। ऐसे क्षुद्र विचार का महत्त्व ही कितना? इस बात के फ़ैसले के लिए कि किन किन विषयों की शिक्षा देनी चाहिए, इसके फ़ैसले से काम नहीं चल सकता कि गणित-शास्त्र की शिक्षा सबसे अच्छी है या पुरानी भाषाओं की। इस तरह का फ़ैसला वैसा ही है जैसा भोजन-सम्बन्धी शिक्षा का विचार उपस्थित होने पर यह फ़ैसला करके अपने को कृतार्थ मान लेना, कि आलू की अपेक्षा रोटी में बल बढ़ानेवाली शक्ति अधिक है। इस तरह के फ़ैसले निकम्मे हैं।

६—परस्पर मुक़ाबला करके सबसे अधिक उपयोगी शिक्षा को सबसे अधिक महत्त्व देने की ज़रूरत।

जिस विषय का विचार, यहां पर, किया जा रहा है वह बड़े ही महत्त्व का है। इस सम्बन्ध में इस बात के जानने की ज़रूरत नहीं कि किस भाषा, किस विद्या, किस शास्त्र की कितनी क़ीमत है—कितनी उपयोगिता है—ज़रूरत इस बात के जानने की है कि और विषयों या शिक्षाओं के मुक़ाबले में अमुक विद्या या शिक्षा की कितनी क़ीमत है। अर्थात् उनके ज्ञान के तारतम्य-न्यूनाधिक्य के जानने की ज़रूरत है। बहुतों का यह ख़याल है कि किसी विशेष शिक्षा से जो फ़ायदे उन्होंने उठाए हैं उनको

कारण होती है; और किस तरह यह सारे सांसारिक व्यवहारों में काम आती है। लिपि-कला का अध्यापक यदि बतला दे कि अच्छा लिखना आ-जाने से काम-काज में बड़ी मदद मिलती है—उसमें कामयाबी होती है—अथवा यों कहिए कि उससे आदमी का गुज़र अच्छी तरह हो जाता है—वह भूखा नहीं रहता—तो समझना चाहिए कि उसने अपनी बात को प्रमाणित कर दिया; उसने अपने दावे को साबित कर दिया। और यदि मुर्दा घटनाओं, अर्थात् पुरानी बातों, का ज्ञान प्राप्त करनेवाला (उदाहरण के लिए पुराने शिलालेखों, पुराने सिक्कों या पुराने वमगों के विषय में जानकारी रखनेवाला) यह न साबित कर सके कि इन बातों के जानने से मनुष्य को कोई कहने लायक़ फ़ायदा पहुँचता है, अर्थात् अपने हित-साधन में मनुष्य को इन बातों से काफ़ी मदद मिलती है, तो उसे लाचार होकर यह कुबूल करना पड़ेगा कि इस तरह की बातों का ज्ञान और बातों के ज्ञान के मुक़ाबले में बहुत ही कम क़ीमत रखता है। मतलब यह कि इस तरह की शिक्षा से विशेष फ़ायदा नहीं; इस तरह की शिक्षा की विशेष योग्यता नहीं। तो, इससे यह साबित है कि किसी शिक्षा, विद्या या ज्ञान की योग्यता का निश्चय करने में प्रत्यक्ष रीति से, अथवा किसी दूसरे ढंग या पर्याय से, सब लोग इसी कसौटी को काम में लाते हैं।

६—जीवन को पूरे तौर पर सार्थक करने योग्य शिक्षा की ज़रूरत।

हम लोगों के लिए सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि—"किस तरह हमें जीवन-निर्वाह करना चाहिए?" "किस तरह हमें ज़िन्दगी बसर करना चाहिए?" जीवन-निर्वाह करने से सिर्फ़ शरीर-सम्बन्धी बातों ही से मतलब नहीं—अर्थात् इसका सिर्फ़ यही अर्थ नहीं कि हमें किस तरह बैठना चाहिए, किस तरह उठना चाहिए, किस तरह रहना चाहिए—नहीं, इसका अर्थ बहुत व्यापक है। हमें ऐसा सर्व-व्यापक सिद्धान्त ढूँढ़ निकालना चाहिए जो सब तरह के सामाजिक सिद्धान्तों का—सब तरह की सामाजिक बातों का—नियमन कर सके अर्थात् जो

सब बातों में आदर्श का काम देसके। ऐसे ही सिद्धान्त को सामने रखकर, हमें, हर हालत में, हर बात का फ़ैसिला करना चाहिए। अत्यन्त व्यापक और अत्यन्त महत्त्व की बात यह है कि हम कोई ऐसा सिद्धान्त निकालें जिसको आदर्श मान कर हम इस बात का निश्चय कर सकें कि हम अपने शरीर को किस तरह रक्खें; हम अपने मन को किस तरह रक्खें; हम अपने कारोबार का किस तरह प्रबन्ध करें; हम अपने बाल-बच्चों का किस तरह पालन-पोषण करें: सब लोगों से सम्बन्ध रखने वाले, अर्थात् सार्वजनिक कामों, के विषय में हम किस तरह का बर्ताव करें; सुख के जो साधन हममें स्वाभाविक हैं, अर्थात् जिनको हमने प्रकृति से पाया है, उनका हम सुख-प्राप्ति के कामों में किस तरह उपयोग करें, और हम में जितनी शारीरिक और मानसिक शक्तियां हैं उन्हें हम किस तरह काम में लावें कि उनसे हमें भी, और दूसरों को भी, सबसे अधिक फ़ायदा पहुँचे। मतलब यह कि हमें किस तरह रहना चाहिए कि हमारा जीवन—हमारी ज़िन्दगी—पूरे तौर पर सार्थक हो जाय। यही अत्यन्त व्यापक सिद्धान्त है। यही सब से अधिक महत्त्व की बात है। जब इसका जानना हमारे लिए सबसे अधिक ज़रूरी है तब इससे यह नतीजा निकलता है कि शिक्षा से हमें यही बात मालूम होनी चाहिए। क्योंकि यही सबसे बड़ी बात है। और यदि ऐसी बड़ी बात शिक्षा से न मालूम होगी तो होगी किससे ? शिक्षा का सबसे बड़ा काम यही है कि जीवन को अच्छी तरह सार्थक करने के लिए जिस तरह के बर्ताव या व्यवहार की ज़रूरत है उस तरह के बर्ताव या व्यवहार की योग्यता को वह मनुष्य में पैदा कर दे। अर्थात् उसकी मदद से मनुष्य में वह योग्यता आ जानी चाहिए जिससे वह अपनी ज़िन्दगी को पूरे तौर पर सार्थक कर सके। अतएव किसी शिक्षा की योग्यता या अयोग्यता का फ़ैसिला करते समय—उसके विषय में राय देते समय—इस बात का विचार किया जाना चाहिए कि कहाँ तक वह शिक्षा इस मतलब को पूरा करती है। इस बात की जांच का सिर्फ़ यही एक माकूल तरीक़ा है—सिर्फ़ यही एक प्रशस्त प्रणाली है।

१०—सब तरह की शिक्षाओं की उपयोगिता का निश्चय करने में विशेष सावधानता की ज़रूरत।

शिक्षा की योग्यता की जाँच के लिए जो कसौटी काम में लानी चाहिए उसका उपयोग, आज तक, किसी ने पूरे तौर पर नहीं किया। और कभी किसी ने किया भी है तो बहुतही थोड़ा—सो भी यह समझ कर नहीं कि इस तरह की जाँच के लिए यही सच्ची कसौटी है। जिस किसी ने इसका उपयोग, किसी अंश में, किया है बेसमझे बूझे किया है। इस कसौटी को समझ-बूझ कर काम में लाना चाहिए; नियमपूर्वक काम में लाना चाहिए; और हर हालत में, हर तरह की शिक्षा के सम्बन्ध में, पूरे तौर पर काम में लाना चाहिए। हमको चाहिए कि हम हमेशा इस बात को, साफ़ तौर पर, अपनी आँखों के सामने रक्खें कि शिक्षा के द्वारा जीवन की सार्थकता करना ही हमारा उद्देश है—हमारा अभीष्ट है—हमारा मक़सद है। इसी उद्देश को अच्छी तरह ध्यान में रख कर हमें अपने बाल-बच्चों का पालन-पोषण करना चाहिए और इस बात का निश्चय ख़ूब सावधानी से कर लेना चाहिए कि उनको किन किन विषयों की और किस तरह शिक्षा देना मुनासिब है। इसी निश्चय के अनुसार हर आदमी को काम करना चाहिए। शिक्षा के विषय में सिर्फ़ इस बात की ख़बरदारी रखने से काम नहीं चल सकता कि जिस तरह की शिक्षा हम अङ्गीकार करते हैं वह इस समय प्रचलित है या नहीं। लोक-रीति के अनुसार प्रचलित शिक्षा को अङ्गीकार कर लेना भी क्या कोई बुद्धिमानी की बात है? बहुत से आदमी ऐसे हैं जो हानि-लाभ का विचार न करके सिर्फ़ लोक-रीति का विचार करते हैं। शिक्षा की वर्तमान रीति को वे जैसा क़बूल कर लेते हैं वैसे ही यदि और कोई रीति प्रचलित होती तो वे उसे भी ख़ुशी से क़बूल कर लेते। इस तरह अन्धपरम्परा की नक़ल करना सर्वथा अनुचित और असभ्य है। हमको चाहिए कि किसी शिक्षा की योग्यता की जाँच करते समय हम उन लोगों की भी नक़ल न करें जो अपने बाल-बच्चों की शिक्षा की कुछ अधिक परवा करते हैं या इस विषय में कुछ अधिक विचार करते हैं

जो औरों की अपेक्षा कुछ अधिक बुद्धिमानी से काम लेते हैं। ऐसे लोगों की विचार-परम्परा भद्दी होती है; अपने विचारों में वे सिर्फ़ तजरिबे का ख़याल रखते हैं। सिर्फ़ दो चार ऊपरी बातों को देख-भाल करके वे अपने सिद्धान्त स्थिर कर लेते हैं। इससे ऐसे आदमियों की विचार-रीति भी निर्दोष नहीं होती। अतएव उस रीति की नक़ल करना भी अनुचित है; उनका अनुसरण करने में भी हानि है। हमको चाहिए कि हम इस तरह के लोगों की विचार-परम्परा से भी अधिक प्रशस्त और लाभदायक विचार-परम्परा से काम लें। सिर्फ़ इस बात का ख़याल कर लेना काफ़ी नहीं कि अमुक शिक्षा या अमुक विद्या से आगे फ़ायदा होगा, अर्थात् सांसारिक व्यवहारों में आगे उसका उपयोग होगा; अथवा काम-काज के सम्बन्ध में, अमुक शिक्षा या अमुक विद्या, अमुक शिक्षा या अमुक विद्या से अधिक लाभदायक है। नहीं, हमको चाहिए कि हम कोई ऐसा तरीक़ा ढूँढ़ निकालें जिससे हमें यह मालूम हो जाय कि कौन सी शिक्षा सबसे अधिक उपयोगी और एक दूसरी के मुक़ाबले में किस शिक्षा को कितनी क़ीमत है। ऐसा करने ही से हम यथासम्भव इस बात को ठीक ठीक जान सकेंगे कि किन शिक्षाओं की तरफ़ हमें सबसे अधिक ध्यान देना मुनासिब है।

९—सब तरह की शिक्षाओं की न्यूनाधिक उपयोगिता का निश्चय करने में कठिनाइयाँ।

इसमें संदेह नहीं कि यह बहुत कठिन काम है। शायद इसमें कामयाबी हो ही नहीं सकती। बहुत सम्भव है कि इसे करने के लिए कमर कसनेवालों से यह पूरे तौर पर होही न सके। परन्तु जिस बात का यह करना है वह बहुत बड़े महत्त्व का है। अतएव इस विषय में कमर कसने से जब उस उद्देश से ही हाथ धो बैठने का डर है तब कठिनाई के ख़याल से चुप चाप बैठा रहना निरा कायरपन है—निरी भीरुता है। ऐसे मामलों में समझदार आदमी हाथ पैर समेट कर चुपचाप नहीं बैठते; किन्तु अपने मतलब को हल करने के इरादे से वे और भी अधिक जी लड़ा कर काम करते हैं और उसकी सिद्धि के प्रयत्न में कोई

बात उठा नहीं रखते। बात यह है कि नियमानुसार उचित रीति से काम करना चाहिए। उचित रीति से—मा.कूल तरीक़े से—यदि सब बातों का विचार किया जाय तो हमारा बहुत कुछ काम हो सकता है।

१२—महत्त्व के अनुसार बड़े बड़े सांसारिक कामों के पाँच विभाग।

हमारा पहला काम यह होना चाहिए कि संसार में आदमी को जितने बड़े बड़े काम करने पड़ते हैं उन सबके हम विभाग कर दें, अर्थात् जुदा जुदा दरजों में हम उनको बाँट दें। पर ऐसा करने में हमें उनके महत्त्व का ख़याल रखना चाहिए। मतलब यह कि जो काम जितना ज़रूरी है—जो काम जितने महत्त्व का है—उसका दरजा भी उसी हिसाब से नियत होना चाहिए। स्वाभाविक रीति से इन कामों के दरजे इस तरह नियत किये जा सकते हैं:—

(१) वे काम जो प्रत्यक्ष रीति से आत्मरक्षा में मदद देते हैं; अर्थात् जिनका एक मात्र उद्देश यह रहता है कि उनकी मदद से मनुष्य अपनी प्राणरक्षा कर सके।

(२) वे काम जो निर्वाह के लिए आवश्यक बातों को प्राप्त कराकर, परोक्ष रीति से, मनुष्य की जीवन-रक्षा में मदद देते हैं।

(३) वे काम जो सन्तान के पालन, पोषण और शिक्षण इत्यादि से सम्बन्ध रखते हैं; अर्थात् लड़कों के पालने-पोसने और उनको पढ़ाने-लिखाने की ग़रज़ से जिनको करना पड़ता है।

(४) वे काम जो समाज और राजनीति से सम्बन्ध रखनेवाली उचित बातों को यथास्थित रखने के लिए किये जाते हैं, अर्थात् समाजनीति और राजनीति की उचित व्यवस्था को बिगड़ने से बचाने के लिए जिनके करने की ज़रूरत होती है।

(५) वे फुटकर काम जिन्हें लोग और बातों से फ़ुरसत पाने पर मनोरञ्जन के लिए करते हैं।

१३—आत्मरक्षा के ज्ञान की प्रधानता ।

संसार में आदमी को जो काम करने पड़ते हैं वे इस तरह पांच हिस्सों में बांटे जा सकते हैं। इन पांचों हिस्सों का क्रम यथा-सम्भव अपने अपने महत्त्व के अनुसार रक्खा गया है। यह बात देखने के साथ ही ध्यान में आ सकती है। इसके लिए अधिक विचार करने, या प्रमाण देने, की विशेष ज़रूरत नहीं। यह बात स्पष्ट है कि अपने जीवन की रक्षा के लिए हम लोग हर घड़ी जो काम करते हैं—अपने जीवन को आपदाओं से बचाने के लिए हम लोग हर घड़ी जो काम पहले ही से सोच रखते हैं—उन्हीं को पहला दरजा देना चाहिए; क्योंकि उन्हीं का महत्त्व सबसे अधिक है। यह कौन नहीं जानता? ऐसा कौन है जो इस बात को न कबूल करेगा? यदि कोई आदमी यहां तक नादान होता कि एक छोटे बच्चे की तरह वह अपने आस-पास की चीज़ों से जानकारी न रखता और उनके हिलने-डुलने का मतलब न समझता, अर्थात् वह यह न जानता कि उनसे उसे क्या हानि होनी सम्भव है और उनसे बचने का क्या उपाय है, तो पहली ही बार, घर के बाहर बाज़ार में पैर रखते ही, बहुत करके, उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ता; फिर चाहे और विषयों में उसने कितनी ही विद्वत्ता और जानकारी क्यों न प्राप्त की हो। कोई चाहे कितना ही प्रचण्ड पण्डित क्यों न हो, पर यदि वह इस बात को न जानता होगा कि सामने से आती हुई गाड़ी का रास्ता छोड़ कर उसे एक तरफ़ हो जाना चाहिए, तो वह उसके नीचे दब कर तुरन्त ही अपने प्राण खो बैठेगा, और उसकी और बातों की विद्वत्ता रक्खी ही रह जायगी। इससे यह निर्वि-वाद है कि और बातों की जानकारी के सर्वथा अभाव से जितनी हानि हो सकती है, आत्म-रक्षा की बातों की जानकारी के सर्वथा अभाव से उससे बहुत अधिक हानि हो सकती है। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि जिन ज्ञान से—जिस शिक्षा से—मनुष्य के जीवन की सीधी रक्षा हो उसकी योग्यता सबसे अधिक है।

१४—निज-निर्वाह-सम्बन्धी ज्ञान को दूसरे दरजे में रखने का कारण ।

प्रत्यक्ष प्राण-रक्षा के ज्ञान के बाद दूसरा दरजा परोक्ष प्राणरक्षा के ज्ञान का है । परोक्ष प्राण-रक्षा का ज्ञान वह ज्ञान है जिसकी मदद से मनुष्य का जीवन-निर्वाह होता है । ज़िन्दा रहने के लिए—ज़िन्दगी क़ायम रखने के लिए—अप्रत्यक्ष किंवा परोक्ष तौर पर जिन साधनों की ज़रूरत होती है उन साधनों के ज्ञान को दूसरे दरजे का ज्ञान समझना चाहिए। इस बात को भी सब लोग बिना प्रतिवाद के—बिना किसी एतराज़ के—क़बूल करेंगे । सन्तान का पालन-पोषण करना, उसे शिक्षा देना इत्यादि, माँ-बाप का जो कर्तव्य है उसका विचार, साधारण रीति पर, अपने निज के निर्वाह के विचार के बाद किया जाना चाहिए, पहले नहीं। क्योंकि यदि माँ-बाप ज़िन्दा ही न रहेंगे—उनके जीवन का निर्वाह ही न होगा—तो वे अपने बाल-बच्चों के भरण-पोषण और शिक्षण का प्रबन्ध करेंगे किस तरह ? सन्तान के पालन की शक्ति ख़ुद अपने पालन की शक्ति पर अव-लम्बित रहती है । अपना पालन करके—अपना जीवन-निर्वाह करके—जब तक मनुष्य विवाह करने के योग्य न होगा तब तक सन्तान की शिक्षा आदि का ज्ञान न होने से भी काम चल सकता है । इससे साबित है कि जो ज्ञान अपने ज़िन्दा रहने के लिए दरकार है वह कुटुम्ब की रक्षा और उसके निर्वाह के लिए अपेक्षित ज्ञान से अधिक ज़रूरी है । अतएव इस ज्ञान को दूसरे ही दरजे में रखना मुनासिब है । इसकी क़ीमत पहले दरजे के ज्ञान से ज़रूर कम है, पर तीसरे दरजे के ज्ञान से अधिक ।

१५—बाल-बच्चों के पालन, पोषण और शिक्षण से सम्बन्ध रखनेवाली बातें सामाजिक और राजकीय बातों से अधिक महत्त्व की हैं ।

पुत्र, कलत्र आदि कुटुम्बियों के पालन-पोषण से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान का तीसरा नम्बर है । राजकीय बातों के ज्ञान से इस ज्ञान को

महिमा अधिक है। इसका कारण यह है कि देश, राष्ट्र या राज्य की कल्पना कुटुम्ब की व्यवस्था की कल्पना के बाद होती है। राज्यव्यवस्था चाहे हो चाहे न हो, उसके बिना भी कुटुम्ब की व्यवस्था हो सकती है। परन्तु कुटुम्ब के न होने से राज्य की स्थापना ही नहीं हो सकती, सुव्यवस्था तो दूर रही। अर्थात् बाल-बच्चों की परवरिश और शिक्षा, राज्य-व्यवस्था के अस्तित्व में आने के पहले भी हो सकती है और राज्य-व्यवस्था के अस्तित्व का लोप होजाने के बाद भी हो सकती है। परन्तु यदि बाल-बच्चों की परवरिश न हो—यदि उनको शिक्षा न दी जाय—तो राज्य-व्यवस्था हो ही नहीं सकती। इससे स्पष्ट है कि राजकीय और सामाजिक बातों का ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा कुटुम्ब-पालन का ज्ञान प्राप्त करना अधिक ज़रूरी है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में एक बात और कही जा सकती है—एक दलील और पेश की जा सकती है। वह यह है, कि समाज की भलाई जुदा जुदा हर आदमी की भलाई पर अवलम्बित है; और लड़कपन की शिक्षा से मनुष्य जितना गुणवान् और सदाचरणशील हो सकता है उतना और किसी तरह से नहीं हो सकता। लड़कपन की शिक्षा से मनुष्य का स्वभाव इस तरह का हो जाता है कि आगे उसे जिस तरफ़ झुकाना चाहो उस तरफ़ वह सहज ही झुक जाता है। इससे यह नतीजा निकलता है कि कुटुम्ब की भलाई समाज की भलाई का आधार है। अगर कुटुम्ब अच्छा नहीं तो समाज कभी अच्छा नहीं हो सकता। अतएव यह सिद्ध है कि बाल-बच्चों के पालन, पोषण और शिक्षण आदि की तरफ़ पहले ध्यान देना चाहिए, सामाजिक और राजकीय बातों की तरफ़ पीछे। अर्थात् सामाजिक और राजकीय बातों के ज्ञान की अपेक्षा कुटुम्ब की भलाई से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान अधिक महत्त्व का है, इससे कुटुम्ब-विषयक ज्ञान को तीसरे और राजकीय तथा सामाजिक ज्ञान को चौथे दरजे में रखना मुनासिब है।

१६—मनोरञ्जन से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का दरजा समाज को उन्नत करनेवाली बातों से कम है।

विशेष महत्त्व के काम हो चुकने पर जो समय बचता है उसमें

मनोरञ्जन, अर्थात् आमोद-प्रमोद, के काम होते हैं। गाना, बजाना, कविता और चित्र-कला आदि की गिनती मनोरञ्जक कामों में है। इस तरह के मनोरञ्जक काम—इस तरह के आमोद-प्रमोद के व्यवसाय—समाज की स्थापना होने के बाद अस्तित्व में आते हैं। अर्थात् समाज की व्यवस्था हो चुकने पर लोगों का ध्यान खेल-कूद के द्वारा मनोरञ्जन करने की तरफ़ जाता है। समाज की व्यवस्था हो चुकने पर इन कलाओं का विकास होता है। यही नहीं कि समाज को बन चुके बहुत दिन हुए बिना इन कलाकौशलों का विशेष विकास ही न होता हो; किन्तु उनके लिए विषय ही नहीं मिल सकता। क्योंकि सामाजिक महानुभूति और सामाजिक भावों की विशेष सहायता लिये बिना गाने, बजाने, कविता करने और चित्र बनाने आदि के लिए विषयों का मिलना ही असम्भव है। बिना सामाजिक व्यवस्था के इन कलाओं की उन्नति ही नहीं हो सकती—इन बातों की तरक़्क़ी ही नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, किन्तु जो भाव और जो विचार इन कलाओं के द्वारा प्रकट किये जाते हैं वे भी समाज ही की बदौलत मिलते हैं। यदि समाज सुव्यवस्थित न होता तो जिन बातों का वर्णन रामायण, महाभारत और रघुवंश आदि में हुआ है वे विषय ही इन ग्रन्थों के बनाने वालों को न मिलते। यही दशा गाने, बजाने और चित्र-कला की भी है। यदि समाज की स्थापना न होती तो न रविवर्म्मा को चित्र बनाने के लिए विषय-सामग्री मिलती और न "बनारसी" को लावनी कहने के लिए। इस से यह सिद्ध है कि अच्छे समाज का अंग होने के लिए मनुष्य को जिन बातों की ज़रूरत होती है वे बातें उनकी अपेक्षा अधिक महत्व की हैं जिनकी आवश्यकता मनोरञ्जन के लिए मनुष्य को होती है। खेल-तमाशे, आमोद-प्रमोद और ऐशो-आराम से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का स्फुरण होने के पहले मनोरञ्जन कलाओं का स्फुरण नहीं हो सकता। अतएव जिस शिक्षा से मनुष्य समाज को उन्नत बनाने में समर्थ होता है उसका दर्जा मनोरञ्जन-विषयक शिक्षा से बढ़ कर है।

१२—सांसारिक कामों के पाँच महा-विभागों की पुनरुक्ति।

इस तरह मनुष्य के जीवन में जिन व्यवसायों का सम्बन्ध है

पांच हिस्सों में बांटे जा सकते हैं। अपने अपने महत्त्व, उपयोग या ज़रूरत के अनुसार उनका क्रम ऊपर वर्णन किये गये क्रम के अनुसार है। उसी क्रम को हम यहां पर दोहराते हैं, अर्थात् यह दिखलाते हैं कि हर एक व्यवसाय की शिक्षा का दरजा, अपने अपने महत्त्व के अनुसार, किस क्रम से होना चाहिए:—

(१) जो शिक्षा मनुष्य को प्रत्यक्ष रीति से अपनी रक्षा के लिए योग्य बनाती है वह पहले दरजे की है।

(२) जो शिक्षा मनुष्य को परोक्ष रीति से (अर्थात् अप्रधान साधनों के द्वारा) अपनी रक्षा के लिए योग्य बनाती है वह दूसरे दरजे की है।

(३) जो शिक्षा मनुष्य को माता-पिता के कर्तव्य पालन करने के योग्य बनाती है वह तीसरे दरजे की है।

(४) जो शिक्षा मनुष्य को समाज-सम्बन्धी कर्तव्यों का पालन करने के योग्य बनाती है वह चौथे दरजे की है।

(५) जो शिक्षा मनुष्य को मनोरञ्जन और आमोद-प्रमोद से सम्बन्ध रखने वाली बातें करने के योग्य बनाती है वह पांचवें दरजे की है।

१८—सब तरह की शिक्षाओं के नाम और दरजे की पुनरावृत्ति और उनका परस्पर सम्बन्ध।

हमारा मतलब यह नहीं कि ये हिस्से, ये दरजे, ये विभाग बिलकुल ही ठीक हैं। अर्थात् हम यह नहीं कहते कि ये एक दूसरे से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते। नहीं, बारीक विचार करने से इनमें परस्पर थोड़ा बहुत सम्बन्ध ज़रूर मालूम होता है। हम इस बात को कबूल करते हैं कि इनमें परस्पर ज़रूर है—ये बहुत ही पेचीदा तौर पर एक दूसरे से मिले हुए हैं। यह बिलकुल ही सम्भव नहीं कि कोई आदमी किसी एक प्रकार की शिक्षा का ज्ञान प्राप्त करे और उसे बाकी सब प्रकार की शिक्षाओं का

थोड़ा बहुत ज्ञान न हो जाय। सब तरह की शिक्षाओं का जो क्रम ऊपर दिया गया है—जो तरतीब ऊपर दी गई है—उसमें अपने अपने दरजे के महत्त्व का ख़याल रक्खा गया है। यह बात हम पहले ही कह चुके हैं। पर इस क्रम के विषय में भी हम यह कबूल करते हैं कि कभी कभी पीछे के दरजों की शिक्षाओं की कोई कोई बात उन दरजों के पहले स्थान पाये हुए दरजों की शिक्षाओं की किसी किसी बात से अधिक महत्त्व की मालूम होगी। उदाहरणार्थ, एक आदमी व्यापार-धन्धा करके रुपया पैसा कमाने की ख़ूब योग्यता रखता है; पर और कोई योग्यता उसमें नहीं है। दूसरा आदमी एक ऐसा है कि रुपया पैदा करने की योग्यता तो उसमें विशेष नहीं है, पर बाल-बच्चों के पालन, पोषण और शिक्षण में वह बहुत कुशल है। अब, शिक्षाओं का जो क्रम ऊपर दिया गया है उसके अनुसार धनोपार्जन का महत्त्व यद्यपि बाल-बच्चों के भरण, पोषण आदि के महत्त्व से अधिक है, तथापि सब बातों का विचार करने से पहले की अपेक्षा दूसरे ही मनुष्य की योग्यता अधिक माननी पड़ेगी। इसी तरह जो आदमी सामाजिक बातों का पूरा पूरा ज्ञान रखता है, पर साहित्य और ललित (अर्थात् मनोरञ्जक) कलाओं का नाम तक नहीं जानता उसकी अपेक्षा ऐसे आदमी की योग्यता अधिक है जो सामाजिक बातों का साधारण ज्ञान रखकर साहित्य और ललित-कलाओं से भी कुछ कुछ परिचित है। इन सब बातों का विचार करने के बाद भी, अर्थात् जुदा जुदा दरजे के आदमियों की योग्यता का निश्चय करते समय इन बातों पर ध्यान देने पर भी, शिक्षा के पूर्वोक्त पाँचों दरजों में फिर भी बहुत कुछ भेद रह जाता है। स्थूल दृष्टि से देखने से यह मानना ही पड़ता है कि ये दरजे—ये विभाग—बहुत ठीक हैं और इनका क्रम भी, महत्त्व या ज़रूरत के ख़याल से, ठीक है। क्योंकि जिस शिक्षा को जो दरजा दिया गया है वह शिक्षा, संसार में, उसी दरजे के अनुसार लाभदायक हो सकती है। अर्थात् जगत् में मनुष्य के जीवन का जो क्रम है शिक्षा का भी वही क्रम रक्खा गया है। शिक्षा के इन पाँच दरजों के मुक़ाबले में ज़िन्दगी के भी पाँच दरजे हैं। अतएव इन्हीं दरजों के अनुसार इस तरह की विभागात्मक शिक्षा का होना सम्भव है।

१६—ज़रूरत का ख़याल रखकर जुदा जुदा तरह की शिक्षा की प्राप्ति में न्यूनाधिकता का विचार।

इसमें सन्देह नहीं कि सब तरह की शिक्षा में पूर्णता प्राप्त करने—कमाल हासिल करने—ही का नाम सर्वोत्तम शिक्षा है। शिक्षा के जितने विभाग हैं, उसकी जितनी शाखायें हैं, उन सबको पूरे तौर पर जान लेना ही आदर्श शिक्षा है। पर इस समय हम लोगों की हालत ऐसी है कि पूर्ण शिक्षा का मिलना सम्भव नहीं। तथापि, इस दशा में भी, किसी न किसी तरह की शिक्षा में, हर आदमी को थोड़ी बहुत कामयाबी ज़रूर होती है। इससे हमारा मुख्य कर्तव्य यह होना चाहिए कि, महत्त्व और ज़रूरत का ख़याल रख कर, शिक्षा की सब शाखाओं को हम योग्य परिमाण में सीखें। एकही व्यवसाय की शिक्षा प्राप्त करने से काम नहीं चल सकता। शिक्षा की कोई शाखा कितने ही महत्त्व की क्यों न हो, उसमें पराकाष्ठा की प्रवीणता प्राप्त करने में अपना सारा समय ख़र्च कर देना मुनासिब नहीं। और न यही मुनासिब है कि शिक्षा की दो, तीन या चार बहुत ज़रूरी शाखाओं ही के सीखने में आदमी अपना सब समय ख़र्च कर दे। उससे भी विशेष फ़ायदा नहीं। महत्त्व का ख़याल रखकर सब तरह की शिक्षा प्राप्त करना हमारा कर्तव्य होना चाहिए। जो शिक्षा सबसे अधिक महत्त्व की हो उस पर सबसे अधिक, जो कम महत्त्व की हो उस पर कम, और जो सबसे कम महत्त्व की हो उस पर सबसे कम ध्यान देना मुनासिब है। इस बात को न भूलना चाहिए कि कोई कोई आदमी ऐसे भी होते हैं जो किसी विशेष प्रकार की शिक्षा में अधिक रुचि रखते हैं, अर्थात् उसे प्राप्त करने की योग्यता उनमें अधिक होती है। और वह योग्यता उस शिक्षा को उनके जीवन-निर्वाह को एक मात्र आधार बना देती है। ऐसे आदमियों को तो इस तरह की विशेष शिक्षा में सबसे अधिक प्रवीण होना ही चाहिए। पर औसत दरजे के आदमियों के लिए ऐसी शिक्षा की ज़रूरत है जिसकी मदद से वे अपने जीवन को यथासम्भव पूरे तौर पर सार्थक कर सकें। अर्थात् जीवन की सार्थकता में शिक्षा की जिन शाखाओं से जितनी ही अधिक मदद मिलने

की आशा हो उनकी तरफ़ उतना ही अधिक ध्यान देना मुनासिब है और जिनसे जितनी ही कम मदद मिलने की आशा हो उनकी तरफ़ उतना ही कम।

२ •—उपयोग और महत्त्व के अनुसार ज्ञान के तीन विभाग, उनके लक्षण और उदाहरण।

इस तरह शिक्षा की व्यवस्था करने में और भी कई बातों का ख़याल रखना उचित है। जीवन को पूरे तौर पर सार्थक करने में मदद देने वाली शिक्षा या तो आवश्यक होती है या थोड़ी बहुत आकस्मिक अर्थात् अनिश्चित। ज्ञान के तीन भेद हैं—नित्य, नित्यप्राय और लौकिक। जिसका उपयोग सदा और सब कहीं होता है वह नित्य, जिसका उपयोग सार्वकालिक और सार्वत्रिक न होकर किसी विशेष प्रकार के ही लोगों को होता है वह नित्यप्राय, और जिसका उपयोग कुछही लोगों को होता है और आज होता है कल नहीं होता—अर्थात् जो लोकाचार और रूढ़ि पर अवलम्बित रहती है—वह लौकिक है। जिसे पक्षाघात अर्थात् फ़ालिज होने वाला है उसका शरीर पहले सुन्न सा हो जाता है और काँपने लगता है। जो चीज़ पानी के प्रवाह में पड़ कर बहती है उसके बहने के वेग के वर्ग के अनुसार उसे पानी का प्रतिबन्ध होता है। नीम की तरह की कोनाइन नामक वस्तु छुवाछूत से पैदा होने वाले रोग नाश करती है। ये, और साधारण तौर पर विज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें हैं वे सब, नित्यज्ञान की परिभाषा के भीतर हैं। मनुष्यों के जीवन-सम्बन्धी व्यवहारों पर इनका इस समय जैसा असर होता है आज से दस हज़ार वर्ष बाद भी वैसा ही असर होगा। लैटिन और ग्रीक भाषाओं के जानने से अँगरेज़ी भाषा में अधिक पारदर्शिता हो जाती है। इसी तरह संस्कृत-भाषा की शिक्षा से हिन्दी के, अथवा संस्कृत से सम्बन्ध रखने वाली बँगला, मराठी आदि भाषाओं के, ज्ञान की वृद्धि होती है। परन्तु इस ज्ञान का उपयोग सदा सब लोगों को नहीं होता, अर्थात् जब तक ये भाषायें हैं तभी तक इनका उपयोग भी होता है। इसके सिवा जिन लोगों

की भाषा अँगरेज़ी, हिन्दी, मराठी या बँगला नहीं है उनको इनसे कुछ भी लाभ नहीं। अतएव इस तरह का ज्ञान नित्यप्राय है। मतलब यह कि ऐसा ज्ञान एकदेशीय है। यद्यपि इसका उपयोग चिरकाल तक होता है, तथापि अनन्त काल तक नहीं। इसीसे इस ज्ञान को नित्यप्राय ज्ञान की कक्षा के भीतर समझना चाहिए। आज कल पाठशालाओं में इतिहास के नाम से जो शिक्षा दी जाती है वह लौकिक ज्ञान का उदाहरण है। जिसे लोग इतिहास कहते हैं वह सिर्फ़ नाम, सन्, संवत्, तारीख़ और ऐसी ही अनेक मुर्दा और अर्थहीन बातों का बखेड़ा है। उसका एकमात्र आधार लोकाचार, अर्थात् रूढ़ि है, और कुछ नहीं। व्यावहारिक बातों से उसका ज़रा भी सम्बन्ध नहीं। इतिहास की शिक्षा सिर्फ़ इस मतलब से दी जाती है कि यदि ऐतिहासिक घटनायें कण्ठ न होंगी तो लोग हँसेंगे। बस इस हँसी से बचने—लोकाचार के दासानुदासों की समालोचनाओं से अपनी रक्षा करने—के ही इरादे से लोग इतिहास पढ़ते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जिस ज्ञान या जिस शिक्षा का उपयोग सदा सब लोगों को होता है वह, उस ज्ञान या उस शिक्षा से अधिक महत्त्व का है जिसका उपयोग थोड़े ही लोगों को सिर्फ़ एक नियमित समय तक ही होता है। और जिस ज्ञान का उपयोग बहुत ही थोड़े आदमियों को, जब तक कोई विशेष प्रकार का लोकाचार है तभी तक, होता है उसकी अपेक्षा सदा और सब लोगों को उपयोगी होने वाले ज्ञान का महत्त्व तो बहुत ही अधिक है। इनसे यह सिद्धान्त निकलता है कि, यदि बाक़ी और सब बातें अनुकूल हों तो, सब तरह के ज्ञान का यथायोग्य विभाग करने में नित्यज्ञान को पहला, नित्यप्राय ज्ञान को दूसरा, और लौकिक ज्ञान को तीसरा स्थान देना मुनासिब है। प्रत्येक ज्ञान के उपयोग या महत्त्व के अनुसार उनका उचित क्रम यही है—उनकी ठीक तरतीब यही है।

२१—शिक्षा से दो लाभ—एक ज्ञान-लाभ दूसरा उपदेश-लाभ।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी कहनी है। प्रत्येक प्रकार की शिक्षा से दो लाभ हैं—एक ज्ञान-लाभ, दूसरा चरित्र-गठन या उपदेश-लाभ। अर्थात् जिस विषय की शिक्षा दी जाती है उससे उस विषय का ज्ञान भी

प्राप्त होता है और सांसारिक व्यवहारों के सम्बन्ध में उपदेश भी मिलता है। हर तरह की शिक्षा से सांसारिक व्यवहारों को सुचारुरूप से चलाने में भी मदद मिलती है; यही नहीं कि उससे सिर्फ़ बुद्धि ही बढ़ती हो। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, शिक्षा वह चीज़ है जिसके द्वारा मनुष्य अपना जीवन पूरे तौर पर सार्थक करने मे समर्थ हो सके। इससे, शिक्षा से होने वाले परिणामों का विचार करते समय पूर्वोक्त दोनों प्रकार के लाभों की बात भूलना मुनासिब नहीं। उनका ज़रूर ख़याल रखना चाहिए और शिक्षा-प्राप्ति का ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिससे दोनों प्रकार के लाभ हो सकें। अतएव शिक्षा के विषयों पर विचार करते समय जिन विशेष व्यापक बातों को ध्यान में रखने की बहुत बड़ी ज़रूरत है वे ये हैं:—

पहली बात—मनुष्य को अपने जीवन-काल मे जितने व्यवसाय—काम-काज—करने पड़ते हैं उनके, हर एक व्यवसाय के महत्त्व के अनुसार, दरजे नियत करना।

दूसरी बात—शिक्षा से प्राप्त होने वाले नित्य, नित्यप्राय और लौकिक ज्ञान का विचार करके यह देखना कि उनसे सब तरह के सांसारिक कामों को मुनासिब तौर पर करने में कहाँ तक मदद मिलेगी।

तीसरी बात—हर तरह की शिक्षा से प्राप्त होने वाले ज्ञान और चरित्र-गठन-विषयक उपदेश के सम्बन्ध में यह देखना कि व्यावहारिक कामों पर कहाँ तक उनका असर पड़ेगा।

२२—प्रत्यक्ष आत्म-रक्षा की शिक्षा को प्रकृति अर्थात् कुदरत ने अपने ही हाथ में रक्खा है।

जिस शिक्षा से प्रत्यक्ष रूप से आत्मरक्षा-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त होता है वह शिक्षा सबसे अधिक महत्त्व की है। ख़ुशी की बात है, यह शिक्षा बहुत कुछ आपही आप प्राप्त हो जाती है। इसके प्राप्त करने की सामग्री परदे ही में एकत्र कर दी गई है। अत्यन्त महत्त्व का यह ज्ञान हम लोग,

अल्पज्ञ होने के कारण, अपने प्रयत्न से अच्छी तरह न प्राप्त कर
यह जान कर इसकी शिक्षा को प्रकृति, अर्थात् .क़ुदरत, ने अपने
रक्खा है। किसी अपरिचित आदमी को देख कर, मां या दाई की
खेलने वाला दूधपिया बच्चा भी अपना मुँह छिपा लेता है और रो
है। इससे साबित है कि उसे भी इस बात का ज्ञान है कि अपरिचि
अज्ञात चीज़ों से हानि होने का डर रहता है; अतएव उनसे बचे
रहना चाहिए। वही बच्चा जब कुछ बड़ा होता है और चलने फिरने
है तब अपरिचित कुत्ते को देखकर डर जाता है। इसी तरह चौंका
वाली कोई आवाज़ सुनते ही, या किसी डरावनी चीज़ को देखते ही,
कर वह अपनी मां के पास दौड़ जाता है। वह इस बात का प्रमाण है
आत्म-रक्षा का ज्ञान पहले की अपेक्षा अब उसमें अधिक हो गया
आत्म-रक्षा का ज्ञान इतने महत्त्व का है कि उसे प्राप्त करने में
डर घड़ी लगा रहता है। अपने बदन को किस तरह सँभालना चाहि
किसी चीज़ की ठोकर या रपट बचा कर किस तरह चलना फिरना चाहि
कौन सी चीज़ें कठोर हैं जिनके धक्के से चोट लगने का डर रहता है, कौनसी
चीज़ें भारी हैं जिनके हाथ पैर पर गिरने से तकलीफ़ मिलती है; कौनसी
चीज़ें बदन का बोझ सँभाल सकती हैं और कौन सी नहीं सँभाल सकतीं;
आग, सख़्त और तेज़ धार के औज़ारों से कितनी तकलीफ़ पहुँचती है—ये
और ऐसी और भी अनेक बातें, जिनका जानना मृत्यु या किसी दुर्घटना
से बचने के लिए बहुत ज़रूरी है, बच्चा हर घड़ी सीखता रहता है। कुछ
साल बाद जब उसके बदन में अधिक शक्ति आ जाती है तब वह इस
शक्ति को घर से बाहर निकल कर इधर उधर दौड़ने, उछलने, कूदने, पेड़
इत्यादि पर चढ़ने, [illegible] और [illegible] की अपेक्षा रखने वाले खेल खेलने
में खर्च करता है। इससे उसके बदन की रगें और पट्ठे मज़बूत हो जाते हैं,
उसकी इंद्रियाँ तेज़ हो जाती हैं और उसकी विचार-शक्ति में भी [illegible]
जाती है। प्रकृति की प्रेरणा से वे सब बातें उसको इस काम के लिए तैयार
करती हैं कि अपने आत्म-रक्षा की चीज़ें और आत्म-रक्षा की शिक्षा में
अपने बदन की किस तरह रक्षा करनी चाहिए, और इस तरह बड़ी दुर्घ-

नाओं से किस तरह बचना चाहिए जिनका सामना बहुधा हर आदमी को अपनी ज़िन्दगी में करना पड़ता है। इस तरह का ज्ञान बिना किसी के सिखलायें ही हमको प्राप्त हो जाता है। इस बहुत ज़रूरी ज्ञान की शिक्षा का भार जब ख़ुद प्रकृति ही ने अपने ऊपर ले लिया है, और उसे सिखलाने का प्रबन्ध भी जब उसने ख़ुदही इतनी अच्छी तरह से कर दिया है तब उसकी प्राप्ति के लिए यदि हम कोई यत्न न करें तो भी चिन्ता नहीं। हमें सिर्फ़ इस बात का ख़याल रखना चाहिए कि इस तरह की प्राकृतिक शिक्षा मिलने का मौक़ा बच्चों को मिलता रहे और तजरिबे से प्राकृतिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके खेलने-कूदने के क्रम में बाधा न आने पावे। खेल-कूद के द्वारा आत्म-रक्षा की शिक्षा मे विघ्न डालना मुनासिब नहीं। इँगलेंड में नादान अध्यापिकायें या कुटुम्ब की बड़ी बूढ़ी स्त्रियां लड़कियों को, आप ही आप पैदा हुई, खेलने-कूदने की इच्छा पूरी करने से रोक देती हैं। इसका फल यह होता है कि लड़कियां, किसी तरह का भय उपस्थित होने, या दुर्घटना का मौक़ा आने, पर अपनी रक्षा अच्छी तरह नहीं कर सकतीं। हिन्दुस्तान में भी अमीर आदमियों के लड़कों के खेल-कूद में बहुधा बाधा आती है। इस कारण भयानक प्रसंग आने पर वे बे तरह घबरा जाते हैं।

२३—प्रत्यक्ष आत्मरक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञान का एक और प्रकार।

यह न समझना चाहिए कि जो शिक्षा आदमी को अपने आप अपनी रक्षा करने के लिए तैयार करती है उसमें सिर्फ़ वही बातें शामिल हैं जिनका वर्णन ऊपर किया गया है। नहीं, ऐसा हरगिज़ न समझना चाहिए। उस तरह अपघातों और दुर्घटनाओं से बचने के सिवा और कारणों से होनेवाली हानियों से भी अपने को बचाने की शक्ति हममें होनी मुनासिब है। शस्त्र या औज़ार के आघात से अपने बदन को बचाने की युक्ति तो हमें आनी ही चाहिए; पर इसके सिवा, आरोग्य-रक्षा के नियमों का पालन न करने से बीमारी पैदा होने या अकाल ही में मरने का जो डर रहता है उससे भी बचने का हमें ज्ञान होना चाहिए। अपने जीवन को

तौर पर सार्थक करने के लिए सब तरह के आघातों और अपकारों से शरीर को रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। इससे, किसी दुर्घटना के कारण अचानक आने वाली मौत से अपने को बचा लेने ही से कृतार्थता मान लेना मनुष्य को मुनासिब नहीं। आकस्मिक मौत से बच जाने ही से क्या जन्म सार्थक हो सकता है ? नहीं, मूर्खता और नादानी से पैदा होनेवाली उन आदतों से भी हमें बचना चाहिए जिनके कारण शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होकर उसे धीरे धीरे यहाँ तक अशक्त कर देते हैं कि फिर वह अच्छी तरह काम करने के लायक़ नहीं रह जाता। बिना शरीर के नीरोग और सशक्त रहे किसी काम का अच्छी तरह होना सम्भव नहीं—चाहे वह काम उद्योग, व्यवसाय या दस्तकारी से सम्बन्ध रखता हो; चाहे बाल-बच्चों के पालन, पोषण या मनोरञ्जन से सम्बन्ध रखता हो। इससे यह स्पष्ट है कि आत्मरक्षा-विषयक यह दूसरे प्रकार का ज्ञान, इस विषय के सिर्फ़ पहले प्रकार के ज्ञान से कम महत्त्व का है। इसका दरजा सिर्फ़ उसीसे कम है और किसी से नहीं। बाक़ी और सब प्रकार के ज्ञानों की अपेक्षा इसका महत्त्व बहुत अधिक है।

२४—आरोग्यरक्षा करनेवाली स्वभावसिद्ध प्रवृत्तियों की परवा न करने से हानि।

इस सम्बन्ध में भी प्रकृति, अर्थात् क़ुदरत, ने सदुपदेश देने या सन्मार्ग दिखलाने का थोड़ा बहुत सामान पहले ही से कर रक्खा है। भूख, प्यास आदि अनेक प्रकार के शारीरिक विकार और वासनाओं को पैदा करके शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली बड़ी बड़ी आवश्यकताओं को पूरा करने का बहुत कुछ भार प्रकृति ने अपने ही ऊपर ले लिया है। भूख लगती हो, और बहुत अधिक गरमी या सरदी मालूम होती हो, उनसे बचने की अत्यन्त अनिवार्य इच्छा हमारे मन में आपही आप पैदा हो जाती है। सारी वासनाओं और प्रवृत्तियों के पैदा होते ही यदि हम उनकी आज्ञा पालन करने की आदत डाल लें, अर्थात् इस तरह की हाजतें मालूम होते ही उन्हें हम रफ़ा कर दें, तो शारीरिक विकारों का डर बहुत कम रह जाय।

सका। हमेशा होने वाली छोटी छोटी बीमारियों का तो कुछ ज़िक्र ही नहीं; कमज़ोरी को लिये हुए वे सब तरफ़ फैली देख पड़ती हैं। इस तरह की बीमारियों से जो तकलीफ़ मिलती है, जो उदासीनता आती है, जो थकावट पैदा होती है, जो रुपया ख़र्च होता है, जो समय नष्ट होता है उसको बात जाने दीजिए—उसका विचार न कीजिए। विचार सिर्फ़ इस बात का कीजिए कि बीमारी के कारण कर्त्तव्य-पालन में बाधा कितनी आती है? उससे काम करना कठिन तो हमेशा ही हो जाता है, पर कभी कभी असम्भव भी हो जाता है। उससे स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है जिससे बाल-बच्चों के अच्छी तरह पालन, पोषण और शिक्षण में अनिवार्य विघ्न आता है; न लड़के अच्छे लगते हैं, न स्त्री अच्छी लगती है। देश या समाज से सम्बन्ध रखने वाले काम-काज का तो ज़िक्र ही नहीं; आमोद-प्रमोद और दिलबहलाव की बातें भी बुरी लगती हैं। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि बीमारियाँ पैदा करने वाले ये शारीरिक दोष, जिनका कारण कुछ तो हमारे पूर्वज और कुछ ख़ुद हम हैं, जीवन को पूरे तौर पर सार्थक करने में और बातों की अपेक्षा अधिक बाधा डालते हैं। उपकार होने और सुख पाने की बात तो दूर रही, ये शारीरिक दोष जीवन को उलटा कण्टकमय करके उसे किसी काम का नहीं रखते।

२६—बीमारी के कारण आधी उम्र का कम हो जाना, अतएव अकाल ही में शरीर का छूटना।

बीमारी से सिर्फ़ इतनी ही हानियाँ नहीं हैं। शरीर तो मिट्टी हो ही जाता है, पर जीवन की दुर्गति होते होते उसका भी नाश हो जाता है। शरीर निर्बल हो जाने से अकाल मृत्यु आये बिना नहीं रहती। लोगों का ख़याल है कि बीमारी से उठने के बाद तबीयत फिर पहले की ऐसी हो जाती है। वे समझते हैं कि दवा करने से, बीमारी चली जाने पर, शरीर फिर पूर्ववत् हो जाता है। यह समझना भूल है। शरीररूपी यन्त्र का कील-कांटा एक दफ़े बिगड़ा कि फिर वह कभी पूर्ववत् नहीं होता। शरीर के प्रत्येक अवयव का काम बँधा हुआ है। प्रकृति ने सबको जुदा जुदा काम

दे रक्खा है। इस काम में यदि कोई बाधा आती है तो शरीर पर उसका कुछ न कुछ असर ज़रूर होता है। उस बाधा के न रहने पर भी—उस बीमारी के दूर हो जाने पर भी—वह अपना कुछ न कुछ चिह्न ज़रूर छोड़ जाती है। इस तरह की हानि चाहे तत्काल न मालूम हो; पर उसका बीज जहाँ का तहाँ रहता है; वह नष्ट नहीं होता। प्रकृति उसे अपने हिसाब में जोड़ने से नहीं चूकती। वह इस तरह की छोटी-मोटी सब बातों को अपने रजिस्टर में बड़ी सावधानी से दर्ज करती जाती है और कोई दिन ऐसा आता है जब हमें हर एक हानि का फल भोगना पड़ता है। इससे हमारी ज़िन्दगी का कुछ अंश ज़रूर कम हो जाता है। हर एक बीमारी और हर एक विकार के कारण इस शरीर-यन्त्र की कलों में थोड़ी थोड़ी कसर रह जाने से भयङ्कर परिणाम होते हैं और शरीर भीतर ही भीतर बिगड़ कर अकाल ही में गिर जाता है। यदि हम इस बात का विचार करते हैं कि आदमी के जीवन की स्वाभाविक सीमा क्या है, और वह मामूली तौर पर जीता कब तक है, तो हमारी आँखें खुल जाती हैं। इस तरह मुक़ाबला करने से जब हम यह देखते हैं कि आदमी की औसत ज़िन्दगी बहुत ही कम है तब इस तरह की हानियों की गुरुता ठीक ठीक हमारे ध्यान में आती है—तब हमें समझ पड़ता है कि हमारा कितना नुक़सान हुआ। समय समय पर होने वाली सैकड़ों बीमारियों के कारण आदमी की ज़िन्दगी में जो कमी हुआ करती है उसमें यह बहुत बड़ी आख़िरी कमी जोड़ देने से मालूम होता है कि मामूली तौर पर आधी ज़िन्दगी किसी काम न आई। वह व्यर्थ गई। उससे कोई काम न निकला।

२७—आरोग्य-रक्षा के नियमों की शिक्षा की ज़रूरत के कारण।

अतएव जिस ज्ञान, जिस विद्या, जिस शिक्षा से ज़िन्दगी का आधा हिस्सा व्यर्थ न जाकर आत्म-रक्षा हो उसका दरजा सबसे बड़ा है। इससे हमारा यह मतलब नहीं—हम यह दावा नहीं करते—कि इस तरह की शिक्षा से ऊपर बतलाई गई ख़राबियाँ बिलकुल ही दूर हो जायँगी। हम यह नहीं कहते कि उनका जड़ से नाश हो जायगा। आज कल हमारी

नहीं हैं तो वेमन सीखी हुई बातें निर्जीव की तरह उसके दिमाग़ में भरी रह जायँगी और उनका शायद ही कभी कोई उपयोग होगा। अर्थात् इस तरह शिक्षा प्राप्त करना न करने के बराबर है।

१४—जिन नियमों के अनुसार वनस्पतियों और प्राणियों का शरीर-पोषण होता है उन्हीं के अनुसार मनुष्यों का मानसिक पोषण भी होना चाहिए।

परन्तु यहाँ पर यह बात पूछी जा सकती है कि—"किसी खिास प्रकार की शिक्षा-पद्धति निश्चित करने के लिए इतना कष्ट उठाने की ज़रूरत ही क्या है ? यदि यह बात सच है कि शरीर की तरह मन की भी उन्नति ऐसे नियमों के अनुसार होती है जो पहलेही से निश्चित हो चुके हैं; यदि वह आपही आप परिपक्व अवस्था को पहुँच जाता है; जिन विशेष विशेष बातों के सीखने से मन का पोषण होता है उन्हें यथासमय सीखने के लिए यदि उसे आपही आप इच्छा होती है; और यदि मन में ही एक ऐसी शक्ति विद्यमान है जो आपही आप यह बतला देती है कि किस समय कौन सी शिक्षा दरकार है—तो फिर लड़कों की शिक्षा में हस्तक्षेप करने की ज़रूरत ही क्या है ? बच्चों को शिक्षा देने के विषय में दस्तन्दाज़ी करने की आवश्यकता ही क्या है ? क्यों न बच्चे बिलकुल ही प्रकृति के भरोसे छोड़ दिये जायँ ? क्यों न उनका विद्याभ्यास सृष्टिक्रम ही के अनुसार हो ? क्यों न हम लोग इस विषय में चुपचाप रहें और जिस तरह शिक्षा प्राप्त करना लड़कों को अच्छा लगे उसी तरह खुद ही उसे प्राप्त करने के लिए उन्हें अनुमति दे दें ? क्यों न सब बातों में हम एक सा बर्ताव करें" ? यह प्रश्न बहुत ही बेढँगा है। इसमें सत्य की अपेक्षा सत्याभास ही की मात्रा अधिक है। हमने यहाँ तक इस विषय का जो प्रतिपादन किया उसका मतलब प्रश्नकर्ता ने, जान पड़ता है, यही समझ रक्खा है कि बच्चों की शिक्षा का क्रम बिलकुल ही खुला हुआ छोड़ दिया जाय; उसमें किसी तरह का प्रतिबन्ध ही न रहे। यदि यह बात ऐसी ही हो तो मानों यह सिद्ध हो गया कि हमने स्वयं अपनी ही तर्कना-प्रणाली से हार खाई। परन्तु सच

तक माँ के दूध पर निर्वाह करना पड़ता है। इसके बाद उसे धीरे धीरे अन्न खिला कर उसकी जीवन-रक्षा की जाती है। जब वह कुछ बड़ा होता है और खुद खाने-पीने लगता है तब भी उसके लिए भोजन, वस्त्र और रक्षा का प्रबन्ध करना पड़ता है। पैदा होने के बाद पन्द्रह बीस वर्ष तक पूरे तौर पर अपना निर्वाह आप कर लेने का सामर्थ्य उसमें नहीं आता। तब तक उसके वस्त्राच्छादन आदि का प्रबन्ध औरों को करना पड़ता है। यह नियम मन के लिए भी वैसा ही कारगर होना चाहिए जैसा कि शरीर के लिए है। जितने ऊँचे दरजे के प्राणी हैं—विशेष करके मनुष्य—उनको, मानसिक पोषण के लिए, लड़कपन में अपने से बड़ों की मदद ज़रूर दरकार होती है। शुरू शुरू में उन्हें अपनी मदद के लिए दूसरों ही का मुँह ताकना पड़ता है। बच्चे के शरीर में इधर उधर घूमने फिरने की शक्ति न होने के कारण, अपना पेट पालने के लिए, भोजन की सामग्री प्राप्त करने की शक्ति जिस तरह उसमें नहीं होती प्राय: उसी तरह अपनी मानसिक शक्तियों की सञ्चालना के लिए उचित साधन प्राप्त करने की शक्ति भी उसमें नहीं होती। जिस तरह वह अपनी जीवन-रक्षा के लिए भोजन नहीं तैयार कर सकता ठीक उसी तरह जानने लायक़ बहुत से विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हें वह उचित आकार में नहीं ला सकता। अर्थात् सैकड़ों तरह की जुदा जुदा बातों के जानने की रीति नहीं मालूम कर सकता। जिस भाषा की सहायता से सारी बड़ी बड़ी बातों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसका सर्वांश वह अपने पास के आदमियों से सीखता है। माँ-बाप और दाई इत्यादि से मदद न मिलने से बच्चों की बुद्धि ज़रूर कुण्ठित होती है—ज़रूर उसकी बाढ़ मारी जाती है। फ़्रांस के आवेरन प्रान्त के जंगली लड़कों में इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण मौजूद है। (हिन्दुस्तान में कोल, भील, गोंड और सोंताल आदि जंगली आदमियों के लड़कों की बुद्धि का भी यही हाल है) अतएव जो बातें रोज़ दिन बच्चों को सिखलाई जायँ वे उनके योग्य होनी चाहिए और योग्य रीति से ही सिखलाई जानी चाहिए। और यह भी ज़रूरी है कि बहुत सी बातें एकदम ही न सिखला कर थोड़ी थोड़ी सिखलाई जायँ। जो समय जैसा

बातों के सिखलाने के लिए मुनासिब हो उसी समय उनकी शिक्षा हो और योग्य समय, योग्य रीति और योग्य अवकाश का हमेशा ख़याल रहे। उचित उपायों की योजना से जिस तरह बच्चों के शरीर का सुधार किया जाता है उसी तरह यथेष्ट उद्योग करने से उनके मन का भी सुधार हो सकता है। शरीर और मन दोनों के सम्बन्ध में यह देखना माँ-बाप का कर्त्तव्य है कि उनकी बाढ़ के लिए जो बातें दरकार हैं वे हैं या नहीं। जिस तरह भोजन, वस्त्र और रहने के लिए घर देने में माँ-बाप अपने कर्तव्य को इस तरह पूरा कर सकते हैं कि शरीर के अवयवों और अँतड़ियों की यथाक्रम और यथारीति आपही आप बाढ़ होने में कोई विघ्न न आवे, उसी तरह नक़ल के लिए ध्वनि, देख-भाल के लिए पदार्थ, पढ़ने के लिए किताबें, और हल करने के लिए प्रश्न या हिसाब भी देकर वे अपना कर्तव्य-पालन कर सकते हैं। मन की शक्तियों का जिस स्वाभाविक रीति से उत्कर्ष होता है उसमें इस तरह के व्यवहार से कोई भी बाधा नहीं आ सकती; उलटा उससे यह काम और अधिक सुलभ हो जाता है। हाँ, एक बात यह ज़रूर है कि इस विषय में माँ-बाप को बच्चों पर किसी तरह की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सख़्ती न करना चाहिए। किसी किसी का ख़याल है कि हमारे मत के अनुसार काम करना मानों बच्चों को शिक्षा देने से हाथ धो बैठना है। परन्तु यह उनकी भूल है। जो कुछ यहाँ तक लिखा गया है उससे सिद्ध है कि हमारे मत के अनुसार शिक्षा-पद्धति जारी करने से विशेष विस्तृत और उपयोगी शिक्षा के लिए काफ़ी जगह बाक़ी रहेगी।

१५—पेस्टलोज़ी की शिक्षा-पद्धति में सफलता न होने का कारण योग्य शिक्षकों का अभाव है।

यहाँ तक हमने केवल व्यापक बातों ही का विचार किया। अब हम थोड़ी सी विशेष विशेष बातों का भी विचार करना चाहते हैं। पेस्टलोज़ी की निकाली हुई शिक्षा-पद्धति से जितना लाभ सोचा गया था उतना नहीं

हुआ। उसके ख़याली मनसूबे के हिसाब से बहुत कुछ लाभ होना चाहिए था। पर व्यवहार-दृष्टि से उसका होना हम नहीं स्वीकार कर सकते। हम सुनते हैं कि उसकी शिक्षा-पद्धति के अनुसार लड़कों को पढ़ाने से पाठ याद करने में उनका मन बिलकुल ही नहीं लगता; उलटा उससे उनकी तबीयत हट जाती है। अथवा यों कहिए कि पढ़ने से उन्हें घृणा हो जाती है। और, जहाँ तक पता लगा है हम कह सकते हैं कि पेस्टलोज़ी की पद्धति के अनुसार जिन मदरसों में शिक्षा दी जाती है उनमें तैयार हुए वालों विद्वानों की संख्या और मदरसों में तैयार हुए विद्वानों की संख्या से कुछ अधिक भी नहीं है। हमें तो संदेह है कि इस बात में ये मदरसे दूसरे मदरसों की बराबरी भी शायद न कर सके हों। पर यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। हर एक युक्ति की कामयाबी, उसे सुविचारपूर्वक बुद्धिमानी से प्रयोग करने ही पर बहुत करके अवलम्बित रहती है। एक पुरानी कहावत है कि अनाड़ी कारीगर अच्छे से अच्छे औज़ारों से भी काम ख़राब कर डालता है। इसी तरह अनाड़ी अध्यापक उत्तम से भी उत्तम शिक्षा-प्रणाली के अनुसार शिक्षा देकर कामयाब नहीं होता। उसकी दी हुई शिक्षा में दोष रहही जाते हैं। सच बात तो यह है कि ऐसी दशा में शिक्षा-पद्धति का उत्तम होना ही अध्यापकों की नाकामयाबी का कारण होता है। जिस तरह पूर्वोक्त दृष्टान्त में औज़ारों की उत्तमताही काम बिगड़ने का कारण होती है, उसी तरह शिक्षा-पद्धति की उत्तमता भी, अनाड़ी अध्यापकों के योग से, शिक्षा के बिगड़ने का कारण होती है। शिक्षा-पद्धति सीधी सादी, अपरिवर्तनीय और प्रायः कल की तरह बराबर एकसी चलने वाली होने से बहुत ही साधारण शिक्षा-बुद्धि का आदमी भी उसका उपयोग कर सकेगा और उससे थोड़ा-बहुत लाभ जो हो सकता होगा वह भी होगा। परन्तु जो शिक्षा-पद्धति सब तरह से परिपूर्ण है; जिसमें कोई कमी नहीं है; जिसमें जुदा जुदा तरह की मानसिक शक्तियों के ख़याल से जुदा जुदा तरह के शिक्षण की योजना की गई है, और जिसमें हर एक उद्देश की सिद्धि के लिए नई नई तरकीबें निकाली गई हैं—उसका उचित रीति से उपयोग करने के लिए जैसी योग्यता

दरकार होती है वैसी बहुत कम अध्यापकों में पाई जाती है। लड़कियों के मदरसों की अध्यापिका हिन्दी के पाठ (या शब्दों के शुद्ध उच्चारण) सुन सकती हैं और कोई भी देहाती मुदर्रिस या मानीटर पहाड़े पढ़ाने की कवायद लड़कों से करा सकता है। परन्तु अक्षरों के नाम न बतला कर उनके उच्चारण से उन्हें शुद्ध शुद्ध लिखना सिखलाना और अंकों का जोड़ इत्यादि तख्ती पर न लिखा कर उनके योग-वियोग आदि का फल प्रत्यक्ष तजरिबे से बतलाना बुद्धिमानों का काम है। यह काम सब अध्यापकों से नहीं हो सकता। अतएव सब विषयों को, आदि से लेकर अन्त तक, इसी तरकीब से सिखलाने के लिए अध्यापक में सारासार-विचार-शक्ति, नई नई बातों की कल्पना-शक्ति, विद्यार्थियों के मनोभाव जानने की शक्ति, उनके मानसिक विकारों के साथ सहानुभूति और सब बातों को अच्छी तरह हृदयङ्गम करा देने की योग्यता का होना बहुत ज़रूरी है। परन्तु जब तक अध्यापकी काम का आदर न होगा—जब तक मुदर्रिसी पेशे की, आज कल की अपेक्षा, अधिक क़दर न होगी—तब तक अध्यापकों में इन गुणों के आने की आशा रखना व्यर्थ है। सच्ची शिक्षा का मिलना सच्चे विद्वान् ही से सम्भव है। जो सच्चा शास्त्रवेत्ता है—जो सच्चा विज्ञान-विशारद है—वही सच्ची शिक्षा दे सकेगा। अब आपही इस का फ़ैसला कीजिए कि कार्य्य-कारण-भाव को ध्यान में रख कर निकाली गई इस नई शास्त्र-सम्मत शिक्षा-प्रणाली के अनुसार शिक्षा देने में इस समय कहाँ तक कामयाबी हो सकती है। मानस-शास्त्र या मनोविज्ञान का इस समय तक लोगों को बहुत कम ज्ञान है और अध्यापक लोग तो उस बहुत कम ज्ञान से भी सर्वथा अनभिज्ञ हैं। उनको तो इस शास्त्र का गन्ध तक नहीं है। फिर भला जिस शिक्षा-पद्धति का आधार यह शास्त्र है उसके अनुसार शिक्षा देने में कामयाबी की कैसे उम्मेद हो सकती है।

१६—पेस्टलोज़ी के सिद्धान्तों में भूल नहीं; भूल है उन सिद्धान्तों के व्यवहार की रीति में।

इस शिक्षा-पद्धति के प्रचार में जो प्रतिबन्धकता और निराशा हुई है

उसका एक कारण यह भी है कि लोगों ने पेस्टलोज़ी के असल सिद्धान्तों को उसके नाम से बिकनेवाली सारी शिक्षा-पद्धतियों के साथ गड्डबड्ड कर दिया है। उन्होंने यह समझ लिया है कि जो शिक्षा-पद्धतियाँ पेस्टलोज़ी के नाम से प्रसिद्ध हैं वे ठीक उसी के सिद्धान्तों के अनुसार हैं। इस नये तरीके से शिक्षा देने की जो दो चार कोशिशें हुई हैं—जो दो चार विशेष विशेष तदबीरें की गई हैं—उनसे आशानुरूप फल न हुआ देख लोगों ने यह समझ लिया कि जिस शिक्षा-पद्धति के नाम से यह तरीका प्रचलित किया गया था वह पद्धति ही दोषपूर्ण है। किसी ने इस बात की खोज न की कि मूल शिक्षा-पद्धति से यह तरीका मिलता भी है या नहीं। लोगों की आदत ही प्रायः ऐसी होती है कि वे मूल सिद्धान्त का विचार न करके उसकी एक आध शाखा ही को देख कर राय क़ायम कर डालते हैं। यही उन्होंने यहाँ भी किया। बाहरी व्यावहारिक बातों में दोष देखते ही उन्होंने मूल सिद्धान्तों ही को दोषी ठहरा डाला। भाफ़ से चलनेवाला यञ्जिन बनाने में प्रयत्न निष्फल होने पर यदि यह अनुमान किया जाता कि भाफ़ के ज़ोर से यञ्जिन चलेहीगा नहीं या यान्त्रिक कामों में भाफ़ की शक्ति का उपयोग होवेहीगा नहीं, तो यह अनुमान कहाँ तक सयौक्तिक माना जाता? इस नवीन शिक्षा-पद्धति से सम्बन्ध रखने वाला लोगों का अनुमान भी ठीक ऐसाही है। यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि पेस्टलोज़ी के मूल सिद्धान्त निर्भ्रान्त हैं; उनमें कोई भूल नहीं है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि उनकी योजना भी निर्भ्रान्त है। सिद्धान्तों का सही होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उन सबके व्यावहारिक प्रयोग का तरीका भी सही है। पेस्टलोज़ी के चाटुकार और प्रशसक मित्रों ने भी यह बात स्वीकार की है कि वह एकदेशीय विद्वान् था—कभी कभी प्रसंगविशेष उपस्थित होने पर उसे आन्तरिक स्फूर्ति होती थी और उस स्फूर्ति से उत्तेजित होने पर उसे वैज्ञानिक कल्पनायें सूझती थीं। उसकी विचार-परम्परा नियमानुसारिणी न होती थी। सब बातों का अच्छी तरह मनन करके वह अपने विचार यथानियम न प्रकट कर सकता था। स्तान्ज़ नामक नगर में उसे पहले पहल

नाम लेने योग्य कामयाबी हुई। यही उसकी पहली बड़ी कामयाबी है। उस समय उसके पास न तो कोई किताबें थीं और न साधारण रीति से शिक्षा देने का और ही कोई सामान था। कहते हैं कि—"उस समय उसका ध्यान सिर्फ़ इस बात के जानने की ओर था कि बच्चों को हर घड़ी किस तरह की शिक्षा मिलनी चाहिए, और जिस शिक्षा को बच्चों ने पहले ही प्राप्त कर लिया है उसका नई शिक्षा से मेल मिलाने की सबसे अच्छी तरकीब कौन सी है"। बच्चों से वह बहुत अधिक सहानुभूति रखता था। उनके साथ उसकी बहुत गहरी हमदर्दी थी। उनके कल्याण की उसे इतनी चिन्ता रहती थी कि, किस बात की उन्हें ज़रूरत है और किस बात की कठिनता उन्हें खलती है, यह उसे तत्काल ही मालूम हो जाता था। शिक्षा-पद्धति से सम्बन्ध रखनेवाली उसकी शक्ति विशेष करके इसी सहानुभूति से उत्पन्न हुई थी। शान्ति-पूर्वक विचार करके शिक्षा देने की कोई नई रीति उसने नहीं निकाली। समय समय पर तजरिबे से जो बातें उसे मालूम हो जाती थीं उनका उचित रीति से मेल मिला कर उनकी उन्नति करने की योग्यता उसमें न थी। इससे यह काम उसे अपने सहायक क्रुसेज़ो, टाब्लर, बस, नीडरर और स्मिड को सौंपना पड़ता था। इसका परिणाम यह हुआ कि उसकी और उसके शिष्यों की निकाली हुई युक्तियों का ठीक ठीक मेल न मिलने से उनमें बहुत तरह की कमी रह गई। यही नहीं, किन्तु परस्पर बहुत कुछ असङ्गति भी रह गई। उसने "मदर्स मैन्युअल" नाम की एक किताब बनाई है। माँ के द्वारा छोटे छोटे बच्चों को शिक्षा देने की विधि उसमें है। उसके आरम्भ में शरीर के जुदा जुदा अङ्गों के नाम हैं। उसके बाद यह बतलाया गया है कि कौन अवयव किसके पास है। फिर उनके परस्पर सम्बन्ध का वर्णन है। यह क्रम उस क्रम के अनुसार नहीं है जिसके अनुसार बचपन में लड़कों की मानसिक शक्तियाँ वृद्धि पाती हैं। यह बात अच्छी तरह साबित की जा सकती है। इसमें सन्देह नहीं। वाक्यों में आये हुए शब्दों का अर्थ यथा-नियम याद कराकर मातृभाषा सिखलाने का जो तरीक़ा उसने निकाला है उसकी कोई ज़रूरत न थी। ऐसा करने से विद्यार्थियों का समय और श्रम

व्यर्थ जाते हैं और उनका उत्साह भी भङ्ग हो जाता है। इस तरह मातृभाषा सीखने में उन्हें कुछ भी मज़ा नहीं आता। भूगोल-विद्या से सम्बन्ध रखने वाले जिस तरह के पाठ पढ़ाने की वह सिफ़ारिश करता है वे उनके सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल हैं। दोनों में ज़रा भी मेल नहीं। और, बहुधा यह बात भी देखी जाती है कि जहाँ कहीं उसके मनसूबे ठीक भी हैं—उसकी युक्तियां निर्भ्रान्त भी हैं—वहाँ या तो उनमें किसी न किसी तरह की कमी है या वे इस लिए सदोष हैं कि उनमें पुरानी शिक्षा-पद्धति का थोड़ा बहुत अंश मिल गया है। अतएव पेस्टलोज़ी के द्वारा निश्चित किये गये शिक्षा के मूल सिद्धान्तों को यद्यपि हम निर्दोष समझते हैं, और यद्यपि हम सर्वथा उनके पक्ष में हैं, तथापि हम यह भी कहते हैं कि विशेष विशेष बातों के सम्बन्ध में उसके विशेष विशेष तरीक़ों के अनुसार, बिना उन पर अच्छी तरह विचार किये, शिक्षा देने में बहुत बड़े अनर्थ की सम्भावना है। मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति कुछ ऐसी है कि यदि बहुत बड़े महत्त्व की कोई बात परम्परा से उन्हें प्राप्त होती है तो उससे सम्बन्ध रखने वाली सारी रीति-रस्में वे बहुत करके शिरसा वंद्य समझते हैं। वे बहुधा अपनी समझ-बूझ और विद्या-बुद्धि को एक आध सिद्ध, साधु या महात्मा के चरणों पर फूल की तरह चढ़ा देते हैं और जो कुछ उसके मुँह से निकलता है उसके एक एक शब्द को वेदवाक्य समझ लेते हैं। अथवा यों कहना चाहिए कि तत्त्व बात की तो वे परवा नहीं करते, पर उसके बाहरी आडम्बर ही को सब कुछ समझ कर उसी के पीछे पागल हो जाते हैं। इस कारण हम बात पर ज़ोर देकर बार बार कहने की ज़रूरत है कि पेस्टलोज़ी के शिक्षा-सम्बन्धी मूल सिद्धान्तों और व्यवहार में—उनका प्रयोग करने के लिए निकाली गई तरकीबों में—बहुत बड़ा अन्तर है। उसके सिद्धान्तों को हम अपने मन में निर्भ्रान्त और निश्चित समझ सकते हैं। परन्तु साथ ही उसके हमें यह भी समझना चाहिए कि उनको काम में लाने की तरकीबों में उन सिद्धान्तों की थोड़ी सी झलक के सिवा बहुत करके और कुछ भी नहीं है। अपने ज्ञान, अपनी शिक्षा, अपनी विद्या की वर्तमान दशा को देखने से हमें इस बात का पक्का विश्वास हो जायगा कि हमारी शिक्षा की

दशा सचमुच ही ऐसी है। यदि हमारी यह इच्छा हो कि जिस क्रम और जिस रीति से मानसिक शक्तियां बढ़ती हैं उसी क्रम और उसी रीति के अनुसार शिक्षा-प्रणाली का रूप और उसकी व्यवस्था हो तो इस बात के अच्छी तरह जानने की सबसे पहले ज़रूरत है कि मानसिक शक्तियां किस तरह बढ़ती हैं, अर्थात् उनका विकास किस तरह होता है—उनकी उन्नति किस तरह होती है। इस समय तक हम इस विषय में, साधारण तौर पर, केवल कुछ ही बातें जान सके हैं। अभी तक हम केवल थोड़ी सी अटकल भर लगा सके हैं। परन्तु इतने से कुछ भी नहीं हो सकता। अटकल से जानी गई इन साधारण बातों से—इन मामूली ख़यालों से—सम्बन्ध रखने वाली जितनी विशेष विशेष बातें हैं उन सबका खोज करके उनकी उन्नति करना चाहिए। इनसे सम्बन्ध रखने वाली जितनी कच्ची बातें हैं उन्हें जान कर तत्सम्बन्धी ज्ञान ख़ूब बढ़ाना चाहिए। इतना ही नहीं, किन्तु प्रसंग पड़ने पर सब विषयों में उपयोगी होने के लिए इन साधारण सिद्धान्तों को अनेक प्रकार के जुदा जुदा सिद्धान्तों में विशेष रूप से बांटना चाहिए। ऐसा करने ही से यह कहा जा सकेगा कि हम उन विज्ञान को जानते हैं—हम उस शास्त्र का ज्ञान रखते हैं—जिसके आधार पर शिक्षा-मन्दिर की इमारत खड़ी की जानी चाहिए। जब यह बात अच्छी तरह हमारी समझ में आ जायगी कि किस तरह और किस क्रम से हमारी मानसिक शक्तियां विकसित होकर अपना काम ख़ूब उत्साह से करती हैं, तब प्रत्येक शक्ति को काम में लाने की जितनी रीतें मालूम होंगी उनमें से जिस रीति की तरफ़ मन का स्वाभाविक झुकाव सबसे अधिक होगा, उसीके अनुसार शिक्षा में प्रवृत्त होना भर बाक़ी रह जायगा। इससे यह बात स्पष्ट है कि शिक्षा देने की तरकीबों में से जिनको हम सबसे अधिक उन्नत और अच्छी समझते हैं वे भी निर्दोष या प्रायः निर्दोष नहीं हैं।

१७—पेस्टलोज़ी के सिद्धान्तों और उनको आधार मान कर प्रचलित की गई शिक्षा-प्रणाली में अन्तर है।

पेस्टलोज़ी के सिद्धान्तों और उनको आधार मान कर प्रचार में लाई

गई शिक्षा की तरक़ीबों में जो अन्तर है उसे याद रखने, और ऊपर दिये गये कारणों से उन तरक़ीबों को सर्वथा दोष-पूर्ण मान लेने, से पाठकों के ध्यान में यह बात अच्छी तरह आ जायगी कि पेस्टलोज़ी की शिक्षा-पद्धति के विषय में लोगों ने जो अप्रसन्नता प्रकट की है उसकी क़ीमत कितनी है। इससे यह बात भी उनकी समझ में आ जायगी कि शिक्षा के सम्बन्ध में पेस्टलोज़ी के जो सिद्धान्त हैं उनकी यथार्थ रीति के अनुसार शिक्षा देने का कहीं प्रयत्न नहीं हुआ। जो कुछ हमने इस विषय में कहा उस पर शायद कोई यह दलील करे कि पेस्टलोज़ी की शिक्षा-प्रणाली के अनुसार इस समय शिक्षा देना प्रायः असम्भव सा है। इस लिए इस शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध की सारी कोशिशें शुरू से ही करनी चाहिए। अर्थात् नये सिरे से फिर इन बातों का विचार होना चाहिए। इस पर हमारा यह उत्तर है कि जब तक मनोविज्ञान या मानस-शास्त्र एक नया शास्त्र नहीं बन जाता तब तक किसी ऐसी शिक्षा-प्रणाली को पूर्णता को पहुँचाना यद्यपि असम्भव है—चाहे उसके सिद्धान्तों की पूर्णता के ख़याल से कहिए, चाहे उनकी व्यावहारिक योजना के ख़याल से—तथापि बहुत सम्भव है कि थोड़े से पथ-प्रदर्शक सिद्धान्तों की मदद से, या यों कहिए कि अटकल से जाने गये कुछ नियमों को आधार मानने से, तजरिबे के बल पर हम किसी पूर्णता प्राप्त शिक्षा-पद्धति के पास तक पहुँच जायँ। ऐसा करने से सम्भव है कि हमें कोई ऐसी निर्दोष शिक्षा-पद्धति मालूम हो जाय जिसके सिद्धान्त भी प्रायः निर्दोष हों और काम में लाने के तरीक़े भी। भविष्यत् में खोज का रास्ता साफ़ रखने के इरादे से हम इस विषय के कुछ नियम यहाँ पर देते हैं। उनमें से कुछ नियमों का थोड़ा बहुत दिग्दर्शन, इस किताब में, हम पहले ही कर चुके हैं। तथापि यहाँ पर न्यायशास्त्र के अनुसार उनका यथाक्रम उल्लेख अच्छा होगा।

१८—(१) सरल बातें पहले सिखलाकर तब कठिन बातें सिखलाना चाहिए।

शिक्षा के इस नियम के अनुसार कि "सरल विषयों को पहले सिखला

कर तब कठिन विषयों को सिखलाना चाहिए," लोग थोड़ा बहुत हमेशा व्यवहार करते आये हैं—इस नियम का थोड़ा बहुत अनुसरण लोग हमेशा से करते आये हैं। हां हम यह नहीं कहते कि उन्होंने जान बूझ कर इसका अनुसरण किया है। और न हम यही कहते हैं कि जान बूझ कर वे इस नियम के बाहर ही गये हैं। मन का विकास होता रहता है; उसे पक्वता प्राप्त होती जाती है। इसमें सन्देह नहीं। अतएव जिन वस्तुओं को जगत् में धीरे धीरे परिपक्वता प्राप्त होती है—जिनकी यथाक्रम वृद्धि होती है—उन्हीं की तरह मन भी अपनी एकरूपता छोड़ कर बढ़ते बढ़ते भिन्नरूपता को प्राप्त होता है। प्रकृत सच्ची शिक्षा-पद्धति, यथाक्रम होनेवाली इस मानसिक उन्नति की बाहरी प्रतिमा है। इससे उसमें उन्नति का स्वाभाविक क्रम होना ही चाहिए। सच्ची और स्वाभाविक शिक्षा-प्रणाली के सिद्धान्तों का जो तात्पर्य्य हमने बताया उसे वैसा मान लेने से यह बात भी ध्यान में आ जाती है कि पूर्वोक्त नियम बहुत अधिक व्यापक है। उस नियम का आशय यह है कि सरल बातें पहले सिखलाई जायँ, कठिन पीछे। शिक्षा की प्रत्येक शाखा के विषय में ही इस क्रम के अनुसार कारवाई न होनी चाहिए, किन्तु जितना शिक्षा-समूह है—जितना ज्ञान-भाण्डार है—सबके विषय में यही क्रम रखना चाहिए। जितनी शिक्षा दी जाय सब इसी क्रम से दी जाय। जितना विद्योपार्जन किया जाय इसी क्रम से किया जाय। पहले पहल मन की बहुत ही कम शक्तियां काम में आती हैं। जैसे जैसे वे बढ़ती जाती हैं वैसे ही वैसे उनका काम भी बढ़ता जाता है। अर्थात् मानसिक शक्तियां, एक के बाद एक, जैसे जैसे उन्नत होकर काम के लायक होती हैं वैसे ही वैसे मानसिक व्यापार भी बढ़ता जाता है। अन्त में सारी शक्तियां उन्नत होकर एक ही साथ सब अपना अपना काम करने लगती हैं। इससे यह नतीजा निकलता है कि बच्चों को पहले पहल एक ही दो विषयों की शिक्षा देनी चाहिए। उनकी संख्या धीरे धीरे बढ़ा कर अन्त में सब विषयों की शिक्षा का एक ही साथ प्रबन्ध करना चाहिए। सिर्फ़ जुदा जुदा विषयों की शिक्षा देने ही में सहज से शुरू करके कठिन तक न पहुँचना चाहिए, किन्तु समग्र शिक्षा-पद्धति में इसी क्रम से काम लेना चाहिए।

१६—(२) बच्चों को पहले मोटी मोटी अनिश्चित बातें सिखलाकर तब निश्चित और बारीक बातें सिखलानी चाहिए।

दूसरे सांसारिक पदार्थों की तरह मानसिक शक्तियाँ भी अव्यक्त से व्यक्त की तरफ़ बढ़ती हैं। अर्थात् अनिश्चित बातों के बाद मनुष्य को निश्चित बातों का ज्ञान होता है। शरीर के दूसरे अवयवों की तरह, वयस्क, अर्थात् बालिग़, होने पर ही मस्तिष्क को परिपक्वता प्राप्त होती है। मस्तिष्क की रचना जितनी ही अपूर्ण होगी—दिमाग़ की बनावट जितनी ही अधूरी होगी—उसके व्यापारों में भी उतनी ही अपूर्णता रहेगी। उसी परिमाण में वे अनिश्चित, अव्यक्त या अधूरे रहेंगे। यही कारण है कि बोलने के लिए किया गया बच्चों का पहला यत्न और चलना फिरना जैसे अनिश्चित होता है वैसे ही उनके पहले पहल के विचार और ज्ञानाङ्कुर अनिश्चित और अस्पष्ट होते हैं। अनाड़ी आदमी की नज़र में पहले पहल सिर्फ़ अँधेरे और प्रकाश का भेद मालूम होता है। पर अभ्यास करते करते वही नज़र ऐसी हो जाती है कि वह जुदा जुदा रङ्ग, उसकी कमी बेशी और सब चीज़ों के आकार भी वह बहुत ठीक ठीक बतला सकता है। बुद्धि का, और उसकी भिन्न भिन्न जितनी शाखायें हैं उनका भी, यही हाल है। पहले पहल उन्हें पदार्थों और क्रियाओं के बहुत ही मोटे मोटे भेद समझ पड़ते हैं। धीरे धीरे उनकी यहाँ तक उन्नति हो जाती है कि बहुत बारीक भेद तक उन्हें पूरे तौर पर और साफ़ साफ़ समझ पड़ने लगते हैं। हमारी शिक्षा-पद्धति और उसे व्यवहार में लाने के तरीक़े इसी साधारण नियम के अनुसार ज़रूर होने चाहिए। अपरिपक्व मन में पक्व या तुले हुए विचारों का प्रवेश होना सम्भव नहीं, और यदि कदाचित् सम्भव भी हो तो भी उनका प्रवेश होना मुनासिब नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुले हुए परिपक्व विचार, शब्दों के भीतर रख कर, बचपन में लड़कों को सिखलाये जा सकते हैं; और जिन अध्यापकों की आदत इस तरह सिखलाने की पड़ गई है वे समझते हैं कि शब्द ठीक ठीक याद हो जाने ही से उनमें भरा हुआ ज्ञान

याद करनेवाले को हो जाता है। परन्तु विद्यार्थी से दो चार उलटे पलटे प्रश्न करते ही सच्ची बात बाहर निकल आती है और यह मालूम हो जाता है कि यथार्थ बात बिलकुल ही उलटी है। इस तरह के प्रश्नों से या तो यह साबित होता है कि अर्थ का बहुत ही थोड़ा ज्ञान अथवा कुछ भी न प्राप्त करके केवल शब्द कण्ठ कर लिये गये हैं, या यदि अर्थ का ज्ञान प्राप्त भी किया गया है तो वह बहुत ही कच्चा है। सिर्फ़ उस समय जब अनेक तजरिबों से प्राप्त हुई सामग्री की सहायता से मनुष्य के विचार नियत, निश्चित, तुले हुए हो जाते हैं—सिर्फ़ उस समय जब वर्ष प्रति वर्ष देख-भाल करते रहने से उन चीज़ों और उन क्रियाओं के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म भेद मालूम होने लगते हैं। जो पहले एक दूसरे से मिले हुए मालूम होते थे—सिर्फ़ उस समय जब हर तरह के उदाहरण बारबार देखने से यह मालूम हो जाता है कि कौन कौन बातें एक ही साथ होती हैं, कौन बात होने से कौन बात होती है, और वे सब किस किस दरजे की हैं—सिर्फ़ उस समय जब सब बातों के जुदा जुदा सम्बन्ध की परस्पर मर्यादा या हद को ध्यान में रख कर उनके ठीक ठीक भेद ध्यान में आ जाते हैं—तभी समझना चाहिए कि हमें ऊँचे दरजे के ज्ञान की यथार्थ कल्पना हो गई। इससे हमें उचित है कि प्रारम्भ की शिक्षा में हम अपूर्ण बातों से ही सन्तोष करें। प्राथमिक शिक्षा में जिन बातों से काम पड़ता है वे अपूर्ण ही होती हैं। हाँ, हमें इस बात पर ज़रूर ध्यान रखना चाहिए कि हम ऐसा प्रबन्ध करें जिसमें भविष्यत् में अनुभव द्वारा वे अपूर्ण बातें पूर्णता को पहुँच जायँ। शिक्षा की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें बड़ी बड़ी भूलों का संशोधन पहले होकर पीछे से छोटी छोटी भूलों का भी संशोधन धीरे धीरे हो जाय। इस तरह लड़कों के विचार परिपक्व और परिपूर्ण होते ही, लगे हाथ, वैज्ञानिक नियमों की शिक्षा शुरू करनी चाहिए।

२०—(३) प्राथमिक शिक्षा में विशेष बातें सीख चुकने पर साधारण बातें विद्यार्थियों को सिखलाई जायँ।

यह कहना कि हमारी शिक्षा-प्रणाली में मूर्त या दृश्य बातों की शिक्षा

पहले और अमूर्त या अदृश्य बातों की शिक्षा पीछे होनी चाहिए, [illegible] नियमों में से पहले नियम की थोड़ी बहुत पुनरुक्ति करना है। यदि कोई चाहे तो वह इस तरह का आक्षेप कर सकता है। तथापि यह ऐसा नियम है कि इसे बतलाना ही चाहिए। यदि इसका और कोई उद्देश न होकर सिर्फ़ इतना ही उद्देश हो कि कुछ विषयों में हमें यह मालूम हो जाय कि कौनसी बात सचमुच ही सरल और कौनसी सचमुच ही कठिन है, तो भी चिन्ता नहीं। क्योंकि अभाग्यवश इस विषय में लोगों को बहुत कुछ भ्रम हो रहा है। विशेष विशेष बातों के समुदायों को प्रकट करने के लिए लोगों ने कुछ साधारण नियम निकाले हैं। उनमें से प्रत्येक नियम ऐसा है कि उसके कारण बहुत सी बातें एक ही बात के अन्तर्गत आ जाने से उन बातों को समझने और उन्हें ध्यान में रखने में सुभीता होता है। अतएव लोग समझते हैं कि वही नियम यदि लड़कों के ध्यान में आजायँगे तो उनको भी उन सब बातों के समझने में सुभीता होगा। वे इस बात को भूलते हैं कि साधारण नियम सिर्फ़ उन सिर्फ़ विशेष बातों के मुक़ाबिले में सीधा और सहज में समझने योग्य हुआ करता है जो उसमें शामिल होती हैं। विशेष रूप में जितनी बातें किसी साधारण नियम में शामिल रहती हैं उनमें से अलग अलग हर बात के मुक़ाबिले में वह नियम सहल नहीं, किन्तु कठिन हुआ करता है। [illegible] विशेष बातों में से बहुत सी बातों का ज्ञान हो जाने ही पर साधारण नियम के योग से स्मरण-शक्ति का बोझ कम होकर विचार-शक्ति को सहायता मिलती है। अर्थात् प्रत्येक साधारण नियम के द्वारा विशेष प्रकार की अनेक बातों का नियमन होता है। इसमें यदि सब न सही तो उन विशेष बातों में से जब तक बहुत सी बातें समझ में नहीं आ जाती तब तक उस साधारण नियम से कुछ भी फ़ायदा नहीं होता। बिना ऐसा हुए साधारण रीति से लिखित हुए व्यापक नियम ठीक ठीक समझ ही में नहीं आते। जिनकी समझ में वे विशेष बातें नहीं आ जाती हैं उनके लिए इस प्रकार के व्यापक नियम एक पेचीदा पहेली से मालूम होते हैं। उनका [illegible] समझने में उनकी बुद्धि काम ही नहीं करती। विषयों को सुगम [illegible]

इन दोनों तरीक़ों को एक ही में गड़ बड़ कर देने के कारण, शिक्षा के प्राथमिक सिद्धान्तों में हस्तक्षेप करके, अध्यापकों से हमेशा भूल होती आई है। इस तरह की कारखाई का, ऊपर से देखने में, यद्यपि मूल नियमों से विरोध न भी मालूम हो, तथापि वास्तव में उसका विरोध मूल नियमों से ज़रूर ही होता है। मूल नियमों का यह मतलब है कि मुख्य सिद्धान्तों के प्रत्यक्ष उदाहरण देकर उन उदाहरणों के द्वारा मुख्य सिद्धान्तों में मन का प्रवेश कराया जाय। अर्थात् विशेष बातों से पहचान करा कर तब साधारण बातें बतलाई जायँ—मूर्त बातें सीख चुकने पर अमूर्त बातें सीखी जायँ।

२१—(४) जिस क्रम और जिस रीति से मनुष्य-जाति ने शिक्षा पाई है उसी क्रम और उसी रीति से बच्चों को शिक्षा मिलनी चाहिए।

इतिहास पर विचार करके यह देखना चाहिए कि किस क्रम और किस रीति से संसार में मनुष्य-जाति ने शिक्षा पाई है—किस क्रम और किस रीति से मनुष्य-जाति में ज्ञान का प्रसार हुआ है। यह जान कर उसी क्रम और उसी रीति के अनुसार बच्चों को शिक्षा देनी चाहिए। अथवा यों कहिए कि जिस तरीक़े से मनुष्य-जाति में ज्ञान की उत्पत्ति हुई है उसी तरीक़े से जुदा जुदा हर आदमी में उसकी उत्पत्ति होनी चाहिए। व्यक्ति और जाति में ज्ञान-प्राप्ति की एक ही रीति का होना मुनासिब है। सच पूछिए तो इस नियम का गर्भित भावार्थ पहले ही बतलाया जा चुका है। परिवृत्तिवाद के तत्त्व इन दोनों तरीक़ों में एक से पाये जाते हैं। अतएव परिवृत्तिवाद के जिन साधारण सिद्धान्तों का प्रतिपादन इतनी दृढ़ता के साथ ऊपर किया गया है वे इन दोनों विषयों में बराबर घटित होते हैं। इसी कारण से इन दोनों को ज़रूर एक दूसरे के अनुकूल होना चाहिए। तथापि परस्पर की यह समता इसलिए भी आदर-योग्य है कि इसको

मदद से हमें इस बात के जानने में सुभीता होता है कि हमारा मार्ग कैसा है—किस मार्ग से हमें जाना चाहिए। यह हमारे लिए पथदर्शक का काम करती है। इस सिद्धान्त का प्रवर्तक फ्रांस का प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता एक्स कोण्ट है। उसी की कृपा से हमें इसका लाभ हुआ है। उसके दार्शनिक सिद्धान्तों में से इस सिद्धान्त को हम स्वीकार कर सकते हैं। इससे यह आवश्यक नहीं कि उसके बाक़ी के सिद्धान्त भी हम स्वीकार करलें। बिना कोई स्वतन्त्र कोटि लड़ाये—बिना कोई स्वतन्त्र दलील पेश किये—इस सिद्धान्त की सचाई के समर्थक दो कारण बतलाये जा सकते हैं। उन कारणों में से प्रत्येक कारण स्वतन्त्रतापूर्वक इस सिद्धान्त की सचाई को साबित कर सकता है। वंशपरम्परा से जो सादृश्य हम लोगों में नियमानुसार देखा जाता है उसका कुछ दूर तक विचार करने से एक कारण तो सहज ही ध्यान में आ जाता है। हम हमेशा देखते हैं कि रूप-रङ्ग और स्वभाव दोनों में हम लोग अपने पूर्वजों की समता रखते हैं। यह भी हम हमेशा देखते हैं कि कोई कोई मानसिक विकार, जैसे पागलपन, एक ही कुटुम्ब के आदमियों में क्रम से एक ही उम्र में होते हैं। इन व्यक्ति-विषयक उदाहरणों में एक बात यह होती है कि मृत पूर्वजों के लक्षण, वर्तमान समय में, उनके जीवित वंशजों के लक्षणों से मिल जाने के कारण पूर्वोक्त समता जैसी चाहिए नहीं देख पड़ती। इससे ऐसे उदाहरणों को छोड़ कर यदि हम जुदा जुदा देशों के आदमियों में देख पड़नेवाली विशेष विशेष बातों का ध्यान से विचार करते हैं तो हमें यह साफ़ मालूम हो जाता है कि उनके रूप-रङ्ग और स्वभाव आदि में परस्पर जो अन्तर है वह पीढ़ी दर पीढ़ी बराबर एक सा चला आता है। ये जो जुदा जुदा तरह के रूप-रङ्ग और आकार देख पड़ते हैं सबकी उत्पत्ति एक ही स्थान से है। सबका मूल जन्म-स्थान एक ही है। विशेष विशेष कारणों से उनकी स्थिति में जो फेरफार होता गया है उसका परिणाम उनके वंशजों में परम्परा से धीरे धीरे दिखाई दिया है। ये भेद उसी के फल हैं। जुदा जुदा देशों के आदमियों में जो भेद देख पड़ते हैं वह अब उनके हाड़ मांस में यहाँ तक भिद गया है कि यदि जन्म का कोई बच्चा किसी अपरिचित देश में पहुँचा दिया जाय और वहीं उसका लाल

को प्रथा के अनुसार, उसका पालन-पोषण हो तो भी उसमें वे गुण आये बिना न रहेंगे जो फ़्रांस के रहनेवालों में होते हैं। यदि यह सच है कि जिस साधारण नियम का हमने यहाँ पर प्रतिपादन किया वह स्वभाव और बुद्धि दोनों के सम्बन्ध में घटित होता है, और यदि यह भी सच है कि मनुष्य-जाति ने जुदा जुदा विषयों को किसी विशेष क्रम से ही सीखा है, तो यह निर्विवाद है कि प्रत्येक बच्चे में उन विषयों के अभ्यास की योग्यता भी उसी क्रम से पैदा होगी। यदि यह भी मान लिया जाय कि वास्तव में इस विशेष प्रकार के क्रम से कोई लाभ नहीं, तो भी जिस मार्ग से समग्र मनुष्य-जाति ने गमन किया है उसी से बच्चों को भी ले जाने में विद्या-दान के काम में सुभीता ज़रूर होगा। परन्तु वास्तव में यह विशेष प्रकार का क्रम व्यर्थ नहीं। यह समझना ठीक नहीं है कि उससे कोई लाभ नहीं। अतएव यह इस सिद्धान्त का प्रबल कारण है कि सारी मनुष्य-जाति और अलग अलग हर आदमी की शिक्षा का एक ही क्रम होना चाहिए। प्रत्येक आदमी को उसी मार्ग से जाना चाहिए जिससे कि समग्र मनुष्य-जाति ने गमन किया है। ये दोनों बातें साबित की जा सकती हैं कि इतिहास की मुख्य मुख्य घटनायें जिस क्रम से हुई हैं उन्हें उसी क्रम से होना चाहिए था; और उस क्रम के जो कारण हैं वही मनुष्य-जाति और अलग अलग हर बच्चे के सम्बन्ध में भी एक से घटित होते हैं। इन कारणों के विस्तार-पूर्वक वर्णन की आवश्यकता नहीं—कोई ज़रूरत नहीं कि वे तफ़सीलवार बयान किये जायँ। यहाँ पर इस विषय में इतना ही कहना बस होगा कि मनुष्य-जाति के मन ने हर विषय की जितनी शिक्षा आज तक प्राप्त की है सब, प्रकृति के कुटिलतर खेलों के बीच में रह कर और उनको समझने की कोशिश करके, अनन्त वस्तुओं के निदान, मनन, अनुभव और कल्पना के द्वारा, एक निश्चित रीति से प्राप्त की है। एक नियमित मार्ग से गमन करके उसे उसकी प्राप्ति हुई है। तो क्या इससे यह नतीजा नहीं निकलता कि मन और सृष्टि में ऐसा सम्बन्ध है कि सृष्टिविषयक ज्ञान मन को और किसी तरह हो ही नहीं सकता? इस दशा में, अर्थात् जब बच्चे के मन और सृष्टि में एक सा सम्बन्ध है तब, उसे

भी उस ज्ञान की प्राप्ति उसी तरह क्यों न होनी चाहिए—उसी मार्ग से उसे क्यों न जाना चाहिए ? ज़रूर उसी मार्ग से जाना चाहिए। क्योंकि सृष्टि-सम्बन्धी बातें जानने के लिए उससे अच्छा और कोई मार्ग ही नहीं। इससे हमारी राय है कि शिक्षा के सबसे अच्छे तरीक़े का निश्चय करने में इस बात के विचार की बड़ी ज़रूरत है कि मनुष्य-जाति को शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति किस तरह होती गई। इससे हमें अपने इष्ट-साधन में बहुत मदद मिलेगी। सबसे अच्छी शिक्षा-पद्धति ढूँढ़ निकालने में इससे बहुत सुभीता होगा।

२२—(५) प्रत्येक विषय की शिक्षा में मोटी व्यावहारिक बातें पहले सिखलाई जायँ, बारीक़ शास्त्रीय बातें पीछे।

इस तरह की खोज से हमें जिन सिद्धान्तों का पता लगता है उनमें से एक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक विषय में—विद्या की प्रत्येक शाखा में—हमें स्थूल बातों के ज्ञान से प्रारम्भ करके सूक्ष्म बातों के ज्ञान की तरफ़ जाना चाहिए। व्यावहारिक बातों का ज्ञान प्राप्त करके धीरे धीरे शास्त्रीय बातों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अर्थात् पहले असली बातें सीखनी चाहिए, फिर नक़ली। मनुष्य-जाति की उन्नति जिस तरह हुई है उसका विचार करने से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक शास्त्र—प्रत्येक ज्ञान—अपनी अपनी कला से पैदा हुआ है। जो शास्त्र जिस कला से सम्बन्ध रखता है उस शास्त्र की उत्पत्ति उसी कला से हुई है। चाहे एक आदमी हो, चाहे सारी मनुष्य-जाति हो, किसी भी विषय के गूढ़ तत्त्व समझने के लिए सबको प्रत्यक्ष उस विषय के अभ्यास की ज़रूरत पड़ती है। बिना उस विषय का प्रत्यक्ष अभ्यास किये उसकी गूढ़ बातें समझ में नहीं आतीं। यही कारण है जो किसी विशेष प्रकार के विज्ञान की उत्पत्ति के पहले उसके व्यवहार और तरीक़े की ज़रूरत होती है। किसी विज्ञान की उत्पत्ति के पहले उसके सम्बन्ध की बहुत सी बातें व्यवहार में आनी चाहिए; उनका अनुभव होना चाहिए; और कोई बहुत

मोटे मोटे नियमों की कल्पना भी होनी चाहिए। बिना इन बातों के किसी विज्ञान की एकदम उत्पत्ति नहीं हो जाती। शास्त्रीय ज्ञान का नाम विज्ञान है। शास्त्र और विज्ञान प्रायः एकार्थवाची हैं। व्यवस्थित ज्ञान, शास्त्र कहलाता है। अतएव ज्ञान की व्यवस्था होने के पहले—उसे सुव्यवस्थित बनाने के पहले—उसका कुछ अंश ज़रूर ही हमारे पास होना चाहिए। यदि थोड़ा बहुत ज्ञान पहले से हो ही गा नहीं तो उसकी व्यवस्था ही कैसे होगी? अतएव प्रत्येक विषय का आरम्भ अनुभव से होना चाहिए। तजरिबे से मोटी मोटी बातें सीख कर हर एक विषय की शिक्षा शुरू होनी चाहिए। अपेक्षित चीज़ों की देख-भाल के द्वारा उनसे सम्बन्ध रखने वाली बातों की बहुत सी पूँजी पास हो जाने पर तर्क-वितर्क करना और बुद्धि से काम लेना चाहिए। दृष्टान्त के तौर पर हम इस नियम का एक उदाहरण देते हैं। देखिए, इस समय व्याकरण की शिक्षा जो भाषा-शिक्षा के पहले नहीं, किन्तु पीछे दी जाती है, या चित्र बनाना सिखलाने के पीछे पदार्थों की दूरी के अनुसार चित्र के दृश्य में होने वाले फेरफार की बातें सिखलाने की जो रीति है, वह इसी नियम का फल है। आगे चल कर, क्रम क्रम से, हम इसके और भी उदाहरण देंगे और यह दिखलावेंगे कि कहाँ कहाँ इस नियम के अनुसार काम होता है।

२३—(६) जहाँ तक सम्भव हो बच्चों को अपनी बुद्धि की उन्नति आप ही करने के लिए उत्साहित करना चाहिए।

जिस प्रधान सिद्धान्त का वर्णन ऊपर हुआ उससे जो एक और बात भी ध्यान में आती है वह इतने महत्त्व की है कि उसकी आवश्यकता चाहे जितनी दृढ़ता से दिखलाई जाय, कम है। यदि कोई यह आग्रह करे कि वह बात अवश्य करना ही चाहिए तो भी अनुचित नहीं। वह बात यह है कि विद्याभ्यास करते समय, जहाँ तक हो सके, अपनी बुद्धि को ख़ुद ही बढ़ाने के लिए बच्चे उत्साहित किये जायँ। बच्चों से ख़ुद ही अनुसन्धान कराया जाय—ख़ुद ही खोज कराई जाय—और तर्क-वितर्क-द्वारा ख़ुद ही नतीजे

निकलवाये जायँ। जहाँ तक सम्भव हो उनको बहुत कम बातें बतलाई जायँ। जहाँ तक हो सके उनकी आदत सब बातें आप ही मालूम करने की डाली जाय। मनुष्य-जाति का सुधार सिर्फ़ अपनी ही शिक्षा से हुआ है। मनुष्यों ने अपनी शिक्षा की आप ही उन्नति की है। अपनी ही बुद्धि के बल से प्रसिद्धि पाने वाले—अपने ही प्रयत्न से नामवर होने वाले—आदमियों के जो उदाहरण हम प्रति दिन देखते हैं उनसे यही सिद्ध होता है कि यदि किसी की इच्छा सबसे उत्तम फल-प्राप्ति की हो तो उसे इन्हीं लोगों की तरह अपने मन को शिक्षित करना चाहिए। जिन लोगों ने मदरसे की मामूली क़वायद के अनुसार शिक्षा पाई है, और जो मदरसे ही से यह ख़याल अपने साथ लेते गये हैं कि यदि किसी को शिक्षा मिल सकती है तो उसी पुराने ढर्रे पर चलने से मिल सकती है, उन्हें बच्चों को अपना अध्यापक आप ही बनने में ज़रूर निराशा देख पड़ेगी। परन्तु यदि वे इस बात का विचार करेंगे कि बचपन में अपने आस पास की सारी चीज़ों का जो सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण ज्ञान बच्चे प्राप्त करते हैं उसे वे आप ही आप, बिना किसी की मदद के, प्राप्त करते हैं, यदि वे इस बात का स्मरण रक्खेंगे कि बच्चे अपनी मातृ-भाषा आप ही आप सीख लेते हैं; यदि वे इस बात को सोचेंगे कि व्यावहारिक बातों के जिस ज्ञान और जिस तजरिबे का मदरसे से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है उसे हर एक बच्चा अपने ही आप कितना प्राप्त करता है; जिसकी पूछ पाँछ करने वाला कोई नहीं है ऐसे लंदन के किसी आवारा लड़के के विषय में यदि वे यह विचार करेंगे कि जिस बात पर वह उतारू हो जाता है उसमें उसकी बुद्धि कितनी उत्तमता से काम देती है, और यदि वे, इसी तरह, इस बात पर भी विचार करेंगे कि कितने आदमियों ने इस कोटि को इस बुरी शिक्षा-पद्धति के बखेड़ों ही से नहीं, किन्तु और भी सैकड़ों विघ्न-बाधाओं से बिना किसी की मदद के, सिर्फ़ अपने बाहु-बल से, छुटकारा पाया है; तो वे समझ जायँगे कि किसी साधारण बुद्धि के विद्यार्थी को भी एक दफ़े यह बतला देने से कि अमुक विषय अमुक क्रम और अमुक रीति से सीखना चाहिए, वह उसे बहुत ही थोड़ी मदद से, सारी कठिनाइयों को पार करके, सीख लेगा। ऐसा करने से उनके ध्यान में यह बात ज़रूर आ

चाहिए। तब हम यह समझते हैं कि उनकी शिक्षा का यही एक मुनासिब तरीक़ा है। अपनीही अनुचित शिक्षा-पद्धति से, इस तरह, बच्चों को कुन्दज़ेहन और विवश बना कर उनकी कुन्दज़ेहनी और लाचारी को हम अपनी शिक्षा-पद्धति का कारण मानते हैं। "हमारी शिक्षा-पद्धति ऐसी क्यों है" ? इस लिए कि हमारे बच्चे आलसी, कुन्दज़ेहन और चोंगा-बुद्धि हैं। तब हम इस तरह का कार्य्य-कारण-भाव बतलाते हैं। अतएव यह सिद्ध है कि जिस शिक्षा-प्रणाली के प्रचार की हम सिफ़ारिश करते हैं उसके प्रतिकूल अनाड़ी अध्यापकों के तजरिबे सामने रखना मुनासिब नहीं। जो यह बात समझता है वह यह भी समझ लेगा कि आदि से लेकर अन्त तक हम अपनी शिक्षा-पद्धति सृष्टि के क्रमानुसार बेखटके निश्चित कर सकते हैं; जिस तरह बचपन में मानसिक शक्तियाँ आप ही आप अपनी उन्नति कर लेती हैं उसी तरह, यदि समझ बूझ कर प्रबन्ध किया जाय तो, आगे भी वे अपने आपही अपनी उन्नति कर सकती हैं, और यही एक तरीक़ा ऐसा है जिसे स्वीकार करने से बच्चों की बुद्धि की सबसे अधिक बाढ़ हो कर उसमें सर्वोत्तम कार्य्यशक्ति और प्रवीणता आ सकती है।

२४—(७) अच्छी शिक्षा-पद्धति की कसौटी यह है कि उससे बच्चों को आनन्द और मनोरञ्जन हो।

यदि किसी शिक्षा-पद्धति की परीक्षा दरकार हो तो इस प्रश्न का विचार करना चाहिए कि—"क्या वह बच्चों के मन में आनन्दवर्द्धक उत्साह पैदा करती है" ? बस, इस प्रश्न के विचार ही को परीक्षा की अन्तिम कसौटी समझना चाहिए। यदि किसी को यह सन्देह हो कि अमुक ढंग या अमुक क्रम, अमुक रीति या अमुक क्रम की अपेक्षा, ऊपर बतलाये गये नियमों के अधिक अनुकूल है या नहीं, तो इस कसौटी से हम सन्देह दूर कर सकते हैं। व्यवहार में लाने के लिए चुनी गई कोई शिक्षा-पद्धति यदि शास्त्र-दृष्टि से उत्तम भी हो, तथापि यदि उसके प्रयोग से विद्यार्थियों का मनोरञ्जन न होता हो, या किसी दूसरी पद्धति की अपेक्षा कम होता हो, तो भी हमें मुनासिब है कि हम उसे छोड़ दें, क्योंकि उसके स्वीकार से

क्योंकि जितनी स्वाभाविक बातें हैं कोई ऐसी नहीं जिससे सुख न मिले। यह सच है कि ऊँचे दरजे की कुछ ऐसी मानसिक शक्तियाँ हैं जिनका अब तक मनुष्य-जाति में बहुत कम विकास हुआ है। ये शक्तियाँ केवल चुने हुए बड़े बड़े विद्वानों में जन्म के साथ ही कुछ अधिकता से पैदा हुई देखी जाती हैं। ये ज़रूर ऐसी शक्तियाँ हैं जिनका उतना उपयोग नहीं हुआ जितना होना चाहिए था। परन्तु ये शक्तियाँ अनेक शक्तियों के मेल से पैदा होने के कारण बहुत पेचीदा होती हैं। इसीसे प्रतिदिन की नियमित शिक्षा में इनका उपयोग सब से पीछे होता है—इनके अमल की ज़रूरत सबके बाद होती है। जब तक विद्यार्थी की उमर इतनी नहीं हो जाती कि दूर तक दृष्टि रख कर भावी सुख-प्राप्ति के ख़याल से तात्कालिक दुख सहने की योग्यता उसमें आ जाय, तब तक इन शक्तियों का उपयोग करने की उसे ज़रूरत ही नहीं पड़ती। परन्तु जो शक्तियाँ इन शक्तियों की अपेक्षा कम योग्यता की हैं उनकी बात दूसरी है। उनका उपयोग शुरू करते ही—उनको काम में लाते ही—जो आनन्द होता है वही उनको उत्तेजित कर देता है। सुख की प्राप्ति होने से विद्यार्थी स्वभाव ही से, बिना और किसी उत्ते-जना के, उन मानसिक शक्तियों का उपयोग करने लगते हैं। यदि प्रबन्ध अच्छा हो—यदि सब बातें सुव्यवस्थित हों—तो उनके लिए इतनी ही उत्ते-जना काफ़ी होती है। यदि इन शक्तियों को उत्तेजित करने के लिए किसी और उत्तेजना या साधन की ज़रूरत पड़े तो यह निर्भ्रान्त समझना चाहिए कि कहीं भूल हो गई है—जिस मार्ग से जाना चाहिए था उससे ज़रूर हम भटक गये हैं। तजरिबा प्रति दिन अधिकाधिक स्पष्टता से इस बात को साबित कर रहा है कि शिक्षा की हमेशा कोई ऐसी रीति निकालनी चाहिए जिससे बच्चों का मनोरञ्जन ही नहीं, किन्तु आनन्द भी प्राप्त हो सके। इन प्रमाणों से भी यह बात साबित है कि शिक्षा की यही रीति सर्वोत्तम है।

२५—शिक्षा-सम्बन्धी नियमों का व्यावहारिक विचार।

ये शिक्षा-सम्बन्धी नियम यदि इसी तत्त्व-रूप में छोड़ दिये जायँ तो बहुत आदमियों के मन में उनका यथार्थ महत्त्व न प्रतिबिम्बित होगा।

ऐसा करने से उनका बहुत ही कम वज़न उन पर पड़ेगा। अतएव कुछ तो उदाहरण द्वारा उनके उपयोग को समझाने और कुछ उनके सम्बन्ध में और भी थोड़ी सी विशेष विशेष सूचनायें करने के लिए हम इस विषय का तात्त्विक दृष्टि से विचार करना छोड़ इसके व्यावहारिक विचार में प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् ख़याली मनसूबे की बातें न कह कर अब हम उन नियमों के अमल की बातें कहते हैं।

२६—बच्चों की शिक्षा गोद से ही शुरू होनी चाहिए।

पेस्टलोज़ी का मत यह था कि किसी न किसी तरह की शिक्षा गोद ही से आरम्भ होनी चाहिए। जबसे उसने यह मत प्रकाशित किया तबसे आज तक इसकी सत्यता के विषय में लोगों की श्रद्धा अधिकाधिक बढ़ती जाती है। जिसने इस बात को ध्यान से देखा है कि छोटे छोटे दुधपिये बच्चे अपने आप पास की चीज़ों को किस तरह टकटकी लगा कर देखा करते हैं वह अच्छी तरह जानता है कि शिक्षा का आरम्भ ज़रूर इतनी छोटी उमर में होता है। फिर चाहे उसे हम जान-बूझ कर आरम्भ करावें या नहीं। जो चीज़ हाथ लग जाती है उसे हिलाना, झुलाना, पटकना और मुँह में रखना और हर तरह की आवाज़ को मुँह खोल कर सुनना उस शिक्षा का आरम्भ है जिसकी बदौलत किसी दिन आदमी अज्ञात तारों का पता लगाता है, हिसाब लगानेवाला यन्त्र और एञ्जिन बना डालता है, उत्तमोत्तम चित्र खींचता है, परम मनोहर गीत, पद और नाटक आदि की रचना करके उनके अभिनय से दर्शकों को मग्न करता है, और तरह तरह के वाद्य-यन्त्र—सितार, सारङ्गी और वीणा आदि का आविष्कार करता है। मानसिक शक्तियों का व्यापार, इस तरह, पहले ही से आप ही आप शुरू होता है और ऐसा होना ही चाहिए। अतएव यहाँ पर इस बात के विचार की ज़रूरत है कि मानसिक शक्तियों का यथेष्ट व्यापार शुरू करने के लिए बच्चों को जुदा जुदा तरह की जो मालूमात दरकार होती है उसे हमें पूरी पूरी पहुँचानी चाहिए या नहीं। इस प्रश्न का "हाँ" के सिवा और कोई उत्तर हो नहीं हो सकता। बच्चों को सब तरह की जानकारी पाने का सुभीता हमें ज़रूर ही कर

चीज़ है"। "अम्मा, इसे देख"। "अम्मा, उसे देख"। और यदि मूर्ख अम्मा उनसे यह न कह दे कि मुझे तंग न करो तो वे बराबर ऐसा ही किया करें। यह बच्चों की आदत होती है। यदि वे रोके न जायँ तो इस आदत को वे छोड़ना नहीं चाहते। देखिए, छोटे छोटे बच्चे जब दाई के साथ बाहर घूमने जाते हैं तब प्रत्येक बच्चा, यदि उसे कोई नया फूल मिल जाता है, तो उसे लेकर वह दाई के पास दौड़ता है और उससे कहता है, देखो यह कैसा अच्छा फूल है। इतनाही करके वह चुप नहीं रहता; किन्तु वह दाई से भी कहला लेता है कि वह अच्छा है। देखिए, जब कोई लड़का कोई नई चीज़ देखता है तब कितने प्रेम और कितने उत्साह से वह उसका हाल बयान करता है। उसके बयान को सुनने के लिए दिल लगा कर सुननेवाला भर कोई मिलना चाहिए। इन बातों से जो नतीजा निकलता है क्या वह बिलकुल ही साफ़ नहीं है? क्या उसे ढूँढ़ने की भी कोई ज़रूरत है? क्या इससे यह साफ़ नहीं मालूम होता कि मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार ही शिक्षा-पद्धति होनी चाहिए। अर्थात् बुद्धि का स्वाभाविक झुकाव जिस तरह जैसी शिक्षा माँगे उसी तरह वैसी शिक्षा देना चाहिए। सृष्टि-क्रम की रक्षा करके जो व्यवस्था ज़रूरी हो कर देनी चाहिए। प्राकृतिक क्रम में किसी प्रकार का उलट फेर न करना चाहिए। हाँ, उसकी सुव्यवस्था मात्र कर देना चाहिए। हर एक चीज़ के विषय में जो कुछ बच्चे कहें हमें सुनना चाहिए; किसी चीज़ के विषय में जो कुछ बच्चे कह सकते हों उसे कहने के लिए हमें उनको प्रेरणा करना चाहिए; कभी कभी उनका ध्यान ऐसी बातों की तरफ़ खींचना चाहिए जो तब तक उनकी समझ में न आई हों, जिसमें यदि फिर कभी उन्हें उन बातों से साबिका पड़े तो वे आपही आप उन पर ध्यान दें; और, इसी तरह, धीरे धीरे, नये नये विषय उनके सामने रख कर और नई नई बातें बतला कर उन्हें इस लायक कर देना चाहिए जिसमें वे ख़ुद ही इस तरह की जांच-पड़ताल पूरे तौर पर कर सकें। यदि माँ समझदार होती है तो वह, इस तरीक़े के अनुसार, देखिए, किस तरह अपने लड़के को पाठ देती है—किस तरह वह उसे पाठ पढ़ाती है। वह धीरे धीरे बच्चे को चीज़ों की सख़्ती, नरमी, रङ्ग, रुचि (स्वाद या

ज़ायक़ा) और आकार आदि सीधे सीधे गुण-धर्मों का ज्ञान करा
इस काम में उसे बच्चे से भी मदद मिलती है; क्योंकि जहां उस
दफ़े बच्चे को बतला दिया कि यह चीज़ लाल है, या यह चीज़
वहां वह उसके पास वही चीज़ें ला ला कर कहता है—"देखो यह
देखो यह सख़्त है"। जितना जल्द माँ इन गुणों के सूचक शब्द
को बताती है उतना ही जल्द वह इन गुणों वाली चीज़ें उसके
ला कर रखता है। जो जो नई चीज़ें वह उसके पास लाता है उनमें
कोई नये गुण-धर्म उसे बताने हुए तो जो बातें बच्चे को पहले
मालूम हैं उनसे नये गुण-धर्मों का मेल मिला कर वह बताती
ऐसा करने से बच्चे की स्वाभाविक अनुकरण-शक्ति की वृद्धि होती है
वह सारे गुण-धर्मों को यथा क्रम, एक के बाद एक, याद करता
जाता है। जो गुण-धर्म बच्चे को मालूम हो जाते हैं उन्हें दोहराते
यदि बच्चा एक आध बात भूलने लगता है तो माँ उससे पूछती है कि
चीज़ तुम्हारे हाथ में है उसके विषय में तुम्हें और कोई बात मालूम है
नहीं। इस पूँछ पांछ की रीति को वह बराबर जारी रखती है। इस तरह
के प्रश्न बहुत करके बच्चा पहले नहीं समझता। ऐसा होने पर थोड़ी देर
तक उसे उलझन में डालकर और उसके न बतला सकने पर थोड़ी सी
उसकी हँसी उड़ाकर वह भूली हुई बातें उसे बतला देती है। दो चार
दफ़े ऐसा होने पर बच्चे को ख़ुद ही मालूम हो जाता है कि क्या करना
चाहिए। जब दूसरी दफ़े माँ लड़के से यह कहती है कि इस चीज़ के
विषय में जो कुछ तुमने कहा उससे मैं अधिक जानती हूँ तब बच्चा घमण्ड
में आ जाता है। उस समय वह उस चीज़ की तरफ़ बड़े ध्यान से देखता
है; जो कुछ उसने माँ से सुना होता है उसका मन ही मन विचार करने
लगता है; और प्रश्न सीधा होने के कारण उसे तुरन्त बता देता है। ऐसा
होने से अपनी कामयाबी पर बच्चे को बड़ी ख़ुशी होती है और उसको माँ
भी उसकी ख़ुशी में शामिल हो जाती है। वह भी बच्चे के साथ सहानु-
भूति (हमदर्दी) दिखलाती है। जैसा कि हर एक बच्चा करता है वह भी
यह जान कर कि मैं बड़ा बुद्धिमान हूँ ख़ुशी के मारे फूले अङ्ग नहीं

समाता। तब उसे यह इच्छा होती है कि इसी तरह के और भी प्रश्नों का उत्तर देकर मैं विजय की बड़ाई लूटूँ। इससे नई नई चीज़ों के गुण-धर्म जानने की परीक्षा मां के सामने देने के लिए वह उन चीज़ों की खोज करता है। जैसे जैसे बच्चे की मानसिक शक्तियां विकसित होती जाती हैं वैसे वैसे वह उसे एक के बाद एक नये नये गुण-धर्म बतलाती है और बच्चे की ज्ञान-सीमा की वृद्धि करती जाती है। सख्ती और नरमी का भेद बच्चे की समझ में आ जाने पर वह उसे खुरखुरे और चिकने का भेद बताती है। रंग समझ जाने पर वह जिला का ज्ञान कराती है और सीधी सादी बातों से शुरू करके कठिन बातों के ज्ञान तक वह उसे ले जाती है। इस तरह जैसे जैसे बच्चे की बुद्धि बढ़ती जाती है वैसे वैसे वह अपने प्रश्न हमेशा कठिन करती जाती है; उसके ध्यान और स्मरण-शक्ति के तार को हमेशा अधिकाधिक तानती जाती है; उसकी मनोरञ्जकता में बाधा न आने देने के लिए वह उसके समझने लायक़ हमेशा नई बातें बतलाती है; और ऐसे प्रश्न पूछ कर जिनका उत्तर बच्चा सहज में ही दे सके वह उसे हमेशा उत्तेजन दिया करती है। अर्थात् छोटी छोटी कठिनाइयों को हल करके कारण मिली हुई जीत की बड़ाई करके वह उसे खुश किया करती है। ऐसा करने में वह सिर्फ़ उस प्राकृतिक क्रम के अनुसार काम करती है जो क्रम इसके पहले बच्चों में आप ही आप विद्यमान था। सीखना शुरू करने के पहले ही जो शक्ति बच्चे में आप ही आप विद्यमान थी, और जिसकी प्रेरणा से बच्चा नई नई बातें आप ही आप सीखा करता था, उसी शक्ति के क्रम का मां सिर्फ़ अनुकरण भर करती है। अथवा यों कहिए कि बच्चे की बुद्धि जो आप ही आप बढ़ रही थी उसकी बाढ़ की वह सिर्फ़ मदद करती है। या यह कहिए कि आप ही आप सांसारिक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने में बच्चे के मानसिक झुकाव के अनुसार वह उसकी मदद करती है। अर्थात् जो बर्ताव मां के साथ बच्चा करता है उसके ढँग को देख कर उसी ढँग से वह भी बच्चे की मदद करती है। पूरे तौर पर सब चीज़ों की देख-भाल और परीक्षा की आदत डालने के लिए बच्चे के साथ मां का इस तरह व्यवहार करना सचमुच ही बहुत उत्तम बात है। इस मतलब की

सिद्धि के लिए यह तरीक़ा सचमुच ही सबसे अच्छा है। इस तरह की शिक्षा का अभिप्राय ही यही है। पदार्थ-पाठ का उद्देश ही यही है। बच्चे को बतलाना एक चीज़ और दिखाना दूसरी चीज़, उसे जांच-पड़ताल और देखभाल करने की आदत डालना नहीं कहलाता। इस तरह की शिक्षा देना—अर्थात् बतलाना एक चीज़, पर दिखाना दूसरी चीज़—मानों दूसरों के तजरिबों को बच्चे के दिमाग़ में ठूसना है। ऐसा करने से आप ही आप शिक्षा प्राप्त करने की बच्चे की शक्ति प्रबल न होकर उलटा निर्बल हो जाती है। अपने आप किये गये उद्योग में कामयाबी होने से जो ख़ुशी होती है उससे वह बच्चे को वञ्चित रखती है। वह इस अत्यन्त रमणीय और हृदयहारी ज्ञान को एक नियमानुसारिणी निर्जीव रूढ़ि के रूप में लाकर बच्चे के सामने खड़ा कर देती है। अतएव उसे देख कर बच्चों की बहुधा यह समझ हो जाती है कि सब चीज़ों को प्रत्यक्ष देखने से कोई लाभ नहीं। इसका फल यह होता है कि बच्चे बहुधा पदार्थ-परिचय की शिक्षा से उदासीन ही नहीं हो जाते, किन्तु उससे घृणा तक करने लगते हैं। इसके विपरीत, जिस रीति का उल्लेख ऊपर हुआ है उसके अनुसार शिक्षा देना मानों बुद्धि का खाद्य बुद्धि के पास तक पहुँचाना है; ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा रखने वाली बुद्धि के लिए ज्ञान-मार्ग को सुलभ करके उसे एक सहानुभूतिकर्त्ता साथी या सहाध्यायी देना है; इन सब बातों के मेल से, हर एक चीज़ को ख़ूब ध्यान-पूर्वक देखने-भालने की आदत डाल कर, यथार्थ और परिपूर्ण ज्ञान-प्राप्ति के प्रबन्ध को दृढ़ करना है: और जिस स्वतःसाहाय्य पर (अपनी मदद आपही करने पर) मन को भविष्यत् में अवलम्बन करना पड़ता है उस पर पहले ही से अवलम्बन करने का स्वभाव डालना है।

२६—पदार्थ-पाठ में और अधिक चीज़ें शामिल कर लेना चाहिए और अधिक समय तक उन्हें प्रत्यक्ष दिखा कर शिक्षा जारी रखना चाहिए।

पदार्थ-पाठ, अर्थात् चीज़ों को प्रत्यक्ष दिखा कर उनके विषय में पाठ देने की चाल, जो इस समय साधारण तौर पर जारी है, सिर्फ़ बिलकुल बदल

ही न डालना चाहिए, किन्तु उसमें और अधिक चीज़ें भी शामिल कर देना चाहिए और उसे और भी कुछ अधिक समय तक जारी रखना चाहिए। सिर्फ़ घर ही की चीज़ लड़कों को दिखला कर और उनके ही विषय में पाठ देकर सन्तोष न करना चाहिए। उन्हें खेतों की, बाग़ों की, झाड़ियों की, खानों की और नदी या समुद्र के किनारे की भी चीज़ें दिखला कर उन के विषय की बातें बतलानी चाहिए। पदार्थ-पाठ की शिक्षा बचपन में आरम्भ ही में न बन्द कर देना चाहिए। उसे युवावस्था तक इस तरह जारी रखना चाहिए जिसमें प्राकृतिक-इतिहास-वेत्ता और विज्ञान-विशारद विद्वानों की तरह विद्यार्थी धीरे धीरे, पदार्थों की खोज और जांच-पड़ताल कर सकें, पर उन्हें यह न मालूम हो कि वे इतना बड़ा काम कर रहे हैं। इस काम में भी हमें प्राकृतिक क्रम का ही अवलम्बन करना चाहिए। नये नये फूलों को इकट्ठा करने से, नये नये कीड़ों को देखने से और नये नये कंकड़ों और सीपियों को जमा करने से जो ख़ुशी लड़कों को होती है उससे अधिक ख़ुशी और कहां हो सकती है? इन बातों में मन लगा कर यदि हम लड़कों के साथ सहानुभूति प्रकट करें और उन्हें उत्तेजन दें तो इन चीज़ों के गुण-धर्म्म और बनावट आदि की परीक्षा जहां तक हम चाहें उनसे करा सकते हैं। यह एक ऐसी बात है जिसे सभी समझ सकते हैं। एक भी आदमी ऐसा न होगा जिसे इसमें कोई शङ्का हो। हर एक वनस्पति-शास्त्रवेत्ता ने, जङ्गलों और बाग़ों में घूमते समय, यदि उसके साथ लड़के रहे होंगे, देखा होगा कि किस उत्साह से वे उसके काम में मदद देते हैं; किस प्रेम से नये नये पौधों को वे उसके लिए ढूँढ़ ढूँढ़ कर लाते हैं; जब वह उन पौधों की जांच करता है तब किस तरह ध्यान से वे देखते हैं; और प्रश्न पर प्रश्न पूछ कर किस तरह वे उसे तंग करते हैं। प्रकृति के दास और उसका सच्चा मर्म्म समझने वाले बेकन के पन्थ का जो पक्का अनुयायी होगा वह जान लेगा कि प्रकृति के बतलाये हुए शिक्षा-पथ पर हमें नम्रता-पूर्वक गमन करना चाहिए। इस तरह इन्द्रियहीन पदार्थों के मोटे सादे गुण-धर्म्मों का ज्ञान हो चुकने पर, लड़कों से, इसी क्रम और इसी रीति से, उन सब पदार्थों की पूरे तौर पर परीक्षा करानी चाहिए जिन्हें ।

घूमते फिरते प्रति दिन इकट्ठा करते हैं। उनमें जो बातें क
पहले उन्हीं पर विचार होना चाहिए। पौधों में पहले पंखु
संख्या और आकार पर, और डंडियों और पत्तियों की बनाव
देना चाहिए। कीड़ों मकोड़ों के विषय में पाठ देते समय पहले
टांगों और स्पर्श-ज्ञान कराने वाले मूछों की संख्या और उनके रं
करा देना चाहिए। ये सब बातें जब अच्छी तरह उनकी स
जायें और ऐसा मालूम हो कि वे अब उन्हें कभी न भूलेंगे—हमे
ध्यान में रक्खेंगे—तब धीरे धीरे उन्हें आगे की बातें बतानी
फूलों की परीक्षा करते समय उनके केसर और गर्भतन्तुओं की संख
आकार गोल है या दो भागों में बँटे हुए हैं, पत्तियों का क्रम औ
रचना—वे आमने सामने हैं या एक के बाद एक, डंडी से निक
तने से, चिकनी हैं या बालदार, उनके किनारे आरे की तरह हैं
मोटे दांत हैं या वे लहरियादार हैं—इत्यादि बातें बतलानी चाहिए
का इस्तेमाल करते समय शरीर के भाग, पेट के परदे, परों के चिह्न
के जोड़ों की संख्या, और छोटे छोटे अवयवों के आकार आदि का
लड़कों को करा देना चाहिए। सारांश यह कि हमें बच्चों को इनके
तरह शिक्षा देनी चाहिए जिसमें प्रत्येक बात को देख कर उसके वि
ज्ञान-सम्पादन करने की इच्छा उनके मन में जागृत हो जाय। अर्थात्
मन में कुछ ऐसा उत्साह आ जाय कि प्रत्येक वस्तु को देख कर उन्हें
इच्छा हो कि उनके विषय में जो कुछ कहा जा सकता हो वह सब हम
सके। लड़कों के बड़े होने पर, जिन पौधों के विषय में उन्होंने इतना
प्राप्त किया है और इस लिए जो उनके इतने प्यारे और मनोरञ्जनकारी
गए हैं, उनकी रक्षा के उपाय यदि उन्हें सिखलाये जायँ तो मानों उन
बहुत बड़ी कृपा हो। इसी तरह रूपान्तर होने की अवस्था में विशेष
और कीड़ा आदि के बच्चों को रखने के लिए जो घर या सामान जरूरी हो
हैं वे यदि लड़कों को दिये जायँ तो मानों उन पर और भी अधिक कृपा हो
ऐसा करने से वे लड़के कृतज्ञता के भाव से बद्ध होकर और भी अधिक
हमारे उपकार मानेंगे। इस पिछली बात से लड़कों को बहुत ही अधिक

.ख़ुशी होती है। इसके हम .ख़ुद प्रमाण हैं। हम .ख़ुद इस बात की सर्टी-फ़िकेट देते हैं। इस .ख़ुशी में—इस आनन्दानुभव में—लड़के बरसों चूर रहते हैं। वर्षों तक कीड़ों के रूपान्तर आदि को उत्साहपूर्वक देख कर वे .ख़ुश हुआ करते हैं। और यदि कहीं कीट-पतङ्गों के वर्णन का संग्रह भी वे करते गये तो शनिवार को तीसरे पहर बाहर सैर करने में जो आनन्द मिलता है वह बहुत ही अधिक बढ़ जाता है। इस तरह का क्रम जारी रखने से प्राणि-शास्त्र का अभ्यास करने में बहुत सुभीता होता है। यह क्रम इस शास्त्र की मानों एक उत्तम भूमिका है।

३०—चीज़ों को प्रत्यक्ष दिखा कर शिक्षा देने की रीति के विषय में लोगों के भ्रमात्मक विचार और उनका खण्डन।

बहुत आदमी यह कहेंगे कि इस क्रम से शिक्षा देना समय और श्रम को व्यर्थ नष्ट करना है। इसकी अपेक्षा तो लड़कों से कापियाँ लिखाना या आना-पाई, पहाड़े इत्यादि याद कराना अच्छा है। ऐसा करने से वे सांसारिक काम-काज करने के लायक़ तो हो जायँगे। इस तरह की तर्कनाओं को—इस तरह के एतराज़ों को—सुनने के लिए हम .ख़ूब अच्छी तरह तैयार हैं। विद्या या शिक्षा में कौन कौन सी बातें शामिल हैं, इस विषय में लोगों के ख़याल अब तक इतने अपक्व और उपयोगिता के विषय में उनकी समझ अब तक इतनी परिमित बनी हुई है, कि इस बात का विचार करके बहुत अफ़सोस होता है। बड़े दुःख की बात है कि विद्या और उपयोगिता के विषय में लोगों की समझ अब तक इतनी कच्ची है। ज्ञानेन्द्रियों को उचित शिक्षा मिलने की ज़रूरत पर यदि कुछ भी न कहा जाय, और उस ज़रूरत को पूरा करने के लिए ऊपर जिन उपायों का वर्णन हुआ है उनकी योग्यता का विचार भी यदि एक तरफ़ रक्खा जाय, तो भी हम उन उपायों के द्वारा दी जानेवाली शिक्षा का पक्ष सिर्फ़ इसलिए लेने को तैयार हैं कि उससे आनन्द-प्राप्ति होती है। अतएव यदि इस तरह की शिक्षा से और कोई लाभ

न हो तो भी सिर्फ़ ज्ञान-प्राप्ति ही के लिए उसका दिया जाना इष्ट है। यदि लोगों को सिर्फ़ नागरिक अर्थात् शहरवासी बनना हो; या चुपचाप बैठे हुए अपने बही-खातों के पन्ने उलटना हो; या अपने निज के उद्योग-धन्धे को छोड़ कर और कोई काम न करना हो—यदि लोगों को लन्दन के किसी किसी नागरिक की तरह यही मान लेना मुनासिब हो कि किसी बाग़ में हुक्क़ा या शराब पीते बैठने से बढ़ कर देहातियों के लिए और कोई आनन्द-दायक बात ही नहीं—यदि लोगों को किसी किसी तअल्लुक़ेदार या नव्वाब की तरह यही कल्पना करना हो कि जङ्गल हमारी मृगया-भूमि (शिकारगाह) है; आपही आप उत्पन्न हुई वनस्पति उखाड़ फेंकने के लिए हमारी घास-फूस है; और जितने जानवर हैं उनके सिर्फ़ तीन भेद हैं—शिकार के जानवर, खेती में काम देनेवाले जानवर, और कीड़े-मकोड़े—तो किसी ऐसी चीज़ का सीखना ज़रूर व्यर्थ है जिससे रुपये-पैसे रखने की गोलक या थैली भरने, या मांस इत्यादि खाने की चीज़ें रखने का गोदाम परिपूर्ण करने में प्रत्यक्ष मदद न मिलती हो। परन्तु पेट भरने के लिए क़ुलियों की तरह दिन रात काम करने की अपेक्षा यदि दुनिया में कोई और भी अधिक अच्छा कर्तव्य हमारे लिए हो—यदि रुपया पैदा कराने की शक्ति के सिवा हमारे आस पास की चीज़ों का और भी कोई उपयोग हो सकता हो—यदि विषय-वासना तृप्त करने में अपनी शक्तियों की योजना करने के सिवा उनसे बढ़ कर अच्छे कामों में उनकी योजना करना सम्भव हो—यदि कविता, कला-कौशल, विज्ञान और दर्शनशास्त्र से प्राप्त होनेवाला आनन्द भी कोई आनन्द हो—तो आप ही कहिए, कि सृष्टि-सौन्दर्य और संसार के अद्भुत अद्भुत पदार्थों को देख कर उनके विषय में ज्ञान प्राप्त करने की उत्सुकता जो बच्चों में स्वाभाविक होती है उसे उत्तेजना देना उचित है या नहीं? उप-योगिता-तत्त्व का आज कल बड़ा ज़ोर है। प्रत्येक चीज़ की योग्यता या अयोग्यता का परिमाण लोग उसके उपयोगीपन के हिसाब से करते हैं—उपयोगिता की कसौटी पर कस कर करते हैं। परन्तु जो लोग इस संसार में आकर सिर्फ़ स्वार्थ-सेवा करके उसे छोड़ जाते हैं; पर क्षण भर के लिए भी विचार नहीं करते कि यह संसार किस तरह का है, इसकी रचना कैसी है,

इसमें क्या क्या पदार्थ हैं, वे बहुत बड़ी भूल करते हैं। इस बात को हम ऐसे प्रमाणों से सिद्ध कर सकते हैं जिन प्रमाणों से ऐसे स्वार्थ-सेवी ढंग का उपयोगिता-तत्व को सिद्ध करते हैं। यह बात धीरे धीरे मालूम हो जाती है कि जीवन के नियमों का ज्ञान और सब तरह के ज्ञानों की अपेक्षा अधिक महत्व का है। जीवन के नियम सिर्फ़ शरीर और मन से सम्बन्ध रखनेवाले ही

हैं। उन सब में भी, किसी न किसी तरह, गर्भित रीति से उनकी व्यापकता ज़रूर है। अतएव इन जीवन-सम्बन्धी नियमों को बिना अच्छी तरह समझे न तो ख़ुद अपने और न सामाजिक कामों ही में कोई आदमी अपना बर्ताव ठीक ठीक रख सकता है। अन्त में यह भी मालूम हो जाता है कि जितने सांसारिक पदार्थ इन्द्रिय-विशिष्ट हैं उन सबके लिए भी, यथार्थ में, जीवन-सम्बन्धी वही नियम है। उनके लिए कोई अलग नियम नहीं। सबके लिए एक ही नियम है। परन्तु सीधी सादी बातों में उन नियमों के सम्बन्ध का ज्ञान पहले प्राप्त किये बिना कठिन और अटपटी बातों में उनके सम्बन्ध का ज्ञान अच्छी तरह नहीं हो सकता। जब यह बात समझ में आ जायगी तब यह भी समझ में आ जायगी कि बाहर की चीज़ों से सम्बन्ध रखनेवाली जिन बातों के जानने के लिए बच्चा इतनी उत्सुकता दिखाता है उन्हें जानने में उसकी मदद करके, और लड़कपन में इस तरह ज्ञान-प्राप्त करने की आदत डालने में उसे उत्तेजना देकर, मानों हम भविष्यत् में बच्चों के विज्ञाना-भ्यास को उचित रीति पर होने के लिए ज़रूरी सामग्री पहले ही से दे रहे हैं। अथवा यों कहिए कि इस प्रकार बच्चे को कच्ची सामग्री इकट्ठी करने की उत्तेजना देकर मानों हम भविष्यत् में उससे उस सामग्री का माकूलवार विधि-विधान कराने का पहले ही से प्रबन्ध कर रहे हैं। अथवा यह कहिए कि हम उसे ऐसी बातें सिखला रहे हैं जिनकी बदौलत, किसी न किसी दिन, वह सांसारिक व्यवहारों और बर्तावों को उचित मार्ग पर ले जानेवाले विज्ञान-शास्त्र के बड़े बड़े और व्यापक नियमों को पूरे तौर पर सहज ही में समझ लेगा।

३१—मानसिक शिक्षा के लिए चित्र बनाना सीखने की ज़रूरत।

लोगों को धीरे धीरे अब मालूम होने लगा कि मन को किस तरह की शिक्षा मिलनी चाहिए। अर्थात् मानसिक शिक्षा कैसी होनी चाहिए, यह बात लोगों के ध्यान में आने लगी है। जिन अनेक चिह्नों को देख कर हम ऐसा कह रहे हैं उनमें से एक चिह्न यह है कि चित्र-कला का सिखलाना अब अधिकाधिक शिक्षा का एक अंश माना जाने लगा है। यह बात यहां पर एक बार फिर कह देनी चाहिए कि जिस रीति के अनुसार शिक्षा देने के लिए प्रकृति, अध्यापकों से दृढ़ता के साथ लगातार कहती आ रही है उसके अनुसार अन्त में वे अब शिक्षा देने लगे हैं। सब जानते हैं कि अपने आस पास के आदमी, मकान, पेड़ और प्राणि आदि के चित्र बनाने का प्रयत्न बच्चे आप ही आप विना सिखलाये किया करते हैं। इस काम के लिए यदि उन्हें और कोई चीज़ नहीं मिलती तो स्लेट ही पर वे चित्र खींचने लगते हैं, या यदि काग़ज़ किसी से मांगे मिल गया तो फिर क्या पूछना है। फिर उसी पर वे पेंसिल से चित्र खींचते हैं। जिन चीज़ों को देखने से बच्चों को सबसे अधिक ख़ुशी होती है उनमें से चित्रों की पुस्तक भी एक चीज़ है। सचित्र पुस्तक खोल कर, आदि से लेकर अन्त तक, सब चित्र दिखाने में उन्हें जो ख़ुशी होती है उसका वर्णन नहीं हो सकता। और, दूसरे की नक़ल उतारने—दूसरे का अनुकरण करने—की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति बच्चों में होती है, और बहुत अधिक होती है, इससे उनके मन में तत्काल यह उत्साह पैदा हो जाता है कि वे ख़ुद भी चित्र बनाना सीखें। इस तरह, अद्भुत अद्भुत चीज़ें देख पड़ने पर, उन सबके चित्र बनाने का यत्न करते रहने से बच्चों की ज्ञानेन्द्रियों को अधिकाधिक शिक्षा मिलती जाती है—उनको अपने अपने काम की मश्क़ होती रहती है। इस अभ्यास की बदौलत हर एक चीज़ को और भी अधिक यथार्थ और पूर्णरीति पर देख-भाल करने की शक्ति उनमें आ जाती है। इस तरह करते करते जांच, परीक्षा और आलोचना आदि करना ख़ूब

अच्छी तरह आ जाता है और फिर भूलें नहीं होतीं। इन्द्रियों के द्वारा जानने लायक़ पदार्थों के गुण-धर्म्मों से सम्बन्ध रखनेवाले अपने आविष्कारों की तरफ़ बच्चे प्रयत्न-पूर्वक हमारा ध्यान खींचते हैं और ख़ुद भी चित्र बनाते हैं। इस तरह, दोनों प्रकार से, जैसी शिक्षा की उन्हें सबसे अधिक ज़रूरत है वही मानों वे हमसे मांगते हैं।

३२—बच्चों को चित्र खींचना सिखलाने की रीति।

सृष्टि की सूचनाओं के अनुसार जैसे अध्यापक लोग इस समय चित्रकला को शिक्षा का एक अंश समझ उसे लड़कों को सिखलाने लगे हैं उसी तरह यदि वे चित्रविद्या सिखलाने की रीति निश्चित करने में भी सृष्टि की सूचनाओं का ख़याल रखते तो जितना लाभ उन्होंने लड़कों को पहुँचाया है उससे अधिक पहुँचता। पहले पहल किन चीज़ों का चित्र उतारने की बच्चे कोशिश करते हैं? बड़ी बड़ी चीज़ों के, चित्र-विचित्र रङ्गीन चीज़ों के, ऐसी चीज़ों के जिनसे उन्हें विशेष आनन्द मिलता है—अर्थात् मनुष्यों के, क्योंकि उन्हीं से बच्चे अपने सारे मनोविकार सीखते हैं, गायों और कुत्तों के, क्योंकि उनमें बहुत सी मनोरञ्जक और उपयोगी बातें देख कर बच्चे उनको बहुत पसन्द करते हैं; घरों के, क्योंकि बच्चे हमेशा उनको देखते हैं और उनके आकार और जुदा जुदा भाग देख कर आश्चर्य करते हैं। इन्हीं चीज़ों के चित्र बनाने की बच्चे पहले पहल कोशिश करते हैं। अच्छा, चित्र बनाने में जो जो काम करने पड़ते हैं उनमें कौन काम ऐसा है जिसे करने में बच्चों को सबसे अधिक आनन्द होता है? रंग भरने में। यदि काग़ज़ और पेंसिल से अच्छी और कोई चीज़ नहीं मिलती तो इन्हीं दो चीज़ों से वे काम चला लेते हैं। पर यदि उनको कहीं रंगों का बक्स और ब्रश, अर्थात् रंग देने का क़लम, मिल गये तो मानों उनको ख़ज़ाना मिल गया। चित्र बनाने के लिए इन चीज़ों को वे अनमोल समझते हैं। चित्र की आकृति की रेखायें बनाने, अर्थात् ख़ाका खींचने, की अपेक्षा रंग भरने की तरफ़ वे अधिक ध्यान देते हैं। रंग भरना वे पहले दरजे का काम समझते हैं और रेखा खींचना दूसरे दरजे का; सिर्फ़ रंग भरने ही के लिए वे रेखा

खींचने की ज़रूरत समझते हैं। और, यदि, किसी किताब के चित्रों में रंग भरने को उन्हें आज्ञा मिल जाय तो उनके आनन्द का कहीं ठौर ठिकाना ही न रहे। पर चित्र-कला के अध्यापक लड़कों से पहले रेखायें खिंचवा कर आकृतियां बनवाते हैं और फिर उनमें रंग भरवाते हैं। इससे उनको ये बातें सुन कर ज़रूर आश्चर्य होगा। उन्हें हमारी बातें उपहासास्पद मालूम होंगी। वे ऐसी बातें सुन कर हँसेंगे। क्योंकि आकृति बनाना सिख-लाने के पहले वे लकीरें खींचना सिखलाते हैं; तब कहीं रंग भरवाते हैं। पर हमें विश्वास है कि चित्र-कला सिखलाने की जो रीति हमने यहां पर वर्णन की वही सच्ची और उचित रीति है। जैसा पहले ही इशारे के तौर पर बतलाया जा चुका है, बच्चों को रंग का ज्ञान पहले होता है आकार का पीछे। यह बात मनोविज्ञान के नियमों के अनुसार है। इसे शुरू से ही समझ लेना चाहिए और बच्चों को आकार बनाना सिखलाने के पहले रंग भरना सिखलाना चाहिए। इस बात को भी शुरू ही से ध्यान में रखना चाहिए कि जिन चीज़ों की नकल की जाय (अर्थात् जिनके चित्र बनाये जायें) वह असल से मिलती हुई हों। रंगों को देख कर बच्चों ही को नहीं, किन्तु बहुत आदमियों को भी, उम्र भर, विशेष आनन्द मिलता है। बच्चे ही नहीं, जवान और बुड्ढे तक बहुधा रंगीन चीज़ों को अधिक पसन्द करते हैं। अगर जो चित्र खींचने में कठिन हों और देखने में भी अच्छे न लगें उन्हें खींचना सिखलाते समय, प्राकृतिक उत्तेजना के तौर पर, बच्चों से कह देना चाहिए कि आगे तुम्हें इन्हीं चित्रों में रंग भरना होगा। लकीरें खींचने और आकृति बनाने में, दिल न लगने के कारण, जो अधिक मेहनत पड़ती है उसका परिहार रंग भरने की ख़ुशी से होना चाहिए। रंग भरने को उस मेहनत का इनाम समझना चाहिए। जो चीज़ें देखने में अच्छी मालूम होती हैं उनका चित्र बनाने की कोशिश बच्चे ख़ुद ही करते हैं। इसमें उन्हें उत्ते-जना देते रहना चाहिए। ऐसा करने से यह लाभ होगा कि जैसे जैसे बच्चों का तजरिबा बढ़ता जायगा वैसे वैसे सीधी सादी और हमेशा देख पड़ने वाली चीज़ें भी उन्हें अच्छी मालूम होने लगेंगी। अतएव वे उनके भी बनाने का उद्योग करेंगे। इस तरह करते करते चित्र बनाने में उनका

हाथ बैठ जायगा और असल चीज़ों का साम्य उनके बनाये हुए चित्रों में अधिकाधिक आने लगेगा। आरम्भ में बच्चे जो चित्र अपने हाथ से बनाते हैं उनमें बहुत कम असलियत होती है। वे बहुत ही अस्पष्ट और बेढंगे होते हैं। परन्तु यह अस्पष्टता—यह भद्दापन—परिणतिवाद के नियमों के अनुसार ही होता है। अतएव ऐसे चित्रों को बेपरवाही की दृष्टि से न देखना चाहिए; उनकी तरफ़ दुर्लक्ष्य न करना चाहिए। चित्रों के आकार चाहे जैसे बेढंगे हों, कुछ परवा नहीं। रङ्ग भरने में चाहे जितना भद्दापन आ गया हो—उसे देखकर चाहे वहुशूल ही क्यों न पैदा होता हो—तो भी कुछ परवा नहीं। क्योंकि इस समय यह नहीं देखा जाता कि बच्चा अच्छे चित्र बनाता है या नहीं। देखा यह जाता है कि वह अपनी मानसिक शक्तियों की उन्नति करता है या नहीं—उसका हाथ बैठता जाता है या नहीं—पहले पहल बच्चे को अपनी उँगलियाँ अपने क़ाबू में रखनी पड़ती हैं और आकार का भी थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है—अर्थात् आकार-साम्य की कल्पना का भी थोड़ा बहुत अन्दाज़ करना पड़ता है। आरम्भ में बस यही बातें काफ़ी समझी जाती हैं। इस उद्देश की सिद्धि के लिए इस तरह का अभ्यास ही सबसे उत्तम है। क्योंकि इस अभ्यास में बच्चे स्वभावही से आप ही आप प्रवृत्त हो जाते हैं। बिना सिखलाये ही वे इस तरह का अभ्यास करने लगते हैं और इसमें उनका मन भी लगता है। यह सच है कि बचपन में यथानियम चित्र खींचना सिखलाना मुमकिन नहीं। पर इससे क्या यह अर्थ निकलता है कि यदि बच्चे आप ही आप चित्र बनाने की कोशिश करें तो हम उन्हें वैसा करने से रोकें या उनको अपेक्षित मदद देने से इनकार कर दें? नहीं, ऐसा करना मुनासिब नहीं। हमें मुनासिब है कि इस तरह बच्चों को अपनी ज्ञानेन्द्रियों और हाथों का उचित उपयोग करते देख हम उनको उत्साहित करें और उन्हें उस मार्ग पर ले जायँ जिस पर चलने से उन्हें इस काम में सफलता होगी। इस विषय में उनके मार्गदर्शक बनना—उन्हें सुमार्ग दिखलाना—ही हमारा कर्तव्य है। यदि हम बच्चों को विशेष प्रकार की लकड़ियों के सम्न आकारों पर रङ्ग भरने और सीधे सादे नक़्शों पर देशों की मर्यादा-सूचक रंगीन रेखायें खींचने दें तो उससे वे

ख़ुशी ख़ुशी रङ्ग का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे। यही नहीं, किन्तु इससे उनको पदार्थों और देशों के आकार का भी अनायास ही थोड़ा बहुत ज्ञान हो जायगा और रङ्ग भरने में क़लम या ब्रश को धीरे धीरे बराबर एक सा चलाना भी थोड़ा बहुत आ जायगा। बच्चों को भले बुरे चित्र बनाने का जो स्वाभाविक चाव होता है वह यदि, चित्र बनाने के लिए मनोरञ्जक और चित्तवेधक चीज़ें देकर, वैसा ही बना रक्खा जाय तो, आगे, यथानियम चित्र-कला सीखने का समय आने पर, वे उसके लिए ज़रूर पहले ही से तैयार रहेंगे। पर यदि ऐसा न किया जायगा तो चित्र-कला सीखने के इस सुभीते का और किसी तरह होना तब तक सम्भव नहीं। इससे समय की भी बचत होगी और अध्यापक और विद्यार्थी दोनों को तकलीफ़ भी न उठानी पड़ेगी।

२३—चित्र-विद्या की वर्तमान प्रणाली और उसके दोष।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह तत्काल ही मालूम हो जायगा कि चित्रों की नक़ल उतारना हमें पसन्द नहीं। प्रत्यक्ष पदार्थ को न देखकर उसके चित्र को कापी करते बैठना हम अच्छा नहीं समझते। और, सरल, वक्र और मिश्र रेखाओं के बनाने की उस नियमानुकूल शिक्षा को तो हम और भी नहीं पसन्द करते जिससे कोई कोई अध्यापक चित्र-कला का आरम्भ करते हैं। कोई कोई अध्यापक इन रेखाओं की व्याख्या बतला कर पहले ही से बच्चों को यथानियम चित्र बनाना सिखलाते हैं। यह तरीक़ा अच्छा नहीं। यह बहुत बुरा है। सोसायटी आफ़ आर्ट्स (कला-विज्ञान-समाज) ने अभी हाल में कला-शिक्षा-सम्बन्धिनी एक पुस्तक-मालिका निकाली है। उसमें एक पुस्तक ऐसी है जिसमें चित्र-विद्या की प्रारम्भिक शिक्षा का वर्णन है। खेद की बात है कि सोसायटी ने इस पुस्तक में शुरू शुरू में पढ़ाई जाने वाली चित्र-विद्या की एक पुस्तक की प्रशंसा की है। इस विषय की जितनी पुस्तकें हमने देखीं उन सबमें, जहाँ तक सिद्धान्तों से सम्बन्ध है, यह पुस्तक बहुत ही बुरी है। इसे जान ब्यल नामक एक सङ्-

दिये जा चुके हैं। यदि उन नियमों के अनुसार शिक्षा देना मुनासिब हो तो बचपन में जब बच्चे आप ही आप चित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं तभी से उनको चित्र-विद्या सिखलाने का प्रारम्भ होना चाहिए, और यह शिक्षा बराबर जारी रखनी चाहिए। बचपन में लड़के चित्र बनाने का जो आपही आप उद्योग करते हैं उसे उत्तेजना देनी चाहिए। बच्चों का यह उद्योग सर्वथा उत्साह देने के लायक़ है। इस तरह आपही आप चित्र खींचने का उद्योग करते करते जब उनका हाथ कुछ जम जायगा और आकार-वृद्धि का यथेष्ट ज्ञान हो जायगा तब मोटे तौर पर यह बात उनकी समझ में आ जायगी कि प्रकाश से मूर्तिमान पदार्थों के तीन विस्तार या परिमाण दिखाई देते हैं। इसके बाद, चीनवालों की तरह, काग़ज़ पर चित्र बनाने के प्रयत्न कई दफ़े निष्फल होने पर, यह बात साधारण रीति पर उनको समझ में साफ़ साफ़ आने लगेगी कि हमें किस तरह काम करना चाहिए—हमें किस तरह और कैसा चित्र बनाना चाहिए। इसके साथ ही साथ यथानियम चित्र बनाना सीखने की इच्छा भी उनके मन में जागृत हो उठेगी। उस समय उन यंत्रों की सहायता से उन्हें चित्रकला-सम्बन्धी प्रारम्भिक शिक्षा शुरू करनी चाहिए जिनका काम, पदार्थों को प्रत्यक्ष देख कर वैज्ञानिक रीति से चित्र बनाना सिखलाने में, कभी कभी पड़ता है। यह सुन कर बहुत लोगों को आश्चर्य होगा पर तजरिबे से मालूम हो जायगा कि वह रीति साधारण बुद्धि के किसी भी लड़के या लड़की की समझ में आजाने लायक है। यही नहीं, किन्तु यह बात भी ध्यान में आजायगी कि इस रीति से चित्रकला सीखने में बच्चों का मन भी लगता है। काँच के एक चिपटे टुकड़े को चौखटे में इस तरह लगाइए कि वह मेज पर सीधा खड़ा न [illegible] हो सके। फिर उस विद्यार्थी के सामने कीजिए और उसके दूसरी तरफ़ कोई पुस्तक या [illegible] और कोई साधारण चीज़ रखिए। तब विद्यार्थी से कहिए कि वह अपनी दृष्टि को स्थिर रख कर काँच पर [illegible] [illegible] में बिन्दु बनावे जिनमें से हर एक उस चीज़ के कोने [illegible] या [illegible] बिन्दु उसके कोनों के ठीक सामने मालूम हों। तब उससे कहिए कि [illegible] वह इन बिन्दुओं को मिला दे। ऐसा करने से [illegible]

होगा कि उसकी खींची हुई लकीरों से या तो वह चीज़ बिलकुल ढक गई है या वे लकीरें ही उस चीज़ की आकृति-रेखा या ढांचा हो गई हैं। इसके बाद उस कांच के दूसरी तरफ़ कागज़ रख कर उसे देखने को कहिए। इस तरह उसे समझा दीजिए कि जो लकीरें उसने खींची हैं उनसे वह चीज़ ठीक उसी तरह दिखलाई गई है जिस तरह कि उसने उसे देखा था। इससे यह बात भी उसके ध्यान में आ जायगी कि वे लकीरें ठीक उस चीज़ के आकार सी ही नहीं जान पड़तीं; किन्तु उन्हें उस चीज़ के आकार का ज़रूर होना ही चाहिए; क्योंकि उसने उस चीज़ की आकृति या ढांचे को देख कर ही उन लकीरों को खींचा है। इसके बाद कांच पर से कागज़ को हटा कर वह अपने इस विश्वास को और भी दृढ़ कर सकता है कि वे लकीरें सचमुच ही उस चीज़ की आकृति से पूरे तौर पर मिलती हैं या नहीं। विद्यार्थी को यह बात बिलकुल ही नई और आश्चर्यजनक मालूम होगी। इससे उसे इस बात का प्रत्यक्ष तजरिबा हो जायगा कि किसी समतल जगह पर विशेष विशेष दिशाओं की तरफ़ खींची गई विशेष विशेष प्रकार की (अर्थात् न्यूनाधिक लम्बाई की) लम्बी लकीरों से ऐसी लकीरें बनाई जा सकती हैं जिनकी लम्बाई और जिनकी दिशायें, दूरी के हिसाब से, जुदा जुदा हैं। धीरे धीरे उस चीज़ की स्थिति में अन्तर करते रहने से यह बात भी विद्यार्थी को बतलाई जा सकती है कि किस तरह कोई कोई लकीरें कम होते होते बिलकुल ही लुप्त हो जाती हैं और किस तरह दूसरी लकीरें दृष्टिगोचर होकर बढ़ती जाती हैं। समान्तराल रेखाओं का एक-केन्द्राभिसारित्व ही नहीं; किन्तु पदार्थों को प्रत्यक्ष देख कर उनका चित्र बनाने की जो विद्या है उसकी प्रायः सभी मुख्य मुख्य बातें, इसी तरह, समय समय पर, प्रत्यक्ष तजरिबे से सिद्ध करके विद्यार्थी को बतलाई जा सकती हैं। यदि सब काम, बिना दूसरे की मदद के, अपनेही आप करने का स्वभाव विद्यार्थी का पड़ गया है तो सूचना देने ही से किसी चीज़ को सिर्फ़ आंख से देखकर उसका ढांचा खींचने की वह ख़ुशी से कोशिश करेगा। और सम्भव है कि थोड़े ही समय में, बिना किसी की मदद के, प्रायः वैसे ही चित्र बनाने का उत्साह उसमें जागृत हो जाय जैसे चित्र का

मनोरञ्जक समझते थे और ज्यामिति के प्रश्नों के सुलझाने में दिलोजान से गर्क हो जाते थे। अभी पिछले ही महीने हमने लड़कियों के एक ऐसे मदरसे का हाल पढ़ा है जिसकी कुछ लड़कियां मदरसे की शिक्षा के बाद, घर आने पर, अपनी ख़ुशी से ज्यामिति-शास्त्र के प्रश्न हल करने में लगी रहती हैं। एक और मदरसे के विषय में हमने सुना है कि वहाँ की लड़कियाँ इतने ही से सन्तोष नहीं करतीं, किन्तु उनमें से एक लड़की छुट्टी के दिनों में भी हल करने के लिए इस तरह के प्रश्न प्रार्थना-पूर्वक मांगा करती है। ये दोनों बातें हमने इन लड़कियों के अध्यापकों के मुँह से सुनी हैं। इस बात के ये बहुत ही मज़बूत प्रमाण हैं कि अपनी उन्नति आपही करना सम्भव है—अपनी शिक्षा आपही प्राप्त करना सम्भव है—और उससे लाभ भी बेहद है। विद्या की यह शाखा, अर्थात् ज्यामिति, साधारण प्रचलित रीति से सिखलाने में शुष्क नहीं, त्रासदायक भी, मालूम होती है। पर वही, यदि सृष्टिक्रम के अनुसार सिखलाई जाय तो, अत्यन्त मनोरंजक और अत्यन्त लाभदायक हो जाती है। सृष्टिक्रम के अनुकूल इस शाखा की शिक्षा को हम "अत्यन्त लाभदायक" इसलिए कहते हैं कि इससे ज्यामिति-शास्त्र का जो ज्ञान होता है सो तो होता ही है, परन्तु इसके कारण कभी कभी मन की अवस्था ही बिलकुल बदल जाती है—मानसिक वृत्तियों में बहुत बड़े बड़े परिवर्तन हो जाते हैं। अनेक बार देखा गया है कि जो विद्यार्थी मदरसे की परम्परा-प्रचलित क़वायद के कारण, उसके गूढ़ और पेचीदा नियमों के कारण, रटने इत्यादि की तरह की थकान पैदा करने वाली उसकी पद्धति के कारण और बहुत से विषयों को एक ही साथ दिमाग़ में ठूँसने के कारण अत्यन्त मन्दबुद्धि हो गये थे वही, जब उन्हें निर्जीव कल की तरह चुपचाप बिठला कर पाठ सुनाना बन्द कर दिया गया और ख़ुद सोच समझ कर हर एक बात की परीक्षा और शोध करने की उनकी आदत डाली गई, सहसा तीव्र-बुद्धि हो गये। उत्साहहीनता रूपी दुर्गुण शिक्षा से पैदा होती है। थोड़ी सी हमदर्दी—थोड़ी सी सहानुभूति—से ही वह कम हो जाती है और शिक्षा में सफलता प्राप्त करने के लिए उत्साह-पूर्वक निरन्तर चेष्टा करने की आदत हो जाती है। अर्थात्

जहां विद्यार्थियों को एक बार यह बात मालूम हो जाती है कि
बुद्धि काम करती है वहां उनकी मनोवृत्ति एक दम ही बदल जा
वे बड़े उत्साह से उद्योग करने लगते हैं। तब वे समझ जाते हैं
बिलकुल ही अयोग्य नहीं—हम बिलकुल ही नालायक़ नहीं—ह
कर सकते हैं। इस तरह, धीरे धीरे, जैसे जैसे उन्हें कामयाबी के ब
यावी होती जाती है वैसे वैसे उनकी निराशा का नाश होता जाता
वे दूसरे विषयों की कठिनाइयों पर इस बहादुरी से टूट पड़ते हैं कि
भी उन्हें ज़रूर कामयाबी होती है।

३८—ज्यामितिशास्त्र की शिक्षा को मनोरञ्जक और सुख-पाठ्य बनाने के विषय में अध्यापक टिंडल की राय।

हमारे इस पूर्वोक्त लेख के पहले पहल प्रकाशित होने के कुछ दफ़े
प्रसिद्ध विद्वान अध्यापक टिंडल ने "रायल इन्स्टिट्यूशन" नामक सभा
एक व्याख्यान दिया। व्याख्यान का विषय था—"शिक्षा को एक शा
समझ कर पदार्थ-विज्ञान शास्त्र के अभ्यास का महत्त्व"। उसमें उन्हों
इसी बात के पुष्टीकरण में कुछ प्रमाण दिये। इस विषय में जो कुछ उन्हों
कहा है अपने निज के अनुभव से कहा है। अतएव उनका कथन इतने
महत्त्व का है कि हम उसका अवतरण, यहां पर, दिये बिना नहीं रह
सकते। वे कहते हैं:—

"जिस समय का मैंने ज़िक्र किया उस समय जो काम मेरे सिपुर्द थे
उनमें से एक काम मेरा यह भी था कि शाम को मुझे गणित सिखलाना
पड़ता था। उनको शिक्षा देने में मैंने प्रायः हमेशा यह देखा कि जब
युक्लिड और प्राचीन ज्यामिति की शिक्षा लड़कों को ख़ूब समझा कर दी
जाती थी तब उससे लड़कों का मन बहुत लगता था। इन विषयों को वे
अपनी ही बुद्धि के सहारे सोचने या प्रश्नों का उत्तर अपने ही मन से देने को
वे बहुत पसन्द करते थे। इस तरह उनसे काम लेने में उनका ख़ूब
मनोरञ्जन होता था। मेरी आदत थी कि मैं लड़कों को किताबी शिक्षा न

दे कर जो बातें उस शिक्षा से सम्बन्ध न रखती थीं उन्हें हल करने के लिए उनसे यह कहता था कि तुम अपनी बुद्धि से काम लो—ख़ुद ही सोच समझ कर उनका उत्तर दो। पुरानी राह छोड़ कर नई पर आने के कारण पहले तो लड़कों को अकसर कुछ बुरा लगता था; उन्हें ऐसा मालूम होता था जैसा कि एक बच्चे को अपरिचित आदमियों के बीच में छोड़ देने से मालूम होता है परन्तु मैंने एक भी ऐसा उदाहरण नहीं देखा जिसमें यह बात हमेशा एक सी बनी रही हो। विद्यार्थियों को इस नई राह पर लाने में उन्हें जो अप्रसन्नता होती है वह बहुत दिन तक नहीं रहती; शीघ्र ही जाती रहती है। जब कोई विद्यार्थी बिलकुल ही निराश हो जाता था तब मैं उसे न्यूटन की याद दिला कर उत्साहित करता था। न्यूटन कहा करता था कि मुझ में और दूसरे आदमियों में जो अन्तर देख पड़ता है उसका कारण मेरा दीर्घ उद्योग और विशेष धैर्य्य है। इन्हीं गुणों के कारण यह मालूम होता है कि और लोगों से मुझ में विशेषता है। यही बात मैं निराश हुए विद्यार्थी से कहता था। अथवा मैं उससे फ़्रान्स के प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी मिराबो की कथा कहता था। एक दफे इस तत्त्ववेत्ता के नौकर ने कहीं यह कह दिया कि अमुक बात असम्भव है। इस पर उसने नौकर को बहुत फटकारा और हुक्म दिया कि इस वाहियात शब्द (असम्भव) को फिर कभी मुँह से न निकालना। इसी को याद दिलाकर मैं विद्यार्थी को धीरज देता था। इस तरह ढाढ़स बँधाने से, ख़ुश होकर, मुसकराते हुए, वह फिर अपना काम करने लगता था। उसके मन में कामयाबी होने का सन्देह शायद इतने पर भी बना रहता होगा, पर उसकी मुखचर्य्या से यह बात साफ़ मालूम होती थी कि फिर प्रयत्न करने का उसने दृढ़ सङ्कल्प कर लिया है। कुछ देर में मैंने इसी विद्यार्थी की आँख को चमकते हुए देखा और आनन्दातिरेक से यह भी कहते हुए सुना कि—"मास्टर साहब, मैं समझ गया"। इस समय उसे जो ख़ुशी हुई वह बिलकुल उसी तरह की ख़ुशी थी जिसके कारण आरशीमीडिस* आत्म-विस्मृत होकर चिल्ला उठा था कि

---

* ईसा के कोई ३०० वर्ष पहले ग्रीस में आरशीमिडिज नाम का एक गणितज्ञ हो गया है। सिराक्यूज के बादशाह हीरो ने सोने का एक ताज मोल लिया था और उसको

"मुझे वह तरकीब मालूम हो गई"। हां, भेद इतना ही था कि अरशीमीडस की ख़ुशी का विस्तार कुछ अधिक था। इस प्रकार लड़कों को यह ज्ञान हो जाने से कि हम भी कुछ बुद्धि रखते हैं—हम में भी कुछ शक्ति है—बहुत लाभ हुआ। इस बात के मालूम हो जाने से लड़कों का उत्साह इतना बढ़ गया कि थोड़े ही दिनों में उस क्लास की आश्चर्यजनक उन्नति हो गई। मेरा अकसर यह नियम था कि मैं क्लास के लड़कों को अधिकार दे देता था कि चाहें तो वे किताब में दी हुई शकलें हल करें और चाहें उन शकलों के हल करने में अपनी बुद्धि की परीक्षा करें जो किताब में नहीं दी हुई हैं। परन्तु मुझे एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मालूम जिसमें लड़कों ने किताबी शकलें पसन्द की हों। जब मैं समझता था कि लड़कों को मदद दरकार है तब हमेशा मदद देने को तैयार रहता था। पर मदद देने की बात सुनते ही लड़कों को यह कहने की आदत सी पड़ गई थी कि "नहीं, नहीं, हमें मदद दरकार नहीं"। वे मदद लेने से हमेशा इनकार कर देते थे। अपनी निज की बुद्धि के बल पर प्रश्नों के हल करने से प्राप्त हुई जीत के मिठास की उन्हें चाट लग गई थी। इससे वे हमेशा यही चाहते थे कि और भी विजयों का यश उन्हें लूटने को मिले। मैंने उन शकलों को—उन आकृतियों को—ख़ुद देखा है जिनको उन्होंने दीवारों पर खुरच कर या खेल की जगह गड़ी हुई लकड़ियों पर खोद कर बनाया है। मैंने और भी ऐसे ही अनन्त उदाहरण इस बात के सूचक देखे हैं कि उनको इस विषय का कितना चसका है। और वे इसमें कितना मनोयोग देते हैं। यदि आप मेरी बात पूछें तो मैं बिलकुल ही नवसिखिया था। शिक्षा के काम में मुझे कुछ भी तजरिबा न था। मेरी दशा उस चिड़िया की ऐसी थी जिसके पर और बाल

था कि इसके खोटे या खरे होने की परीक्षा बिना उसे तोड़े हो जाय। इस बात को उसने अरशीमीडस से कहा। वह बहुत हैरान रहा। पर ऐसी कोई युक्ति उसे न सूझी। एक दिन वह हम्माम में नहा रहा था कि एकाएक इसकी तरकीब उसके ध्यान में आ गई। इस समय बेहोशी की हालत में वह यह कहते हुए कि—"मुझे वह तरकीब मालूम हो गई" नङ्गा ही हम्माम से निकल भागा। स्पेंसर का मतलब इसी घटना से है।

कभी निकले हों। जर्मनी वाले जिसे बालकाध्यापन कहते हैं उसके सिद्धान्तों का मुझे कुछ भी ज्ञान न था। परन्तु इस लेख के प्रारम्भ में जिन बातों का ज़िक्र मैंने किया है उनको मैंने मज़बूती से पकड़ रक्खा था—उनके आशय को मैंने कभी अपने हृदय से दूर नहीं होने दिया। ज्यामिति, साधारण शिक्षा का एक साधन मात्र है। शिक्षा का वह कोई स्वतन्त्र विषय नहीं। इस बात को .खूब समझ कर मैंने अपना शिक्षा-क्रम जारी रक्खा। इस काम में मुझे यश मिला—मैं .खूब कामयाब हुआ। और मेरे जीवन के सबसे अधिक आनन्ददायक घंटों में कुछ घण्टे इस बात के देखने में खर्च हुए कि पूर्वोक्त रीति से शिक्षा देने से बच्चों की मानसिक शक्तियाँ .खूब उत्साहित होकर विस्तार के साथ आनन्दपूर्वक वृद्धि पाती हैं"।

३८—ज्यामिति-शास्त्र की प्रयोगात्मक शिक्षा को बहुत वर्षों तक जारी रखना चाहिए और क्रम क्रम से कठिन आकृतियों का बनाना सिखलाना चाहिए।

ज्यामिति-शास्त्र की इस प्रयोगात्मक शिक्षा में प्रश्नों का इतना समूह भरा रहता है जिसकी सीमा नहीं है। और और विषयों के साथ इसकी शिक्षा वर्षों तक होनी चाहिए। शुरू शुरू में शकलें बनवा कर जैसे इस शास्त्र की शिक्षा दी जाती है वैसे ही यदि आगे भी किया जाय — यदि यही क्रम इसका जारी रक्खा जाय—तो बहुत अच्छा हो। जब घन, अष्टफलक और सूची तथा त्रिपार्श्व ([illegible]) के भिन्न भिन्न अनेक आकारों का अच्छी तरह ज्ञान हो जाय तब द्वादश-फलक और विंशति-फलक आदि अधिक कठिन आकृतियों की शिक्षा देनी चाहिए। ये आकृतियाँ ऐसी हैं कि मोटे कागज़ के एक ही टुकड़े को काट कर इनके बनाने के लिए [illegible] हस्त-कौशल दरकार होता है। इन आकृतियों का बनाना आसान [illegible] स्वाभाविक तौर पर विद्यार्थियों को नाना प्रकार की ऐसी परीक्षाएँ [illegible] सिखलानी चाहिए जो [illegible] में देखी जाती हैं। उदाहरण के लिए

पहले एक ऐसी घन आकृति बनानी चाहिए जिसके कोने छांट दिये गये हों। फिर एक ऐसी बनानी चाहिए जिसके किनारे के भी कोने छांट दिये गये हों और घनोन्मुख कोने भी छांट दिये गये हों। इसके बाद अष्ट-फलक और अनेक प्रकार के भिन्न, पूर्ववत् कोने इत्यादि छांट कर, बनाने चाहिए और उनका बनाना सिखलाना चाहिए। बनने के समय धातुओं और नमकों (खारों) के जो अनेक आकार होते हैं उनकी नक़ल करने में—इन्हीं के सदृश काग़ज़ के टुकड़े काटने में—स्फटिकजननविद्या की मुख्य मुख्य बातों का ज्ञान सहज ही में हो जाता है।

४०—ज्यामिति की प्रयोगात्मक शिक्षा के बाद शास्त्रीय शिक्षा होनी चाहिए।

इस तरह के अभ्यास में बहुत सा समय खर्च करने पर शास्त्रीय रीति से ज्यामिति सिखलाने में कोई कठिनता न पड़ेगी। यह एक ऐसी बात है कि इसके बतलाने की कोई ज़रूरत नहीं। इस बात को कौन न स्वीकार करेगा कि बच्चों का अभ्यास यहां तक हो चुकने पर सम्भव है कि वे वैज्ञा-निक रीति से ज्यामिति-शास्त्र सीख सकें? पदार्थों की आकृति और परिमाण के सम्बन्ध में विचार करने की आदत होती है और अमुक अमुक प्रकार की वृद्धि से अमुक अमुक परिवर्तन होता है, इसकी भी थोड़ी बहुत कल्पना उन्हें पहले ही से रहती है। इस कारण शास्त्रीय रीति से ज्यामिति सीखने में उन्हें यह मालूम होता है कि जिन शकलों को उन्होंने हाथ से बनाया था, युक्लिड के सिद्धान्त उन्हीं शकलों को तर्क-सम्मत सिद्ध करने के ऐसे साधन हैं जिनका अब तक उन्हें पता नहीं था। उनकी बुद्धि स्वतन्त्र होने के कारण—उनकी बुद्धि को सीधी शिक्षा मिलने के कारण—उनको [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

दो नियम ऐसे हैं जो सबसे अधिक महत्त्व के हैं, पर जिनकी सबसे अ-
परवा की जाती है। अतएव उनके महत्त्व का ठीक ठीक अन्दाज़, और उ-
की योग्यता को हृत्पटल पर ठीक ठीक अङ्कित, होने के लिए उनके विषय में
कुछ अधिक कहने की ज़रूरत है। उनमें से पहला नियम यह है कि लड़क-
पन में, बचपन और जवानी के बीच में, और जवानी में भी शिक्षा की वही
पद्धति जारी रखना चाहिए जिससे अपनी उन्नति आप ही होती जाय।
अर्थात् ऐसी प्रणाली से काम लिया जाय जिसमें आप ही आप, बिना दूसरे
की मदद के, शिक्षा मिलती जाय। उसी की जोड़ी का दूसरा नियम यह है
कि विद्याभ्यास में मनोवृत्ति हमेशा आनन्दित बनी रहे। विद्यार्थी से मान-
सिक काम लेने में बराबर उसका मनोरंजन होता जाय। विराग या घृ-
णा पैदा होने पावे। यदि यह बात मान ली जाय कि मनोविज्ञान के नियमों के
अनुसार विद्यार्थी को सीधी सादी बातों से कठिन बातों का, प्रत्यक्ष बातों
से अप्रत्यक्ष बातों का, और धर्मी से धर्म का ज्ञान करा देना ही आवश्यक
है तो जिन दो बातों से इस विषय की जाँच की जा सकती है वे यही हैं
कि (१) ज्ञान आपही आप उपार्जन करना चाहिए और (२) उसके उपा-
र्जन में चित्त-वृत्ति प्रफुल्लित रहनी चाहिए। यही दो ऐसे साधन हैं जिनसे
यह बात जानी जा सकती है कि मनोविज्ञान के नियमानुसार शिक्षा हो रही
है या नहीं। यदि पहले साधन में उन व्यापक नियमों का समावेश होता है
जिनके अनुसार मानसिक शक्तियों की वृद्धि होती है तो दूसरे में उन बातों
का समावेश होता है जिनसे मानसिक शक्तियों को बढ़ानेवाली [illegible]
मदद मिलती है। इसका कारण यह है, और यह बिलकुल प्रकट है, कि
यदि हमारी शिक्षापद्धति का क्रम इस तरह रक्खा जाय कि उसके अनु-
सार, बिना किसी की मदद के, विद्यार्थी आपही आप, एक के बाद एक,
क्रम क्रम से, [illegible], तो यह क्रम ज़रूर ही उस क्रम के अनुसार होगा
जिसके अनुसार मानसिक शक्तियाँ बढ़ती हैं। और इन विषयों का एक के
बाद एक, सीखना यदि विद्यार्थी के लिए सुख मनोरञ्जक है—[illegible]
को [illegible] है—तो यह साफ़ ज़ाहिर है कि इस क्रम से शिक्षा देने
[illegible] और किसी बात का [illegible] नहीं। [illegible]

मानसिक शक्तियों को स्वाभाविक रीति से काम में लाने की। अर्थात् इस तरह मानसिक शक्तियों पर बिना किसी प्रकार का बोझ डाले ही विद्यार्थी सब बातें सीख सकता है।

४३—आपही आप बुद्धि को बढ़ाने वाली शिक्षा से और और लाभ।

शिक्षा का ऐसा क्रम रखने से कि बुद्धि का विकास आप ही आप होता जाय, इतनाही फ़ायदा नहीं होता कि जो विषय हमें सीखने पड़ते हैं उनको हम यथाक्रम सीखते हैं। उससे और भी कई फ़ायदे हैं। एक फ़ायदा तो यह है कि इस तरह के शिक्षा-क्रम से मन पर जो संस्कार होते हैं वे बहुत स्पष्ट होते हैं और हमेशा बने रहते हैं। यह बात शिक्षा के साधारण तरीक़े से कभी नहीं हो सकती। जो ज्ञान विद्यार्थी आप ही आप, अपने ही परिश्रम से, प्राप्त करता है—उदाहरण के लिए कोई ऐसा प्रश्न लीजिए जिसे उसने ख़ुद हल किया है—वह, अपने ही पराक्रम से विजयी हो कर प्राप्त किये जाने के कारण, उसकी निज की सम्पत्ति सी हो जाती है। अतएव जैसा वह इस तरह उसके हृदय पर वज्रलेप सा हो जाता है वैसा और किसी तरह नहीं हो सकता। बिना किसी की मदद के किसी बात में कामयाबी होने के लिए मन को परिश्रम देने और बुद्धि को एकाग्र करने की ज़रूरत पड़ती है। और जब विजय प्राप्त हो जाता है तब आनन्द भी ख़ूब होता है। परिश्रम, एकाग्रता और आनन्द मिल कर उस बात को विद्यार्थी के स्मृति-पटल पर इस मज़बूती से अङ्कित कर देते हैं कि अध्यापक से सुन कर या किसी पुस्तक में पढ़ कर उस तरह उस बात का अङ्कित होना कभी सम्भव नहीं। यदि उसे कामयाबी न हो, तो भी उस बात को समझने के लिए उसने जो कोशिश की होती है और उसकी मानसिक शक्तियों ने जो ज़ोर लगाया होता है उसके कारण, जब उसे वह बात बतला दी जाती है तब वह उसे इतनी अच्छी तरह याद हो जाती है जितनी कि छः दफ़े रटने से भी याद न होती। फिर इस बात को भी न भूलना चाहिए कि इस तरकीब से शिक्षा देने से जो ज्ञान विद्यार्थी प्राप्त करता है वह उसे लगातार यथाक्रम

इकट्ठी करता है, कठिनाइयों को पार करने में हमेशा धीरज देता है, और कामयाबी होने पर बच्चों को ख़ुश देख जो ख़ुद भी ख़ुशी मनाता है—उसे बच्चे ज़रूर पसन्द करते हैं। यही नहीं, किन्तु यदि उसका बर्ताव बराबर ऐसा ही बना रहा तो उसे वे प्यार तक करते हैं—उसे प्राणों से भी अधिक समझते हैं। जो अध्यापक बच्चों को मित्रवत् मालूम होता है—जो उनके साथ मित्र की तरह बर्त्ताव करता है—उसका दबाव बच्चों पर उस अध्यापक के दबाव से बहुत अधिक पड़ता है जिसे वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं या जिनके विषय में वे प्रेमभाव नहीं रखते। पहले प्रकार का दबाव दूसरे प्रकार के दबाव की अपेक्षा विशेष हितकर और दयादर्शक है। इसका विचार करने में यह बात ज़रूर ध्यान में आ जायगी कि शिक्षा देने की पद्धति सुखकर और मनोरंजक होने से जो अप्रत्यक्ष लाभ होते हैं वे उससे होनेवाले प्रत्यक्ष लाभों से कुछ कम नहीं हैं। जिस पद्धति के अनुसार शिक्षा देने की हम सिफ़ारिश करते हैं उसके विषय में यदि कोई यह शङ्का करे कि उसका प्रचार करना—उसे व्यवहार में लाना—असम्भव है तो उसे हम पूर्ववत् यही उत्तर देंगे कि सिर्फ़ ख़याली नियमों के अनुसार—सिर्फ़ तात्त्विक सिद्धान्तों के अनुसार—ही वह पद्धति सच्ची नहीं साबित होती, किन्तु तजरिबे से भी वह सच्ची साबित होती है। सिद्धान्त और तजरिबा, दोनों से, यह बात निर्भ्रान्त सिद्ध होती है कि यदि कोई पद्धति सच्ची और सृष्टि-क्रम के अनुकूल है तो यही है। पेस्टलोज़ी के समय से लेकर आज तक जितने प्रसिद्ध प्रसिद्ध अध्यापक हो गये हैं उन्होंने इस पद्धति के सही होने के विषय में जो रायें दी हैं उनको हम पहले ही लिख आये हैं। उनमें, एडनबर्ग-विश्वविद्यालय के अध्यापक, पिलन्स, की राय भी शामिल कर लेना चाहिए। वे कहते हैं—"जिस रीति से बच्चों को शिक्षा दी जानी चाहिए उस रीति से यदि दी जाती है तो वे खेलने में जितना ख़ुश रहते हैं उतना ही मदरसे में भी ख़ुश रहते हैं। मदरसे में उससे कम ख़ुश तो शायद ही रहते हों, उलटा, वहाँ वे बहुधा अधिक ख़ुश रहते हैं। दौड़-धूप के खेलों में शारीरिक शक्तियों की कसरत से उन्हें जितना आनन्द मिलता है उसकी अपेक्षा मानसिक शक्तियों की उचित कसरत, अर्थात् योग्य शिक्षा, से उन्हें अधिक आनन्द मिलता है"।

४६—उल्लिखित शिक्षा-पद्धति से एक और भी लाभ की सम्भावना।

अन्त में हम इसका एक और कारण बतलाना चाहते हैं कि क्यों हमें ऐसे तरीक़े से शिक्षा देनी चाहिए जिससे बच्चों को शिक्षा आप ही आप होती जाय और उसके साथ ही उन्हें आनन्द भी मिलता जाय। वह कारण यह है कि मदरसे में विद्याभ्यास करने की रीति जितनी अधिक सुखकारक होगी, मदरसा छूटने पर उतने ही अधिक दिनों तक उसकी चाट बनी रहेगी। यह बहुत सम्भव है कि शिक्षा की रीति मनोरञ्जक होने से शिक्षा प्राप्त करने का चाव, मदरसा छोड़ने पर भी, बना रहे। इसलिए हम इस बात पर ज़ोर देते हैं कि आप ही आप शिक्षा प्राप्त करने और उसके द्वारा शिक्षा-पद्धति को सुखकर बनाने की बड़ी ज़रूरत है। जब तक बच्चे शिक्षा-प्राप्ति से घृणा करते रहेंगे तब तक उनकी यही इच्छा रहेगी कि, अध्यापक और माँ-बाप का दबाव दूर होते ही, पढ़ना लिखना बन्द कर दें। परन्तु यदि शिक्षा की रीति ऐसी होगी कि उससे स्वाभाविक तौर पर आप ही आप मनोरञ्जन होगा और आनन्द भी मिलेगा तो दूसरों की देख-भाल बच्चों पर न रहने पर भी—माँ-बाप और अध्यापकों का दबाव दूर हो जाने पर भी—वे उसे जारी रक्खेंगे। शिक्षा मनोरञ्जक न होने से, बिना दूसरों की देख भाल के, वह कदापि जारी नहीं रह सकती। ये सिद्धान्त निर्विवाद हैं—ये नियम अटल हैं। यदि यह बात सच है कि जो विचार मन में पैदा होते हैं वे कुछ विशेष नियमों के अनुसार पैदा होते हैं; यदि यह बात सच है कि आदमी उन चीज़ों और उन जगहों को नहीं पसन्द करते जिनसे दुःखदायक बातें याद आती हैं, और उन चीज़ों और उन जगहों को पसन्द करते हैं जिनसे आनन्ददायक बातें याद आती हैं; तो यह भी सच है कि मदरसे में शिक्षा की रीति जिस परिमाण में दुःखजनक या सुखकर होगी उसी परिमाण में, मदरसा छोड़ने के बाद, ज्ञान प्राप्त करना दुःख या सुख का कारण होगा—उसी परिमाण में वह दुःखजनक या चित्ताकर्षक होगा। जिन लोगों ने लड़कपन में अनेक प्रकार की, अरुचि-

आधार यही उद्देश है—उसका भी बीज यही उद्देश है। परन्तु लड़के और लड़कियों को समाज और नागरिकता से सम्बन्ध रखने वाले कर्तव्यों को पालन के योग्य बनाने के लिए यद्यपि थोड़ा बहुत उद्योग किया जाता है—थोड़ी बहुत सावधानता रक्खी जाती है—तथापि माँ-बाप से सम्बन्ध रखने वाले कर्तव्यों को पालन करने की योग्यता उनमें पैदा करने के लिए कुछ भी उद्योग नहीं किया जाता—कुछ भी सावधानता नहीं रक्खी जाती। लोग इस बात को तो समझते हैं कि जीविका-निर्वाह के लिए पहले ही से .खूब जंगी तैयारी करने की ज़रूरत है; परन्तु ऐसा मालूम होता है कि वे यह नहीं समझते हैं कि बाल-बच्चों का पालन-पोषण करने के योग्य होने के लिए भी पहले से तैयारी करने की कोई ज़रूरत है। लड़कों के कितने ही वर्ष उस शिक्षा की प्राप्ति में ख़र्च कर दिये जाते हैं जिसका एक मात्र उपयोग यह है कि उससे लोगों की गिनती सभ्य, सुशिक्षित और सम्भावित आदमियों में हो जाती है। अर्थात् सिर्फ़ "सभ्यजनोचित शिक्षा" समझ कर ही उसकी प्राप्ति के लिए कई वर्ष व्यर्थ ख़राब किये जाते हैं। इसी तरह सिर्फ़ सायङ्कालीन जलसों में शामिल होने के योग्य बनाने के लिए लड़कियों के भी कितने ही वर्ष साज-सिंगार की शिक्षा प्राप्त करने में ख़र्च कर दिये जाते हैं। परन्तु कुटुम्ब की व्यवस्था रखना—उसका प्रबन्ध करना—जो सबसे अधिक महत्त्व और ज़िम्मेदारी का काम है उसकी तैयारी के लिए लड़के लड़कियों में से किसी का एक घण्टा भी ख़र्च नहीं किया जाता। कहिए यह कितने आश्चर्य्य की बात है! क्या यह ज़िम्मेदारी ऐसी है कि इसके उठाने की आवश्यकता में भी कोई सन्देह है? क्या यह समझ कर लोग इसकी परवा नहीं करते कि इस ज़िम्मेदारी के काम करने की बारी कभी, किसी समय, आवे आवे, न आवे न आवे? बात ऐसी नहीं है। दस में नौ आदमियों को यह ज़िम्मेदारी ज़रूर ही उठानी पड़ती है। अच्छा, क्या यह कोई सहज काम है? क्या यह ज़िम्मेदारी ऐसी है कि इसका बोझ सहज ही में उठाया जा सकता है? कदापि नहीं—हरगिज़ नहीं। हर एक वयस्क मनुष्य को—हर एक जवान आदमी को—जो काम करने पड़ते हैं उनमें यही सबसे अधिक कठिन है। अच्छा, क्या लड़के लड़कियाँ, बिना सिखलाने के, माँ-बाप का

कर्तव्य पूरा करने की शिक्षा आप ही आप प्राप्त कर सकती हैं ? क्या इस इतने बड़े काम की योग्यता उनमें आप ही आप आ सकती है ? नहीं, कभी नहीं। यही नहीं कि इस तरह अपनी शिक्षा आपही प्राप्त करने की कल्पना भी आज तक किसी के मन में नहीं आई; किन्तु यह विषय इतना अटपटा है कि इसमें स्वयं—शिक्षा के बहुत कम उपयोगी होने की सम्भावना है। इस तरह के और जितने पेचीदा विषय हैं उनमें यह ऐसा है कि अपनी शिक्षा आपही प्राप्त करने की कोशिश से इसमें बहुत ही कम कामयाबी की आशा है। शिक्षा-पद्धति से शिक्षण-कला को निकाल डालने के विषय में कोई उचित कारण नहीं बतलाया जा सकता। कोई यह नहीं कह सकता कि सिखलाने के जो विषय हैं उनसे शिक्षण-कला निकाल डाली जाय। चाहे मां-बाप के सुख-सम्बन्ध में कहिए, चाहे उनके बाल-बच्चों और दूर के भावी वंशजों के स्वभाव और जीवन के सम्बन्ध में कहिए, यह बात हमें जरूर ही स्वीकार करनी होगी कि बच्चों के शारीरिक, मानसिक और नैतिक शिक्षा के उचित तरीक़ों का ज्ञान हम लोगों के लिए बहुत बड़े महत्त्व का ज्ञान है। जो बातें प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक स्त्री को सिखलाई जाती हैं उनमें यह विषय सबसे पीछे सिखलाना चाहिए। स्त्री-पुरुषों के विद्याभ्यास के क्रम में इस विषय का ज्ञान अन्त में होना चाहिए—उसकी शिक्षा अख़ीर में होनी चाहिए। बाल-बच्चे पैदा करने की योग्यता जिस तरह शरीर के परिपक्व होने का चिह्न है उसी तरह उन बाल-बच्चों को पालने-पोसने और शिक्षित बनाने का सामर्थ्य मन और बुद्धि के परिपक्व होने का चिह्न है।

और सब विषय जिसके भीतर आ जाते हैं, अर्थात्—सब विषयों का जिसमें अन्तर्भाव हो जाता है, अतएव शिक्षा-क्रम में जिसे सबसे पीछे रखना चाहिए वह विषय शिक्षा की उपपत्ति और उसके देने की पद्धति है।

२—बच्चों के पालन-पोषण और नैतिक शिक्षण की शोचनीय अवस्था।

इस प्रकार की शिक्षा के लिए तैयारी न रहने के कारण बच्चों के पालन-पोषण और विशेष करके उनके नीति-विषयक-शिक्षण की अवस्था बहुत ही

शोचनीय होती है। माँ-बाप या तो इस विषय का कभी विचार ही नहीं करते, या यदि करते भी हैं तो उनके निकाले हुए सिद्धान्त, अपूर्ण, अज्ञानमूलक और परस्पर विरोधी होते हैं। माँ-बाप के, विशेष करके माँ के, बर्ताव के विषय में बहुधा देखा गया है कि जिस समय जो मनोविकार प्रबल होता है उसी के अनुसार बच्चों के साथ बर्ताव होता है। अर्थात् जब जैसा बर्ताव सूझ जाता है तब वैसा ही किया जाता है। किस तरह के बर्ताव से बच्चे को सबसे अधिक फ़ायदा पहुँचेगा, इसका अच्छी तरह विचार करके, और कोई निश्चित सिद्धान्त स्थिर करके, उसके अनुसार बर्ताव नहीं किया जाता; किन्तु उस समय माँ-बाप के मन में जो विकार ख़ूब बलवान् होते हैं, चाहे वे भले हों चाहे बुरे, उन्हीं की प्रेरणा से बच्चे के साथ माँ-बाप बर्ताव करते हैं। इसी से जैसे जैसे उनके मनोविकार बदलते जाते हैं वैसे ही वैसे उनके बर्ताव भी हर घड़ी बदलते रहते हैं। अथवा, मनोवृत्तियों की प्रेरणा से किये गये उनके बर्ताव में यदि कोई निश्चित नियम और तरीक़े देख भी पड़ते हैं तो वे वही होते हैं जो परम्परा से, पिता-पितामह आदि से, प्राप्त होते हैं; अथवा लड़कपन में मन पर जो संस्कार हुए होते हैं उनकी याद से पैदा होते हैं; अथवा दाइयों और नौकर-चाकरों से सीखे हुए होते हैं। ये जितनी बातें हैं ज्ञान का परिणाम नहीं, अज्ञान का परिणाम हैं। ये ऐसे तरीक़े हैं जिनका कारण शिक्षा और ज्ञान-प्रकाश नहीं, किन्तु लोगों की तत्कालीन मूर्खता है। आत्मसंयम के विषय में लोगों की राय और उनके बर्ताव में जो अव्यवस्था और गड़बड़ है उसकी आलोचना करते समय जर्मनी का प्रसिद्ध ग्रन्थकार रिचर कहता है:—

३—रिचर साहब कृत नैतिक शिक्षा-सम्बन्धिनी दुरवस्था की आलोचना।

"बहुत से साधारण आदमियों के चित्तों में उत्पन्न होने वाले परस्पर विरोधी विचार यदि मालूम हो जायँ और नैतिक शिक्षा देने के इरादे से लड़कों के पढ़ने और अध्ययन करने के लिए यदि वे एकत्र किये जायँ तो कुछ कुछ इस तरह के होंगे—पहले घंटे में वे कहेंगे कि या तो हम ख़ुद लड़के को विशुद्ध नीति पढ़ावें या अध्यापक से

पढ़ावें; दूसरे घंटे में कहेंगे कि निश्चिन्त नीति, अर्थात् वह नीति जो निज के फ़ायदे की हो—जिससे स्वहित-साधन होता हो—लड़के को पढ़ानी चाहिए; तीसरे घंटे में कहेंगे—'क्या तुम नहीं देखते कि तुम्हारा बाप कौन कौन काम करता है'? अर्थात् जैसा मेरा आचरण है वैसा ही तुम्हारा भी होना चाहिए; चौथे घंटे में कहेंगे—'तुम अच्छे बच्चे हो और यह काम सिर्फ़ बड़े आदमियों के करने लायक हैं'; पांचवें घंटे में कहेंगे—'सबसे बड़ी बात यह है कि संसार में तुम्हारा नाम होना चाहिए और कोई अच्छा राजकीय पद तुम्हें मिलना चाहिए'; छठे घंटे में कहेंगे—'आदमी की योग्यता क्षणभंगुर बातों पर नहीं अवलम्बित रहती, किन्तु चिरस्थायी और शाश्वत बातों पर अवलम्बित रहती है'; सातवें घंटे में कहेंगे—'अनएव तुम पर चाहे जितना अन्याय हो तुम दया मत छोड़ो'; आठवें घंटे में कहेंगे—'परन्तु यदि कोई तुम पर आक्रमण करे तो वीरता से अपनी रक्षा करो'; नवें घंटे में कहेंगे—'वेद शोर मत करो'; दसवें घंटे में कहेंगे—'लड़के को इस तरह चुपचाप न बैठना चाहिए', ग्यारहवें घंटे में कहेंगे—'मां-बाप की तुम जितनी आज्ञा मानते हो उससे अधिक मानना चाहिए', बारहवें घंटे में कहेंगे—'तुम्हें अपने आप को शिक्षित बनाना चाहिए'। लीजिए। बारहों घंटे के ये जुदा जुदा और परस्पर विरोधी उपदेश हो गये। इस तरह बड़ी बड़ी अपने सिद्धान्तों को बदल करके भी लोग उनके एकतत्त्वदर्शन और असारता को छिपाने की कोशिश करते हैं। यह पुरुषों की बात हुई। यह उनकी बात हुई जिनको चार अक्षरों का सौभाग्य प्राप्त है। स्त्रियों की अवस्था और भी अधिक शोचनीय है। इन विषयों में न तो वे पुरुषों ही के सदृश हैं और न उस नक़्क़ाल ही के सदृश जो काग़ज़ के एक बंडल को एक बग़ल के नीचे और दूसरे को दूसरी बग़ल के नीचे दबा कर स्टेज (Stage), अर्थात् रङ्गभूमि, में आता था। इस नक़्क़ाल से जब पूँछा गया कि तुम्हारी दाहनी बग़ल के नीचे क्या है तब उसने उत्तर दिया—"क़ायदे", और जब पूँछा गया कि बाईं बग़ल के नीचे क्या है तब कहा—"मतिरुद्ध क़ायदे"। परन्तु स्त्रियों (यहां पर नम्बर वर्षों की तादादों के हैं) की समझ यदि पूछनी हो तो डनबर मार्टिस से भी अधिक तो विशेष दुर्भिक्ष हो, क्योंकि इस डनबर के दो हाथ थे और हर हाथ में काग़ज़ों का एक एक बंडल था"।

४—जितने सुधार हैं सब धीरे ही धीरे होते हैं।

यह व्यवस्था जल्द नहीं बदल सकती। कितनी ही पीढ़ियों के बाद

शायद इसमें नाम लेने लायक़ कोई फेर-फार हो सके तो हो सके। उसके पहले विशेष सुधार होने की कोई आशा नहीं। राजकीय नियमों की तरह शिक्षा-पद्धति-विषयक अच्छे नियम भी एक दम, बनाये नहीं बनते। क्रम क्रम से, धीरे धीरे, उनकी उन्नति होती है। थोड़े समय में उनकी जो उन्नति होती है वह इतनी कम होती है कि ध्यान में नहीं आती। सच तो यह है कि चाहे जो सुधार हो धीरे धीरे ही होता है; तथापि उसके लिए भी उपायों की योजना ज़रूर करनी पड़ती है। वाद-विवाद और विवेचना करना भी इस तरह के उपायों में से एक उपाय है।

५—लार्ड पामर्स्टन और कवि शयली आदि के मतों से प्रतिकूलता।

इँगलेंड के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री लार्ड पामर्स्टन का सिद्धान्त था कि जितने बच्चे पैदा होते हैं सब नेक होते हैं। पर यह सिद्धान्त हमें स्वीकार नहीं। इस उसूल के हम ख़िलाफ़ हैं। सब बातों का विचार करके हमें तो इसका उलटा सिद्धान्त अधिक पसन्द है। वह यद्यपि विचार और विवेचना के सामने ठहर नहीं सकता, तथापि सचाई से वह बहुत दूर नहीं है। उस में सचाई का अंश अधिक है। कुछ लोगों की राय है कि यदि होशियारी से बच्चों को शिक्षा दी जाय तो वे वैसे ही हो सकते हैं जैसे होने चाहिए। पर यह राय भी हमको क़बूल नहीं। हम इन लोगों के इस कथन से भी सहमत नहीं। हमारी समझ इसकी बिलकुल उलटी है। हमारा तो विश्वास यह है कि उत्तम शिक्षा से—अच्छे प्रबन्ध से—मनुष्य के स्वाभाविक दोष कम हो सकते हैं; पर पूरे तौर से दूर नहीं हो सकते। यह समझना कि सर्वोत्तम शिक्षा-पद्धति के द्वारा बिना विलम्ब के आदर्श आदमी बनाये जा सकते हैं, इँगलेंड के प्रसिद्ध कवि शयली की कल्पना से मेल खाता है। इस कवि ने मानवी स्थिति के विषय में अपने काव्य में लिखा है कि यदि सब लोग अपने पुराने मतों और विवेकहीन आग्रहों को छोड़ दें तो संसार के सारे दुख-क्लेश एक दम ही दूर हो जायँ। परन्तु जिन लोगों ने मनुष्य-स्वभाव का—

मानवी व्यवहारों का—शान्तता से विचार किया है उनको इन दोनों में से एक भी मत पसन्द नहीं आ सकता ।

६—अपनी अपनी उद्योग-सिद्धि के विषय में निःसीम श्रद्धा का होना भी अच्छा है ।

तथापि जो लोग इस तरह की अति-विश्वासपूर्ण आशायें रखते हैं उन की बात का ज़रूर आदर करना चाहिए । उनके साथ सहानुभूति रखना—उनके साथ हमदर्दी ज़ाहिर करना—हमारा कर्तव्य है । किसी विषय में उत्साह दिखलाना, फिर चाहे वह उत्साह पागलपन के दरजे तक क्यों न पहुँच गया हो, बहुत अच्छी बात है । वह एक प्रकार की उत्तेजनापूर्ण शक्ति है । उसी की प्रेरणा से सारे बड़े बड़े काम होते हैं । हमारी समझ में इस शक्ति का होना बहुत ही ज़रूरी है । इसके बिना कोई काम नहीं हो सकता । यदि किसी उत्साही राजनीतिज्ञ मनुष्य को यह विश्वास न होता कि जिस सुधार के लिए वह लड़ रहा है वह बहुत ही ज़रूरी है तो न तो वह उतना परिश्रम ही उठाता और न उतना स्वार्थत्याग ही करता । जो लोग शराब पीने को सारी सामाजिक आपदाओं की जड़ समझते हैं उनकी समझ यदि ऐसी न होती तो वे शराब पीना बन्द करने के लिए कभी इतने उत्साह से खट पट न करते । दूसरे कामों की तरह सार्वजनिक हित के कामों में भी श्रम-विभाग से बड़े बड़े फ़ायदे होते हैं । और, श्रम-विभाग तभी हो सकता है जब सार्वजनिक-हित-चिन्तना करने वालों की प्रत्येक शाखा अपने अपने काम में तन्मय हो जाय । अर्थात् वह उसकी दास हो जाय—उसकी उपयोगिता के विषय में अपनी विलक्षण श्रद्धा दिखलावे । अतएव जो लोग मानसिक और नैतिक शिक्षा को ही सब रोगों की दवा समझते हैं उनकी अनुचित आशाओं को भी हम अनुपयोगी नहीं कह सकते । उनकी भ्रान्ति-मूलक कल्पनायें भी उपयोग से खाली नहीं । अपनी अपनी उद्योग-सिद्धि के विषय में लोगों की श्रद्धा जो सीमित नहीं होती उसे हम जगदीश्वर के उस उपकार का भेद समझते हैं जिसे उसने जगत् पर किया है ।

७—बच्चों की नैतिक शिक्षा के विषय में माँ-बाप की असावधानता।

यदि यह बात सच भी हो कि नीति-विषयक किसी परमोत्तम शिक्षा-पद्धति की सहायता से हम बच्चों को अपने अभीष्ट साँचे में ढाल सकें, और यदि यह पद्धति प्रत्येक माँ-बाप के मन में अच्छी तरह अङ्कित की जा सके, तो भी हम अपने मनोवाञ्छित फल के प्राप्त करने में समर्थ न होंगे। जिन लोगों के ख़याल ऐसे हैं वे इस बात को भूल जाते हैं कि इस तरह की कोई पद्धति व्यवहार में लाना मानो पहले ही से यह क़बूल कर लेना है कि बुद्धिमानी, नेकी और आत्मसंयम आदि गुण, जो किसी में भी नहीं पाये जाते, सब माँ-बापों में हैं। कुटुम्ब-व्यवस्था के विषय में जो लोग विचार करते हैं उनसे बड़ी भारी भूल जो होती है वह यह है कि सारे दोष और सारी कठिनाइयाँ वे सिर्फ़ बच्चों के सिर मढ़ देते हैं, माँ-बाप को वे बिलकुल ही कोरा छोड़ देते हैं। कुटुम्ब-व्यवस्था, और इसी तरह राजकीय व्यवस्था, दोनों के विषय में लोगों की समझ आज कल कुछ ऐसी हो गई है कि व्यवस्था करने वाले गुणों की, और जिन की व्यवस्था की जाती है वे अवगुणों की, खान हैं। अर्थात् शासकों में सब गुण ही गुण हैं और शासितों में सब दोष ही दोष। परन्तु शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्तों का विचार करने से यह सिद्ध होता है कि बात बिलकुल ही उलटी है। बच्चों से माँ-बाप का जैसा सम्बन्ध होना चाहिए वह बदल कर कुछ का कुछ हो गया है। जिन नगर-निवासियों के साथ हम व्यवहार करते हैं और जिन लोगों से हम दुनिया में मिलते जुलते हैं उनमें हम अनेक दोष पाते हैं। हम जानते हैं कि उनमें कितनी ही बातों की कमी है। हम देखते हैं कि प्रति दिन कितनी ही भयानक बातें होती हैं, स्त्रियों में परस्पर कितने ही झगड़े फ़िसाद होते हैं, बातों के उलटे निकलने पर कितने ही नित्य [illegible] छपते हैं, और मुक़द्दमेबाज़ी और [illegible] की रिपोर्टों में कितनी ही यथार्थ बुराइयाँ प्रकट होती हैं। इन सब बातों से हमारे भाइयों के आचरण दोषों की आलोचना, [illegible] और [illegible] का नित्य सा ख़्याल हो जाता है। परन्तु जब हम बच्चों के

परन्तु शिक्षा की आलोचना करते हैं, और उनकी शरारत और बुरी आदतों के विषय में विचार करने बैठते हैं, तब हम इस बात को मान सा लेते हैं कि लड़के और लड़कियों की शिक्षा के सम्बन्ध में वही बड़े बड़े दोषों के दोषी लोग बिलकुल ही निर्दोष हैं। इस तरह की कल्पना—इस तरह की समझ—इतनी भ्रमपूर्ण है कि जिस परन्तु झगड़े फ़िसाद के अधिक अंश का कारण बच्चों की कुटिलता बतलाई जाती है उसका कारण ख़ुद माँ-बाप ही का बुरा बर्ताव है। यह हम दृढ़तापूर्वक कहते हैं और ऐसा कहने में हमें ज़रा भी सङ्कोच नहीं। जो लोग बच्चों से अधिक सहानुभूति रखते हैं और जिनमें आत्मनिग्रह की मात्रा भी कुछ अधिक होती है उनको हम दोषी नहीं ठहराते। हमारा यह कथन उनके विषय में नहीं। और हमें आशा है कि हमारे पाठकों में अनेक लोग ऐसे ही होंगे। हमारा मतलब यहाँ पर साधारण जन-समूह से है। बच्चे को दूध न पीते देख जो माँ क्रोध से लाल होकर हर घड़ी उसे झँझोरती रहती है उससे किस तरह की नैतिक शिक्षा मिलने की आशा की जा सकती है? इसे कल्पना न समझिए। हमने एक माँ को इस तरह करते अपनी आँखों देखा है। खिड़की और चौखट के बीच में उँगली दब जाने पर बच्चे को चोल सुन कर जो बाप पहले उसकी उँगली नहीं छुड़ाता, किन्तु उसे पीटना शुरू करता है वह अपने बच्चे के मन में न्याय-बुद्धि का कहाँ तक विकास कर सकेगा? यह न समझिए कि इस तरह के बाप का होना एक कल्पना मात्र है। नहीं, ऐसे बाप एक आदमी ने अपनी आँखों देखे हैं और हमसे उनका हाल भी बयान किया है। संसार में इससे भी बुरे उदाहरण पाये जाते हैं और उनके भी गवाह मौजूद हैं। लोगों ने उन्हें भी ख़ुद अपनी आँख से देखा है। खेलने कूदने में रान की हड्डी उखर जाने पर बच्चे को घर आया देख जो बाप लात-घूँसे से उसकी ख़बर लेता है उसकी शिक्षा से बच्चे को फ़ायदा पहुँचने की क्या ख़ाक आशा हो सकती है! यह ज़रूर है कि इस तरह के उदाहरण बहुत कम पाये जाते हैं। ये पराकाष्ठा के बुरे उदाहरण हैं। पशुओं में एक प्रकार की स्वाभाविक अन्ध-बुद्धि होती है जिसकी प्रेरणा से वे अपने ही कमज़ोर और पीड़ित बन्धु-बान्धवों का नाश करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। मनुष्यों में जो ऐसे ही

अतएव उसे अपना लोभ कम करके थोड़े मुनाफ़े से माल बेचना पड़ता है। जिस डाक्टर की चाह कम होने लगती है वह अधिक तकलीफ़ उठा कर आप ही आप रोगियों के इलाज की तरफ़ अधिक ध्यान देने लगता है—उन के दवा-पानी का वह पहले से अधिक ख़याल रखने लगता है। जो लेन-देन करने वाला महाजन दूसरों पर बहुत अधिक विश्वास करने लगता है और जो व्यापारी व्यापार में बहुत अधिक रुपया फैला देता है वे दोनों, बिना अच्छी तरह समझे-बूझे जल्दी में काम करने के कारण पैदा हुए विघ्नों से यह सीख जाते हैं कि लेन-देन और बनिज-व्यापार में अधिक ख़बरदारी से काम करने की ज़रूरत है। हर एक नगर-निवासी के जीवन में हमेशा ऐसी ही बातें हुआ करती हैं। कहावत है कि—"जल जाने से बच्चा आग से डरता है", या "दूध का जला छाछ फूँक फूँक कर पीता है"। ये कहावतें लोगों के मुँह से अकसर सुनने में आती हैं और जिन बातों का ज़िक्र यहाँ पर हम कर रहे हैं उनमें अच्छी तरह चिपकती हैं। इनसे सिर्फ़ यही बात नहीं सूचित होती कि बचपन में बच्चों को प्रकृति (ईश्वर) जो शिक्षा देती है उसमें, और सांसारिक काम-काज करने पर प्रौढ़ वय के आदमियों को जो शिक्षा मिलती है उसमें, समानता है। इस बात को तो सब लोग पूरे तौर पर क़बूल करते ही हैं। किन्तु इनसे यह बात भी सूचित होती है कि उनको यह विश्वास भी है कि यही शिक्षा-पद्धति सबसे उत्तम और सबसे अधिक प्रभाव-पूर्ण है। यह न समझिए कि इस विश्वास की सूचना लोगों की उक्तियों से हमेशा ध्वनि से ही निकलती है। नहीं, बहुत से इस बात को साफ़ साफ़ भी कहते हैं। हर आदमी ने लोगों को यह कहते सुना होगा कि अमुक अमुक दुर्व्यसन या बुरी आदत, जिसमें हम पड़े थे, बहुत कुछ हानि उठाने के बाद, हम छोड़ सके। किसी ख़र्चीले और आकाश-पाताल-जैसी कल्पनायें करने वाले की बातों की आलोचना करते समय लोगों के मुँह से हर आदमी ने यह सुना होगा कि उसे राह पर लाने के लिए उपदेश देने और सिखलाने का कुछ भी फल नहीं हुआ। जब तक उसने एक अच्छी ठोकर खाकर अनुभव नहीं प्राप्त किया तब तक वह होश में नहीं आया—तब तक उस पर समझाने बुझाने का कुछ भी असर

नहीं हुआ। अपने किये का फल भोगने ही से उसकी आँखें खुलीं। कृत-कर्म्म के परिज्ञान ही ने दुर्व्यसनों से उसकी रक्षा की। यही नहीं कि स्वाभाविक विप्रतिकार—कृत-कर्म्मों का आपही आप हुआ फल—सबसे अधिक प्रभाव-जनक दण्ड हो। नहीं, मनुष्यों के द्वारा निश्चित किया गया कोई भी दण्ड उसकी बराबरी नहीं कर सकता। यदि इस बात के और भी सबूत दरकार हों तो हम फ़ौजदारी के उन अनेक क़ायदे-क़ानूनों को याद दिलाते हैं जिनका जारी किया जाना प्रायः निष्फल साबित हुआ है—जिनका इष्ट हेतु सिद्ध ही नहीं हुआ। अनेक प्रकार के दण्ड देने के इरादे से आज तक कितने ही पेनल कोड बन चुके हैं—कितने ही फ़ौजदारी क़ानून ज़बरदस्ती जारी हो चुके हैं—पर एक भी क़ानून ऐसा नहीं जिसने उसके पक्षपातियों की आशाओं को पूर्ण किया हो। कृत्रिम दण्डों के योग से कभी सुधार नहीं हुआ: सुधार करने की उनमें शक्ति ही नहीं। उनके कारण कहीं कहीं अपराधों की संख्या बढ़ ज़रूर गई है। निज के तौर पर खोले गये जिन आपराध-शोधक जेलों में प्राकृतिक दण्ड-प्रणाली के अनुसार दण्ड देकर शिक्षा होती है उन्हीं को इससे कामयाबी होती है औरों को नहीं। इन जेलख़ानों में जो क़ैदी रहते हैं उन्हें अपने अपराधों के लिए सिर्फ़ स्वाभाविक दण्ड दिया जाता है। इससे अधिक और कुछ नहीं किया जाता। अपराध करने पर अपराधी की सिर्फ़ इतनी ही स्वतन्त्रता यहाँ छीनी जाती है जितनी से समाज को कष्ट पहुँचने का डर होता है। इस तरह अपराधी की सिर्फ़ आवश्यक स्वतन्त्रता को छीन कर—उनकी स्वतन्त्रता का सिर्फ़ मतलब भर के लिए प्रतिबन्ध करके—जब तक वह क़ैद रहता है तब तक अपनी ही कमाई से अपना पेट पालने के लिए उससे काम लिया जाता है। इससे दो बातें हमें मालूम हुईं। एक तो यह कि जिस शिक्षा के अनुसार छोटे छोटे बच्चों को बाल्यावस्था से उचित बर्ताव करना सिखलाया जाता है उसीके अनुसार बड़े पन में अपराधी आदमियों का एक बहुत बड़ा समूह क़ाबू में रक्खा जा सकता है और उनकी थोड़ी बहुत उन्नति भी की जा सकती है। दूसरी बात यह है कि बड़ी उमर के बुरे से बुरे लोगों के बर्ताव को दुरुस्त करने के लिए आदमियों को

विशेष लाड़-प्यार करने वाला कोई रिश्तेदार बहुत करके उसके लिए दूसरा चाकू मोल ले देगा। उसके ध्यान में यह बात न आवेगी कि ऐसा करने से एक उपयोगी बात सीखने से लड़का वञ्चित रह जाता है। दूसरा चाकू ले देने से एक महत्त्वपूर्ण सबक सीखने का अवसर लड़के के हाथ से जाता रहता है। ऐसे अवसर पर बाप को चाहिए कि वह लड़के को समझा दे कि चाकू मोल लेने में पैसे ख़र्च होते हैं। पैसा कमाने के लिए मेहनत करनी पड़ती है। जो इस तरह बेपरवाही से चाकू तोड़ डालता है या खो देता है उसके लिए मैं बार बार नये चाकू नहीं मोल ले सकता। अतएव जब तक मुझे इस बात का सबूत न मिलेगा कि तुम अपनी चीज़ों को पहले की अपेक्षा अधिक सँभाल कर रक्खोगे तब तक टूटे या खोये हुए चाकू के बदले में नया चाकू नहीं ले दूँगा। फ़िज़ूलख़र्ची रोकने के लिए भी यही तरकीब काम देगी।

२४—कृत्रिम दण्डों की अपेक्षा स्वाभाविक दण्डों से होनेवाले लाभों की स्पष्टता।

जो उदाहरण हमने यहां पर दिये, बहुत सीधे सादे हैं। कोई दिन ऐसा नहीं कि इस तरह के उदाहरण न देख पड़ते हों। इनसे हमारे कहने का मतलब साफ़ तौर पर समझ में आ जायगा, और, लोगों को मालूम हो जायगा कि बनावटी और स्वाभाविक दण्डों में क्या अन्तर है। इनसे यह बात भी स्पष्ट मालूम हो जायगी कि स्वाभाविक दण्डों ही का काफ़ी असर आदमियों पर पड़ता है। यही दण्ड ऐसे हैं जिनसे बच्चों की बुरी आदतें छूट सकती हैं। जिन तत्त्वों का यहां पर हमने उदाहरणपूर्वक निरूपण किया उनके सूक्ष्म और ऊँचे दरजे के प्रयोगों के विषय में अब हम कुछ लिखना चाहते हैं। पर पहले हम इस बात का विचार करना चाहते हैं कि बच्चों की शिक्षा के सम्बन्ध में बहुतेरे कुटुम्बों में जिस तत्त्व, या यों कहिए कि जिस प्रचलित रीति, से काम लिया जाता है उसकी अपेक्षा हमारे निश्चित किये गये तत्त्व के अनुसार शिक्षा देने से कितने अधिक और कितने महत्त्व के लाभ होने की सम्भावना है।

२५—प्राकृतिक रीति से दी गई शिक्षा से पहला लाभ ।

हमारे सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा देने से पहला लाभ यह है कि सब बातों का कार्य्य-कारण-भाव ठीक ठीक लड़कों की समझ में आ जाता है। इस बात का दृढ़ता से बार बार और सुलझुत अभ्यास होते होते कार्य्य-कारण-भाव-विषयक कल्पनायें धीरे धीरे परिपूर्ण और निश्चित हो जाती हैं। सब बातों के बुरे भले परिणाम अच्छी तरह समझ में आ जाने से, संसार में प्रवेश करने पर, मनुष्य के चाल-चलन के जितना अच्छे होने की सम्भावना है उतना सिर्फ़ दूसरों के कहने पर विश्वास कर लेने से नहीं। दूसरे के दिये हुए प्रमाण के अनुसार काम करने की अपेक्षा ख़ुद अपने ही तजरिबे के अनुसार काम करने से मनुष्य के सदाचरणशील होने की अधिक सम्भावना होती है। जिस लड़के को यह बात मालूम हो जाती है कि चीज़ों को इधर उधर फेंकने से उन्हें उठा कर यथास्थान रखना पड़ता है,—या जो ढीलेपन के कारण किसी आनन्द-वर्द्धक बात से वञ्चित रहता है, या बेपरवाही के कारण जिसे किसी बहुत प्यारी वस्तु से हाथ धोना पड़ता है, उसे बहुत तीव्र दुःख ही नहीं होता, किन्तु कार्य्य-कारण-भाव भी उसकी समझ में आ जाता है। ये दोनों बातें बिलकुल वैसी ही हैं जैसी कि प्रौढ़ वय में होती हैं—अर्थात् जैसे प्रौढ़ वय में दुःख आदि होने से उनका कार्य्य-कारण-भाव समझ में आ जाता है वैसे ही बाल्यावस्था में भी आ जाता है। पर ऐसे मौक़ों पर यदि बच्चा सिर्फ़ धमका कर अथवा और कोई अस्वाभाविक दण्ड देकर छोड़ दिया जाता है तो ऐसा दण्ड प्रायः व्यर्थ जाता है। ये दण्ड ऐसे हैं कि बच्चा इनकी बहुधा बहुत ही कम परवा करता है। इससे यही हानि नहीं होती कि बच्चा स्वाभाविक परिणाम भोगने से बच जाता है; किन्तु भले बुरे कामों के स्वरूप के ज्ञान से भी, जो उसे स्वाभाविक दण्ड देने से हो जाता, वञ्चित रहता है। कृत्रिम पुरस्कार और कृत्रिम दण्ड देने का मामूली तरीक़ा दोष-पूर्ण है। समझदार आदमी इस बात को बहुत दिन से जानते हैं। किसी दुराचरण

के स्वाभाविक परिणाम भोगने के बदले कोई और काम कराना या कोई और दण्ड देना उचित नहीं। उससे बुरे नैतिक आदर्श की नींव पड़ती है। उससे बच्चों को इस बात का ज्ञान नहीं होता कि अच्छा बर्ताव किसे कहते हैं—सदाचरण क्या चीज़ है। इस दशा में बचपन से लेकर प्रौढ़ होने तक बच्चे हमेशा यही समझते रहते हैं कि जो काम करने के लिए वे मना किये जाते हैं वह काम करने से सबसे बड़ी बात सिर्फ़ यही होती है कि माँ-बाप या अध्यापक अप्रसन्न हो जाते हैं। इससे बच्चों के मन में यह कल्पना और हो जाती है कि इस तरह के काम और अप्रसन्नता में कार्य्य-कारण-भाव है। अतएव जब माँ-बाप और अध्यापकों का दबाव नहीं रहता और उनके अप्रसन्न होने का डर जाता रहता है तब अनुचित काम करने के विषय की प्रतिबन्धकता भी बहुत कुछ दूर हो जाती है। पर स्वाभाविक दण्डों के रूप में सच्ची प्रतिबन्धकता का भोग भोगना फिर भी बाक़ी रहता है। यह बात दुःखदायक अनुभवों के द्वारा बच्चों को पीछे सीखनी पड़ती है। अदूरदर्शिता से भरी हुई इस नैतिक शिक्षा-प्रणाली का ख़ुद ज्ञान रखनेवाले एक मनुष्य ने, इस विषय में, अपना अनुभव बयान किया है। वह कहता है—"जिन नवयुवकों को मदरसे से फ़ुरसत मिल जाती है—विशेष करके वे लोग जिनके माँ-बाप ने दुष्कृत्य करते देख उन पर दबाव नहीं डाला—वे हर तरह की फ़िज़ूल बातों में सिर के बल डूब जाते हैं। उन्हें विधि-निषेध का ज्ञान ही नहीं रहता। काम करने के नियमों को वे जानते ही नहीं। यह काम क्यों अच्छा है, और वह काम क्यों बुरा है, इसे वे समझते ही नहीं। किसी तत्त्व या सिद्धान्त को सामने रख कर काम करने की रीति से वे प्रायः सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। जब तक सांसारिक जञ्जाल में फँस कर वे ख़ूब सख़्त धक्के नहीं खा लेते तब तक उनके साथ व्यवहार करना बहुत बड़े धोखे और डर का काम है। तब तक ऐसे लोगों को समाज का एक बहुत ही भयङ्कर अङ्ग समझना चाहिए"।

२६—प्राकृतिक शिक्षा से दूसरा लाभ।

इस स्वाभाविक शिक्षा-प्रणाली से एक और भी बड़ा लाभ यह है कि

भी—इस तरह का दण्ड कई दफ़े पाने पर भी—यदि कपड़ों के फाड़ने या मैला करने का क्रम पूर्ववत् जारी रहे तो इस शिक्षा-पद्धति का अवलम्बन करने वाले बाप को चाहिए कि उस समय तक वह नये कपड़े बनवाने में रुपया ख़र्च न करे जब तक कि मामूली तौर पर उनके बनवाने का समय न आ जाय। ऐसा करने से बच्चे को फटे पुराने और मैले कपड़े पहनने पड़ेंगे। इस बीच में यदि छुट्टियों के कारण बाहर घूमने घामने या किसी तिथि-त्यौहार के कारण अपने इष्ट-मित्रों से मिलने के मौक़े आवें, और अच्छे साफ़ सुथरे कपड़े न होने से बच्चा घर के और आदमियों के साथ यदि न जाने पावे, तो इस दण्ड का उसके दिल पर बहुत बड़ा असर होगा और सब बातों का कार्य्य-कारण-भाव भी उसकी समझ में आये बिना न रहेगा। तब उसे यह भी अच्छी तरह मालूम हो जायगा कि यह सारी आपदा मेरी ही बे-परवाही का कारण है। ऐसा होने से उसे कभी यह ख़याल न होगा कि मुझ पर अन्याय हुआ है। परन्तु यदि दिये गये दण्ड और उसके कारण का पारस्परिक सम्बन्ध उसके ध्यान में न आता तो वह कभी न समझता कि मुझ पर अन्याय नहीं हुआ।

२७—प्राकृतिक शिक्षा से तीसरा लाभ।

एक बात यह भी है कि मामूली तरीक़े की अपेक्षा हमारे बतलाये हुए तरीक़े से नैतिक शिक्षा देने से माँ-बाप और सन्तान, दोनों, के चिढ़ पड़ जाने का बहुत कम डर रहता है। बुरे चाल-चलन के स्वाभाविक परिणाम हमेशा दुःखदायक होते हैं। पर उन्हें आगत के बदले यदि माँ-बाप अपने लड़कों को दूसरे ही प्रकार के कृत्रिम दण्ड देते हैं तो उसमें दुहरी हानि होती है। बच्चों के लिए वे एक नहीं, अनेक तरह के नियम बनाते हैं और उन नियमों का पालन कराना अपनी प्रभुता और अधिकार के लिए बहुत ज़रूरी समझते हैं। यदि बच्चे उन नियमों को भङ्ग करते हैं तो माँ-बाप समझते हैं कि हमारी मान-मर्यादा भङ्ग हो गई। अपने बनाये हुए नियमों का उल्लङ्घन होना मानों खुद उन्हीं के प्रतिकूल कोई अपराध करना है इस तरह का समझ के कारण नियमोल्लङ्घन होने पर उन्हें क्रोध आता है।

यह पहली हानि हुई। स्वाभाविक नियम यह है कि अपराधी ही को हानि उठानी चाहिए। परन्तु अपराध करते हैं बच्चे और उस अपराध के कारण जो अधिक श्रम और ख़र्च पड़ता है उसे उठाते हैं माँ-बाप। यह दूसरी हानि हुई। इस तरह की शिक्षा से माँ-बाप की तरह बच्चों को भी दिक़्क़त उठानी पड़ती है। बुरे कामों के जो स्वाभाविक परिणाम बच्चों को भुगतने पड़ते हैं उन परिणामों का पैदा करने वाला—उन दुःखों का देने वाला—देख नहीं पड़ता। वह अदृश्य रहता है। वह यह नहीं कहने आता कि तुमने यह बुरा काम किया, इससे तुमको यह दण्ड मिला। इससे उन्हें जो कष्ट मिलता है वह थोड़ा होता है और थोड़ी ही देर तक रहता है। परन्तु जो दण्ड माँ-बाप देते हैं वह कृत्रिम होता है। और दण्ड देने के बाद माँ-बाप हमेशा बच्चों की नज़र के सामने रहते हैं। बच्चे प्रत्यक्ष देखते हैं कि हमारे दण्डदाता यही हैं। इन्हीं ने जान-बूझ कर हमें दण्ड दिया है। इस बात को सोच कर उन्हें अधिक दुःख होता है और अधिक समय तक रहता है। इसी से बच्चे माँ-बाप से द्वेष करने लगते हैं। अब आप ही सोचिए कि दण्ड देने का यह तरीक़ा यदि बच्चों के लिए बहुत ही छोटी उम्र से काम में लाया जाय तो उसका परिणाम कितना भयङ्कर होगा। यदि यह सम्भव होता कि अज्ञान और अनाड़ीपन के कारण बच्चों के शारीरिक कष्ट ख़ुद माँ-बाप किसी तरह अपने ऊपर ले लेते और उन कष्टों को सहन करके बच्चों को कोई और दण्ड इस लिए देते जिससे उनको यह मालूम हो जाता कि हमने जो बुरा काम किया है उसी का यह परिणाम है तो इस तरीक़े की भयङ्करता ख़ूब अच्छी तरह समझ में आ जाती। उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए कि एक लड़के से यह कहा गया कि आग पर चढ़ी हुई बटलोई को मत छूना। इस बात को न मान कर बच्चे ने बटलोई छुई और खौलता हुआ पानी उसके पैर पर गिर गया। इससे उसके पैर पर आवला पड़ गया। इस आवले को माँ ने किसी तरह अपने पैर पर ले लिया और उसके बदले बच्चे के मुँह पर एक चपत जमाया। अब आपही कहिए, यदि इसी तरह हमेशा दण्ड दिया जाय, तो क्या प्रति-दिन की नई नई आपदायें आज कल की अपेक्षा और भी अधिक क्रोध

और दुःख का कारण न होगी ? इस दशा में क्या माँ-बाप और बच्चे दोनों के स्वभाव और भी अधिक ख़राब न हो जायँगे और क्या उनकी वह बुरी आदत और भी अधिक दिनों तक न बनी रहेगी ? यह एक काल्पनिक उदाहरण है। यदि सचमुच ही इस तरह की घटनायें होने लगें तो माँ-बाप और सन्तति में पारस्परिक द्वेष की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं। तथापि यह बात बहुधा देखी जाती है कि यदि नादानी के कारण बच्चे के शरीर में चोट लग जाती है तो पहले लड़के में माँ-बाप के हाथ से उलटा उसे ही मार खानी पड़ती है। बचपन ही में नहीं, बड़े होने पर भी बच्चों के साथ माँ-बाप बहुधा इसी तरह का बर्ताव करते हैं। अपनी बहन के खिलौने को बेपरवाही से या जान-बूझ कर तोड़ने के कारण जो बाप अपने लड़के को मारता-पीटता है और मार-पीट कर चुकने पर एक नया खिलौना मोल लेने में पैसा ख़र्च करता है वह ठीक उसी तरह का बर्ताव करता है जिस तरह के बर्ताव का हम ज़िक्र कर रहे हैं। खिलौना तोड़ने का अपराधी लड़का है। उसको तो बाप मार-पीट के रूप में बनावटी दण्ड देता है और नया खिलौना मोल लाना जो स्वाभाविक दण्ड है उसे अपने ऊपर लेता है। इसका फल यह होता है कि अपराधी लड़का और निरपराधी बाप, दोनों, व्यर्थ तंग होते हैं—दोनों को कष्ट उठाना पड़ता है। यदि बाप सिर्फ़ लड़के से दूसरा खिलौना लिवा देता तो इतनी द्वेष-बुद्धि—इतनी जी-जलन—कभी न पैदा होती। यदि बाप लड़के से कह देता कि दूसरा खिलौना तुम्हीं को अपना पैसा ख़र्च करके लाना पड़ेगा; अतएव जो जेब-ख़र्च तुमको मिलता है उसमें से खिलौने के दाम काट लिये जायँगे, तो बाप-बेटे में परस्पर द्वेष-बुद्धि की मात्रा बहुत कम हो जाती। इस दशा में दोनों के दिल में विरोध पैदा न होता। इससे एक और फ़ायदा यह भी होता कि जेब-ख़र्च से खिलौने के दाम काटने के कारण जो दण्ड बच्चे को मिलता वह उसे विरोध समझता भी नहीं; क्योंकि उसे इस बात का स्वयं स्वभाव ही ज्ञान होता कि जो दण्ड मुझे मिला वह न्याय्य है। मतलब यह कि स्वाभाविक शिक्षा-पद्धति के द्वारा—स्वाभाविक दण्ड के द्वारा—माँ-बाप और बच्चों में आपस में विरोध का कारण कम हो

रहता है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि इस तरह की रोक-टोक सब प्रकार से न्याय-सङ्गत समझी जाती है। दूसरा यह कि यह रोक-टोक प्रत्यक्ष माँ-बाप के द्वारा न होकर अप्रत्यक्ष प्रकृति के द्वारा होती है। अर्थात् इस तरह का स्वाभाविक दण्ड बहुत करके माँ-बाप के बदले प्रकृति की कुदरती-मात्र वस्तु-स्थिति ही के द्वारा होता है।

२८—प्राकृतिक शिक्षा से चौथा लाभ।

इससे यह नतीजा निकलता है, और नतीजा भी ऐसा कि साफ़ मालूम होता है, कि इस पद्धति के अनुसार व्यवहार करने से माँ-बाप और लड़कों में स्नेह-भाव की वृद्धि होती है। उनका पारस्परिक सम्बन्ध मित्रों का ऐसा हो जाता है। इसी से उनका असर भी अधिक होता है। क्रोध चाहे माँ-बाप को आवे चाहे बच्चे को, चाहे जिस कारण से पैदा हो, और चाहे जिस पर हो, हानि उससे ज़रूर होती है। परन्तु यदि माँ-बाप का क्रोध बच्चे पर या बच्चे का क्रोध माँ-बाप पर होता है तो उससे और भी अधिक हानि होती है; क्योंकि वह उस सहानुभूति को—उस हमदर्दी को—शिथिल कर देता है जो सन्तान को प्रेमपूर्वक अपने क़ाबू में रखने के लिए बहुत ज़रूरी है। मतलब यह कि क्रोध के कारण अन्योन्य-प्रेमबन्धन शिथिल हो जाता है। जो जो चीज़ें हम संसार में देखते हैं उनसे हमारे मन पर कुछ न कुछ संस्कार ज़रूर होता है। आदमी चाहे बुड्ढा हो चाहे जवान, विचार-साहचर्य्य के सिद्धान्तों के अनुसार, उसे उन चीज़ों से ज़रूर घृणा होती है जिनको देख कर उसके दुःख, शोक आदि मनोविकार जागृत हो उठते हैं। अर्थात् जिन चीज़ों के संस्कार-साहचर्य्य से दुःखदायक मनोविकारों का स्वभाव ही से अनुभव होने लगता है वे ज़रूर अप्रिय हो जाती हैं। अथवा जहाँ पहले से प्रेम था वहाँ दुःखदायक मनोविकारों की न्यूनाधिकता के अनुसार वह प्रेम कम हो जाता है या उसकी जगह पर द्वेष पैदा हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि क्रोध आने पर यदि माँ-बाप ने लड़कों को धमकाया झिड़काया या मारा पीटा और ऐसा ही कुछ दिन तक बराबर करते गये तो लड़कों का प्रेम माँ-बाप पर ज़रूर कम हो जाता है। इसी तरह

लड़कों को हमेशा उदासीन और क्रुद्ध देख कर माँ-बाप का भी प्रेम उन पर कम हो जाता है, किम्बहुना कभी कभी बिलकुल ही जाता रहता है। इसी कारण से कितने ही कुटुम्बों में लड़के माँ-बाप से द्वेष करने लगते हैं और यदि द्वेष न भी किया तो प्रेम उनसे ज़रूर ही नहीं करते। यह बात विशेष करके बाप और बेटों में देखी जाती है; क्योंकि दण्ड देने का काम बहुत करके बाप ही के हाथ में रहता है। अनेक कुटुम्बों में लड़के जो बहुधा दण्ड देने की चीज़ या साक्षात् शनैश्चर समझे जाते हैं उसका भी यही कारण है। इससे सब लोगों के ध्यान में यह बात जरूर आ जायगी कि इस तरह का वैमनस्य अच्छी नैतिक शिक्षा का विनाशक है—उसके लिए बहुत अधिक हानिकारी है। अतएव सिद्ध है कि लड़कों से प्रत्यक्ष विरोध न करने का जितना ही अधिक ख़याल माँ-बाप रक्खें उतना ही अच्छा है। कुछ भी हो, उन्हें चाहिए कि लड़कों से विरोध करने का कभी प्रसङ्ग न आने दें। अतएव विरोध और वैमनस्य का प्रसङ्ग न आने देने के लिए स्वाभाविक-परिणाम-भोग-वाली शिक्षा-पद्धति से वे जितना ही अधिक फायदा उठावें, कम है; क्योंकि इस पद्धति का अवलम्ब करने से दण्ड देने का काम प्रत्यक्ष माँ-बाप को नहीं करना पड़ता। इससे माँ-बाप और लड़कों में परस्पर द्वेष-भाव और वैमनस्य भी नहीं उत्पन्न होता।

२६—पूर्वोक्त लाभ-चतुष्टय का सारांश।

यहाँ तक इस विषय में जो कुछ कहा गया उससे मालूम हुआ कि स्वाभाविक-परिणाम-भोग-विषयक शिक्षा-पद्धति ईश्वर के सङ्केतानुसार जैसे शैशव और प्रौढ़ अवस्था में आनन्ददायक है वैसे ही लड़कपन और जवानी में भी आनन्ददायक है। शैशव और प्रौढ़ अवस्था में तो वह आप ही आप जारी रहती है। अतएव लड़कपन और जवानी में भी उसे जारी रखने में कोई हानि नहीं। इस पद्धति को जारी रखने से चार प्रकार के लाभ हैं। यथा—

पहला—इससे भले या बुरे कामों का यथार्थ ज्ञान उन कामों के सुख या असुख परिणामों के प्रत्यक्ष अनुभव से होता है।

दूसरा—बच्चे को अपने बुरे कामों के दुःखदायक परिणामों के सिवा और कुछ भी भोग नहीं करना पड़ता। इससे अपने ऊपर किये गये दण्ड का न्यायसङ्गत होना थोड़ा बहुत ज़रूर उनके ध्यान में आ जाता है।

तीसरा—दण्ड का न्यायसङ्गत होना बच्चे की समझ में आ जाने और यह मालूम हो जाने से कि यह दण्ड प्रत्यक्ष किसी आदमी ने नहीं दिया, किन्तु मेरे ही किये हुए कर्म्म का फल है, उसे बहुत कम क्रोध आता है। अतएव उसका स्वभाव भी नहीं बिगड़ता। इसी तरह अपने हाथ से बच्चे को दण्ड न देकर उसके लिए उनके कृतापराधों का परिणाम चुपचाप भोगने की व्यवस्था कर देने से माँ-बाप के चित्त में भी क्षोभ नहीं उत्पन्न होता।

चौथा—वैमनस्य और क्रोध का कारण दूर हो जाने से माँ-बाप और सन्तान का परस्पर सम्बन्ध पहले से अधिक सुख कर और प्रभावपूर्ण हो जाता है—परस्पर विशेष प्रेमभाव और आदर-बुद्धि की वृद्धि होती है।

२०—बड़े बड़े अपराधों के विषय में कुछ प्रश्न।

कोई कोई शायद कहेंगे—"छोटे छोटे अपराधों का इलाज तो आपने बतलाया; पर लड़के यदि बड़े बड़े अपराध करें तो उसकी क्या दवा है? यदि वे कोई छोटी मोटी चीज़ चुरा लें; या झूठ बोलें; या छोटे भाई या छोटी बहन के साथ बुरी तरह पेश आवें—उनको मारे-पीटें—तो भला आपके बतलाये हुए तरीक़े से किस तरह काम चल सकता है" ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के पहले इनसे सम्बन्ध रखने वाली दो एक प्रत्यक्ष घटनाओं का, उदाहरण के तौर पर, हम विचार करना चाहते हैं।

२१—प्राकृतिक शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं के उदाहरण।

हमारा एक मित्र अपने बहनोई के घर रहता था। उनकी बहन के एक लड़का था, एक लड़की। उनकी शिक्षा का भार उसने अपने ऊपर

लिया था। उसने उनकी शिक्षा का क्रम हमारे बतलाये हुए तरीक़े के अनुसार रक्खा था। इस तरीक़े के अच्छे होने के विषय में उसने विशेष सोच-विचार नहीं किया था। तर्क और विचार-पूर्वक इसकी उपयुक्तता सिद्ध होने पर उसने इसे पसन्द किया था। इसे पसन्द करने का कारण यह था कि इसके साथ उसकी स्वभाव ही से सहानुभूति थी। वह इसे स्वभाव ही से अच्छा समझता था। घर में तो वह इन दोनों बच्चों का शिक्षक बन जाता था और बाहर उनका साथी। जब तक वह घर में रहता था तब तक उनको शिक्षक की तरह पढ़ाता-लिखाता था, पर उनके साथ बाहर निकलने पर वह उनसे मित्रवत् व्यवहार करता था। बच्चे रोज़ उसके साथ घूमने जाया करते थे। कभी कभी वह वनस्पति-शास्त्र-सम्बन्धी बातों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी बाहर जाता था। तब भी ये दोनों बच्चे उसके साथ रहते थे; उसके लिए पौधे ढूँढ़ ढूँढ़ कर लाते थे; और जब वह उन पौधों को देखता-भालता या उनके ओंगन-पत्ते आदि की परीक्षा करता था तब वे सब बातें ध्यान से देखा करते थे। इस तरह, और और भी कई कारणों से उसके साथ रह कर वे आनन्द भी उठाते थे और शिक्षा भी प्राप्त करते थे। बात को और अधिक न बढ़ा कर हम सिर्फ़ इतना ही कहना काफ़ी समझते हैं कि नीति की दृष्टि से वह उनके लिए बाप से भी बढ़ कर था और माँ से भी। अर्थात् जो काम माँ-बाप को करना चाहिए वह काम उनकी अपेक्षा वह अधिक योग्यता से करता था। जिस तरीक़े से वह इन दोनों बच्चों को शिक्षा देता और उनका [illegible] करता था उसका [illegible] एक बार उसने प्रकट किया। [illegible] उसने बयान किया और कई एक [illegible] भी दिये। इन दृष्टान्तों में से एक यह था। एक दिन गाँव का [illegible] [illegible] तकरार हुई। [illegible] मकान के किसी दूसरे कमरे में [illegible]। [illegible] [illegible] कहा कि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] था। इस कारण [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] उसने इनकार किया था [illegible] [illegible] [illegible]—ठीक ठीक याद नहीं, [illegible] उसने [illegible] [illegible]

सख्यभाव को खोकर उसने दुबारा प्राप्त किया था उसे वह पहले से अधिक महत्त्व की चीज़ समझने लगा।

३२--बच्चों के साथ मित्रवत् व्यवहार करने से लाभ।

हमारे इस मित्र के भी अब लड़केवाले हैं। वह अपने बच्चों को भी इसी तरीक़े से शिक्षा देता है। उसे यह बात तजरिबे से मालूम हो गई है कि इस तरीक़े से अच्छी तरह काम निकल सकता है। वह अपने बच्चों के साथ मित्रवत् व्यवहार करता है। उसके बच्चे सायङ्काल की राह देखा करते हैं। उन्हें यही ख़याल रहता है कि कब शाम हो और कब हमारा बाप घर आवे। इतवार की तो कुछ पूछिए ही नहीं। उस दिन तो उन्हें बड़ा ही आनन्द आता है; क्योंकि इतवार को उनका बाप सारा दिन घर पर ही रहता है। मित्रवत् व्यवहार करने के कारण बच्चों का उस पर पूरा पूरा विश्वास जम गया है। वे उसे बहुत प्यार करते हैं। बच्चों को क़ाबू में रखने के लिए उसे सिर्फ़ 'हाँ' या 'नहीं' कहने ही भर की ज़रूरत पड़ती है। बच्चों के किसी काम के विषय में ख़ुशी या नाख़ुशी ज़ाहिर करने ही भर से काम निकल जाता है। मित्रवत् व्यवहार करने के कारण उसमें इतनी काफ़ी शक्ति आ गई है कि जो कुछ वह कहता है उसे बच्चे चुपचाप करते हैं। शाम को घर आने पर यदि उसे मालूम होता है कि किसी लड़के ने शरारत की तो वह उसके साथ उतनी ही उदासीनता से पेश आता है जितनी कि लड़के की शरारत के कारण स्वाभाविक तौर पर उसके मन में उत्पन्न होती है। अर्थात् लड़के की शरारत सुन कर जितनी स्वाभाविक अप्रीति या विरक्ति उसके मन में उत्पन्न होती है उतनी ही वह प्रकट करता है। बस यही सज़ा लड़के के लिए काफ़ी होती है। तजरिबे से उसे यह मालूम हो गया है कि स्वाभाविक अप्रीति या उदासीनता दिखलाने ही से काम हो जाता है—इसी से लड़का शरारत छोड़ देता है। मानो शीघ्र प्यार बन्द कर देने से बच्चों को बहुत तकलीफ़ होती है। इससे उन्हें इतना रंज होता है कि मारने की अपेक्षा भी अधिक देर तक वे रोते हैं। हमारे मित्र का कथन है कि इस नैतिक दण्ड का डर उसका स्मरण

स्थिति में भी बच्चों के दिल से दूर नहीं होता। बाप के घर पर मौजूद न रहने पर भी इस दण्ड का ख़याल बच्चों को बराबर बना रहता है—यहां तक कि दिन में बहुधा वे अपनी मां से पूछा करते हैं कि आज हमने कैसा बर्ताव किया और शाम को बाबा के घर आने पर हमारे बर्ताव के विषय में कैसी रिपोर्ट होगी। हमसे कोई अपराध तो नहीं हुआ? हमारे विषय में कोई बुरी बात तो बाबा से नहीं कही जायगी? हमारे इस मित्र का बड़ा लड़का पांच वर्ष का है। वह स्वभाव ही से बहुत चपल और चंचल है। वह ख़ूब नीरोग और सशक्त भी है। ऐसे लड़कों में पशुवत् उद्दण्डता का व्यवहार करने की आदत होती है। इसी आदत के कारण, अभी हाल में, मां की अनुपस्थिति में, इस लड़के ने कुछ नटखटपन किया। अर्थात् अपने बाप के सिंगारदान से छुरा निकाल कर छोटे भाई के बालों की एक लट उसने काट ली और अपने आप को भी घायल कर लिया। शाम को घर आने पर बाप ने यह सब हक़ीक़त सुनी। इससे न तो वह उस रात को लड़के से बोला और न दूसरे दिन सवेरे ही बोला। उसने लड़के से बिलकुल ही बात न की। बस इतनी ही सज़ा उसने काफ़ी समझी। इसने बरख़ाल अपना काम किया। इससे लड़के को यहां तक दुःख पहुँचा कि कुछ दिन बाद एक रोज़ जब उसकी मां कहीं बाहर जाने लगी तब उसने बड़ी अधीनता से न जाने के लिए उससे विनती की। जब उससे पूछा गया कि क्यों तुमने ऐसा किया तब उसने कहा कि मुझे डर लगा कि मां की अनुपस्थिति में उस दिन की तरह कहीं फिर न मैं कोई वैसा ही काम कर बैठूँ।

३३—प्राकृतिक शिक्षा से माँ-बाप और सन्तति में सख्य भाव की स्थापना।

"यदि लड़के बड़े बड़े अपराध करें तो क्या करना चाहिए"? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले ही हमने ये बातें, भूमिका के तौर पर, इसलिए कहीं जिसमें यह मालूम हो जाय कि मां-बाप और संतान में परस्पर किस तरह का सम्बन्ध हो सकता है और किस तरह का होना चाहिए। इस

सम्बन्ध के होने से बड़े बड़े अपराधों की भी चिकित्सा सफलतापूर्वक हो सकती है। इसी लिए पूर्वोक्त बातें पहले ही कह देने की हमने ज़रूरत समझी। दूसरी प्रस्तावना के तौर पर अब हमें सिर्फ़ इतना ही कहना बाक़ी है कि जिस सम्बन्ध का यहाँ पर हमने ज़िक्र किया वह, हमारी बतलाई हुई शिक्षा-पद्धति के अनुसार बर्ताव करने ही से, उत्पन्न होकर यथावत् बना रह सकता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि सिर्फ़ अपने दुष्कृत्यों के दुःसह परिणाम भोग करने के लिए यदि बच्चा छोड़ दिया जाय तो उससे और माँ-बाप से कभी विरोध न हो। अतएव माँ-बाप के विषय में बच्चे के मन में द्वेष-बुद्धि भी न पैदा हो। माँ-बाप को बच्चे जो शत्रु समझने लगते हैं वह बात न हो। अब सिर्फ़ यह दिखलाना बाक़ी है कि जहाँ हमारी निश्चित की हुई पद्धति के अनुसार शुरू से ही लड़कों के साथ बर्ताव होता है वहाँ माँ-बाप और सन्तान में विशेष रूप से सख्य उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। ज़रूर मित्र-भाव उत्पन्न हो जाता है।

३४—माँ-बाप का बच्चों से परस्पर-विरोधी बर्ताव और उसका परिणाम।

आज कल की दशा ऐसी है कि लड़के माँ-बाप को शत्रु भी समझते हैं और मित्र भी। अर्थात् माँ-बाप के विषय में लड़के एक ही साथ शत्रु-मित्र-भाव दोनों रखते हैं। जिस तरह का बर्ताव माँ-बाप लड़कों के साथ करते हैं उसी तरह का संस्कार लड़कों के चित्त पर होता है। अर्थात् जैसा बर्ताव लड़कों के साथ किया जाता है वैसे ही ख़याल भी उनके हो जाते हैं। और माँ-बाप का बर्ताव भी कैसा होता है। कभी तो बच्चों को लालच दिखाया जाता है; कभी रोक-टोक की जाती है, कभी लाड़-प्यार किया जाता है, कभी धमकी-घुड़की दी जाती है; कभी बहुत नरमी का बर्ताव किया जाता है, कभी मार-पीट से काम लिया जाता है। इसी तरह के परस्पर-विरोधी बर्ताव बच्चों के साथ होते हैं। इन्हीं विरोधी बर्तावों के भूले में बच्चे झूला करते हैं। अतएव माँ-बाप के विषय में बच्चों के ख़याल भी ज़रूर ही परस्पर-विरोधी हो जाते हैं। अर्थात् कभी वे उनको शत्रु समझते हैं और

अपना मित्र । माँ बहुत करके अपने छोटे बच्चे से इतना ही कहना काफ़ी समझती है कि मैं तेरी सब से बढ़ कर मित्र हूँ—मैं तेरा सब से अधिक प्यार करती हूँ । वह यह समझती है कि बच्चों को मेरी बात पर विश्वास करना चाहिए । अतएव इस कल्पना से वह यह नतीजा निकालती है कि जो कुछ मैं कहती हूँ उसे बच्चा ज़रूर सच समझेगा । "यह सब तुम्हारे ही हित के लिए—तुम्हारे ही कल्याण के लिए—है" । "तुम्हारी अपेक्षा मैं इस बात को अधिक समझती हूँ कि कौन काम तुम्हारे लिए अच्छा है" । "तुम अभी बच्चे हो, इसलिए तुम इस बात को नहीं समझ सकते; पर जब तुम बड़े होगे तब जो कुछ मैं कह रही हूँ उसके लिए तुम मेरे कृतज्ञ होगे" । ये और इसी तरह की और भी कितनी ही बातें रोज़ दुहराई तिहराई जाती हैं । परन्तु इधर इस तरह की बातें होती हैं । उधर बच्चे को रोज़ कोई न कोई वास्तविक दण्ड ज़रूर ही भुगतना पड़ता है । यह काम न कर, वह काम न कर, अमुक काम न कर, तमुक काम न कर—इस तरह हर घड़ी वह अपने मन के काम करने से रोका जाता है । "जो कुछ किया जा रहा है सब तुम्हारे ही हित के लिए है"—इस तरह के सिर्फ़ शब्द वह कानों से सुनता है; परन्तु ऐसे शब्दों के साथही साथ जो काम होते हैं उन से उसे थोड़ी बहुत तकलीफ़ मिले बिना बहुधा नहीं रहती । माँ कहती जाती है कि आगे तुम्हें इससे फ़ायदा होगा; इसके कारण आगे तुम्हें सुख मिलेगा । परन्तु माँ का मतलब समझने भर के लिए उस समय बच्चे में बुद्धि नहीं होती । अतएव जो परिणाम उस समय उसे भुगतने पड़ते हैं उन्हीं के आधार पर वह उन कामों के भले या बुरे होने का अनुमान करता है । जब वह देखता है कि ये परिणाम बिलकुल ही सुखकारक नहीं—इन से सुख तो होता नहीं, उलटा दुःख ही होता है—तब "मैं तुम्हारा सब से अधिक प्यार करती हूँ"—माँ की इस बात में उसे शङ्का आने लगती है । वह समझने लगता है कि माँ का यह कहना व्यर्थ है । और क्या यह आशा रखना कि इसके सिवा बच्चा और कुछ समझेगा भूलता नहीं है ? जो बातें बच्चा अपनी आँखों से देख रहा है उन्हीं के अनुकूल क्या वह अपने मन में विचार न करेगा ? जो गवाही उसे मिल रही है—

जो साक्ष्य उसकी आँखों के सामने आ रहा है—उसी के अनुसार क्या वह कोई निर्णय न करना चाहिए? यदि बच्चे की जगह पर उसकी माँ होती, अथवा यह कहिए कि यदि माँ उसी स्थिति को पहुँच जाती जिस स्थिति में बच्चा है, तो उसके भी ख़याल ज़रूर ऐसेही हो जाते। वह भी इसी तरह की तर्कना करती और निश्चय भी ठीक इसी तरह के करती। यदि उसके परिचित आदमियों में से कोई ऐसा होता जो उसकी इच्छाओं का हमेशा विरोध करता, धमकी-घुड़की से हमेशा उसकी ख़बर लेता, और कभी कभी उसे प्रत्यक्ष दण्ड भी देता; पर साथ ही यह भी कहता जाता कि मुझे तुम्हारी भलाई का बहुत ख़याल है—मैं यह सब सिर्फ़ तुम्हारे कल्याण के लिए करता हूँ—तो वह इस तरह के कल्याण-चिन्तन की बहुत ही कम परवा करती। वह समझती कि यह सब बनावट है, और कुछ नहीं। फिर भला किस तरह वह यह आशा रख सकती है कि उसका बच्चा ऐसा ख़याल न करेगा?

३५—प्राकृतिक शिक्षा-पद्धति के हानि-लाभ का प्रदर्शक एक उदाहरण।

अब इस बात पर विचार कीजिए कि यदि हमारी बतलाई हुई शिक्षा-पद्धति दृढ़ता के साथ जारी की जाय तो उससे कैसे कैसे निराले परिणाम दृष्टि-गोचर होंगे। यदि माँ बच्चे को ख़ुद अपने हाथ से सज़ा न देकर उसके साथ मित्रवत व्यवहार करे और समय समय पर उसे इस बात की सूचना देती रहे कि तुम्हें यह काम करना चाहिए, यह न करना चाहिए—इससे तुम्हें अमुक अमुक स्वाभाविक दुःख भोगने पड़ेंगे—तो इससे बच्चे का बहुत हित हो। एक उदाहरण लीजिए। उदाहरण भी हम बहुत सीधा-सादा देते हैं। इससे यह बात अच्छी तरह ध्यान में आ जायगी कि बहुत छोटी उम्र में किस तरह हमारी शिक्षा-पद्धति व्यवहार में लाई जा सकती है। बच्चों को हर एक बात का ज्ञान प्राप्त करने की स्वभाव ही से इच्छा होती है। इसी आदत के कारण वे कभी इस चीज़ को देखते हैं कभी उस चीज़ को; कभी किसी विषय में पूँछ-ताछ करते हैं, कभी किसी विषय

में। संसार में जो अनेक प्रकार के पदार्थ देख पड़ते हैं उनको ध्यान-पूर्वक देख कर और तत्सम्बन्धी जुदा जुदा प्रयोग करके सब बातों को परीक्षा और देख-भाल करने की प्रवृत्ति बच्चों में स्वाभाविक होती है। इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर वे हर विषय की पूँछ-पाँछ और देख-भाल करते हैं। कल्पना कीजिए कि इसी प्रवृत्ति से उत्साहित होकर कोई बच्चा काग़ज़ के टुकड़ों को दीये से जला रहा है और यह देख रहा है कि वे टुकड़े किस तरह जलते हैं। ऐसे मौक़े पर उसकी माँ, जो बहुत ही साधारण समझ रखती है, इस डर से कि कहीं बच्चा अपना हाथ न जला ले या आस-पास की किसी चीज़ में आग न लगा दे, उसे वैसा करने से तत्काल ही रोकती है; और यदि बच्चा उसका कहना नहीं मानता तो काग़ज़ को तुरन्त उस के हाथ से छीन लेती है। पर सौभाग्य से यदि बच्चे की माँ कुछ समझदार है और इस बात को जानती है कि काग़ज़ को जलते देख बच्चे को जो इतनी मौज मालूम होती है वह बहुत ही उपयोगी जिज्ञासा का परिणाम है; और बच्चे की जिज्ञासा में बाधा डालने से जो परिणाम होता है उसे समझने भर को भी यदि उसमें बुद्धि है, तो वह कभी वैसा व्यवहार न करेगी। अर्थात् न तो वह बच्चे को काग़ज़ जलाने ही से रोकेगी और न उसे उसके हाथ से छीन ही लेगी। वह अपने मन में इस तरह कहेगी—"यदि मैं बच्चे को काग़ज़ जलाने से रोकूँगी तो उसके जलाने से जो शिक्षा बच्चे को मिलेगी उससे वह वञ्चित रह जायगा। यह सच है कि काग़ज़ छीन लेने से बच्चा तत्काल जलने से बच जायगा। पर इससे लाभ ही क्या हो सकता है? एक न एक दिन बच्चा ज़रूर ही अपने हाथ को जला लेगा। अतएव उसके जीवन की रक्षा के लिए इस बात की बड़ी ज़रूरत है कि वह आग के गुण-धर्म्म का ज्ञान अवश्य अनुभव के द्वारा प्राप्त करे। कहीं कोई हानि न पहुँचे, इस डर से यदि आज मैं इसे काग़ज़ जलाने से मना करती हूँ तो किसी और मौक़े पर, जब कोई मना करने के लिए इसके पास मौजूद न होगा, यह अवश्य ही काग़ज़ जलावेगा और जिस हानि से मैं इसकी रक्षा करना चाहती हूँ उसे या उससे भी बड़ी हानि अवश्य ही उठावेगा। पर इस समय मैं इसके पास मौजूद हूँ। अतः इसी

समय उसमें काग़ज़ जलाने का तजरिबा कराना चाहिए। क्योंकि यदि इसके किसी अङ्ग पर आग गिर भी जायगी तो मैं इसे अधिक जल जाने से बचा लूँगी। इसके सिवा काग़ज़ जलाने से इसे आनन्द आता है—इसका मनोरञ्जन होता है—इस मनोरञ्जन से किसी और की कोई हानि नहीं। पर इससे इसे आग के गुण-धर्म्म-सम्बन्धी ज्ञान की प्राप्ति ज़रूर है। अतएव इस मनोरञ्जन में बाधा डालने से इसे ज़रूर बुरा लगेगा और मेरी तरफ़ से थोड़ा बहुत द्वेष-भाव इसके मन में ज़रूर पैदा हो जायगा। जिस तकलीफ़ से मैं इसे बचाना चाहती हूँ उसके विषय में यह कुछ नहीं जानता—इसको इस कुछ भी ज्ञान नहीं। अतएव इसकी इच्छा का भङ्ग होने से जो तकलीफ़ इसे होगी उसका असर ज़रूर इसके दिल पर होगा और उस तकलीफ़ का एक मात्र कारण यह मुझे ही समझेगा। जिस दुःख का कुछ भी ख़याल इसे नहीं है—जिसकी अल्प भी कल्पना इसके मन में नहीं है—अतएव इसके लिए जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उससे इसे बचाने का प्रयत्न मैं ऐसे ढंग से करने जाती हूँ जो इसे बहुत दुःखदायक होगा। इस कारण यह अपने मन में समझेगा कि मेरी दुःख देनेवाली यही है। अतएव मेरे लिए सबसे अच्छी बात यह है कि भावी दुर्घटना से मैं इसे सिर्फ़ सावधान करदूँ और बहुत अधिक तकलीफ़ से इसे बचाने के लिए तैयार रहूँ"। इस तरह अपने मन में सोच-विचार करके वह बच्चे से कहती—"इसे ऐसा करोगे तो शायद तुम जल जाओगे"। बच्चे बहुधा इस तरह की शिक्षा नहीं मानते। वे तो कुछ करते होते हैं उसे करते ही जाते हैं। कल्पना कीजिए कि इस बच्चे ने भी अपनी माँ की बात नहीं मानी। फल यह हुआ कि उसका हाथ जल गया। अब विचार कीजिए, इससे नतीजे कौन कौन निकले? पहला नतीजा यह निकला कि जो ज्ञान बच्चे को कभी न कभी होना ही था और जिसकी प्राप्ति बच्चे की रक्षा के लिए जितना ही जल्द हो उतना ही अच्छा, वह ज्ञान आज ही उसे हो गया। दूसरा नतीजा बच्चे को मालूम हो गया कि माँ जो मुझे ऐसा करने से मना करती थी वह मेरा अनिष्ट करने के इरादे से न हो करती थी। इससे बच्चे के मन में यह बात भी आई कि माँ उसकी विशेष शुभचिन्तना करती रहती है। अब यह

भी मालूम हो गया कि माँ की बात पर विश्वास करना चाहिए—वह बड़ी दयालु है। अतएव जिन कारणों से वह माँ का प्यार करता है उनमें, इस घटना से, एक और कारण की वृद्धि हुई। अर्थात् बच्चे के हृदय में अपनी माँ के विषय में अधिक प्रेम-बुद्धि उत्पन्न हो गई।

३६—अधिक भयङ्कर प्रसंगों को छोड़ कर औरों में बच्चों को मन माने काम करने से ज़बरदस्ती न रोकना चाहिए।

कभी कभी ऐसे भी मौक़े आते हैं जब बच्चों के हाथ-पैर टूट जाने या सख़्त चोट लगने का डर रहता है। ऐसे मौक़ों पर बच्चों का ज़रूर प्रतिबन्ध करना चाहिए—उन्हें ज़बरदस्ती रोकना चाहिए। परन्तु इस तरह के मौक़े हमेशा नहीं आया करते; कभी कभी आते हैं। रोज़ तो ऐसे ही मौक़े आते हैं जिनमें बच्चों को थोड़ी बहुत चोट लग जाने या और कोई अल्प हानि पहुँचने का डर रहता है। ऐसे प्रसङ्ग आने पर बच्चों का प्रतिबन्ध करना उचित नहीं। उन्हें भावी चोट या हानि से बचाने की कोई खटपट करना मुनासिब नहीं। उन्हें सिर्फ़ सावधान कर देना चाहिए। उनसे सिर्फ़ यह कह देना चाहिए कि अमुक काम करने से तुम्हें अमुक तकलीफ़ मिलेगी। बस इतनी ही सूचना उनके लिए काफ़ी होगी। इस तरह का व्यवहार करने से, साधारण रीति पर, माँ-बाप से जितनी प्रीति बच्चे रखते हैं उससे बहुत अधिक रक्खेंगे। उनका मातृ-पितृ-प्रेम बहुत अधिक बढ़ जायगा। और और बातों की तरह इन बातों में भी यदि प्राकृतिक परिणामरूपी दण्ड भोगने की रीति काम में लाई जाय, अर्थात् बाहर दौड़ने घूमने और घर में खेल-कूद सम्बन्धी तदबीरें करने में यदि बच्चों का प्रतिबन्ध न किया जाय, तो बहुत लाभ हो। यहाँ पर हमारा मतलब उस दौड़-धूप और खेल-कूद से है जिस में बच्चों के थोड़ी बहुत चोट लगने का डर रहता है। ऐसे मौक़ों पर जितनी चोट लगने या हानि होने की सम्भावना हो उसी की मात्रा के अनुसार कम या अधिक दृढ़ता से यदि उपदेश दिया जाय, अर्थात् जितनी ही अधिक तकलीफ़ पहुँचने का डर हो उतनी ही अधिक सख़्ती से हिदायत की जाय, तो माँ-बाप के विषय में बच्चों के हृदय में अधिक श्रद्धा उत्पन्न हुए

बिना न रहेगी। इस तरह के बर्ताव से माँ-बाप पर बच्चों का विश्वास ज़रूर बढ़ जायगा। उनकी यह भावना अधिकाधिक दृढ़ होती जायगी कि माँ-बाप की आज्ञा के अनुसार बर्ताव करने ही में हमारा कल्याण है। हम ऊपर कह चुके हैं कि इस तरह के व्यवहार से, सन्तान को प्रत्यक्ष दण्ड देने के कारण उनके मन में उत्पन्न हुई विरक्ति या अप्रीति का भाजन होने से माँ-बाप का बचाव होता है। पर जैसा यहाँ पर सिद्ध हुआ, इस तरीके से सिर्फ़ इतना ही लाभ नहीं है। इससे माँ-बाप उस अप्रीति के पात्र होने से भी बच जाते हैं जो यह काम न कर, वह काम न कर, इत्यादि कह कर बार बार बच्चों का प्रतिबन्ध करने से उनके मन में उत्पन्न होती है। यही नहीं, किन्तु जो बातें माँ-बाप और सन्तान में परस्पर झगड़े बखेड़े का कारण होती हैं वही उनमें प्रेम-भाव उत्पन्न करके प्रति दिन उसकी वृद्धि भी करती हैं। आज कल की नैतिक शिक्षा का तरीक़ा यह है कि माँ-बाप मुँह से तो यह ज़ाहिर करते हैं कि वे बच्चों का सबसे अधिक प्यार करते हैं—वे बच्चों के सबसे बढ़ कर मित्र हैं—पर काम उनके ऐसे होते हैं जिनसे बच्चों को इसकी उलटी प्रतीति होती है। उनके कृत्यों से बच्चों के मन में यह भावना हो जाती है कि हमारे माँ-बाप हमसे मित्रवत नहीं किन्तु शत्रुवत व्यवहार करते हैं। परन्तु हमारी निश्चित की हुई शिक्षा-पद्धति का अनुसरण करने से बच्चों को अपने विषय में माँ-बाप की प्रीति का प्रति दिन प्रत्यक्ष अनुभव होता जायगा। इससे बच्चों के हृदय में माँ-बाप के विषय में जितना विश्वास और जितना प्रेम पैदा होगा उतना और किसी तरह से होना सम्भव नहीं।

१०—गुरुतर अपराधों के विषय में नैसर्गिक शिक्षा-पद्धति के प्रयोग का विचार।

इस प्रकार इस बात को सिद्ध करने के बाद कि हमारे बतलाए हुए तरीके को हमेशा काम में लाने से किस तरह माँ-बाप और बच्चों में पारस्परिक प्रेम की वृद्धि होगी, अब हम पूर्वोक्त प्रश्न का विचार करते हैं

कि—"यदि लड़के बड़े बड़े अपराध करें तो हमारी शिक्षा-पद्धति किस तरह काम में लाई जानी चाहिए?"

२८—प्राकृतिक शिक्षा की बदौलत बड़े बड़े अपराधों की संख्या और गुरुता का आपही आप कम हो जाना।

पहले इस बात को याद रखना चाहिए कि जो शिक्षा-पद्धति इस समय प्रचलित है उसकी जगह पर यदि हमारी बतलाई हुई शिक्षा-पद्धति प्रचलित की जायगी तो बच्चों के हाथ से उतने अधिक गुरुतर अपराध न होंगे जितने कि आज कल होते हैं और न उनका गुरुत्व ही उतना अधिक होगा। अर्थात् पहले तो बच्चे बड़े बड़े अपराध बहुत कम करेंगे और जो करेंगे उनका स्वरूप विशेष भयङ्कर न होगा। बहुत से बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध शुरू ही से अच्छा नहीं होता। वे बहुत बुरी तरह रक्खे जाते हैं। इनसे उनका स्वभाव बिगड़ जाता है और वे तुनुक-मिज़ाज हो जाते हैं। बार बार मारे पीटे और धमकाये जाने से बच्चों के मन में भेद भाव पैदा हो जाता है। मां-बाप से वे दूर रहना चाहते हैं। इनसे सहानुभूति कम हो जाती है। अतएव जिन अपराधों का प्रतिबन्ध सहानुभूति के कारण होता है उनका दरवाज़ा खुल जाता है। कुछ अपराध ऐसे हैं जो, मां-बाप और बच्चों में परस्पर सहानुभूति अर्थात् हमदर्दी होने के कारण, बच्चों के हाथ से होते ही नहीं। पर भेद-भाव के कारण जब सहानुभूति नष्ट या कम हो जाती है तब प्रतिबन्धकता न रहने से, वही अपराध बच्चे करने लगते हैं। एक ही कुटुम्ब के लड़के बहुधा एक दूसरे से बुरा बर्ताव करते हैं। यह बुरा बर्ताव बहुत करके उस कठोर बर्ताव का परिणाम होता है जो घर के बड़े बूढ़े या मां-बाप लड़कों के साथ करते हैं। इसका कारण कुछ तो बड़े बूढ़ों का कठोर बर्ताव होता है, अर्थात् जैसा बर्ताव वे लोग बच्चों से करते हैं वैसा ही बर्ताव बच्चे भी अपने हमजोली के लड़कों से करने लगते हैं, और कुछ घरवालों की धमकी, घुड़की और मार-पीट से बच्चों का स्वभाव ख़राब हो जाने के कारण उनमें जो बदला लेने की प्रतिहिंसा-वृत्ति जागृत हो उठती है, उससे वे ऐसा करते हैं। अतएव यह निर्विवाद है

कि हमारी बतलाई हुई शिक्षा-प्रणाली के प्रचार से यदि परस्पर अधिक प्रेम-भाव और सुख-साधन की प्रवृत्ति बच्चों के हृदय में उदित हो उठेगी तो वे एक दूसरे के प्रतिकूल बहुत कम अपराध करेंगे और यदि करेंगे भी तो अपराधों की गुरुता उतनी अधिक न होगी। चोरी करना और झूठ बोलना इत्यादि अपराध विशेष निंद्य हैं। ऐसे अपराध भी कम हो जायँगे। जिन कारणों से बच्चों का स्वभाव सुधर जायगा उन्हीं कारणों से इस तरह के गुरुतर और निंद्य अपराधों की संख्या भी घट जायगी। घरेलू झगड़े बखेड़े ही ऐसे अपराधों की जड़ होते हैं—माँ-बाप और सन्तान के पारस्परिक भेद-भाव ही को इनका बीज समझना चाहिए। मनुष्य के स्वभाव से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का यह एक प्रधान नियम है कि जिन लोगों को ऊँचे दरजे का सुख नहीं मिलता वे नीचे दरजे के सुख की तरफ़ झुक पड़ते हैं। जो लोग सांसारिक बातों को ध्यान-पूर्वक देखते हैं उनकी दृष्टि में यह नियम आये बिना नहीं रहता। उनके ध्यान में यह बात ज़रूर आ जाती है। एक दूसरे के सुख-दुःख में शामिल होने, अर्थात् परस्पर सहानुभूति रखने, से जो आनन्द मिलता है वह ऊँचे दर्जे का आनन्द है। जिन लोगों को यह आनन्द नहीं प्राप्त होता वे विवश होकर स्वार्थ-साधन से प्राप्त होनेवाले नीचे दरजे के आनन्द की तरफ़ झुक जाते हैं। अतएव माँ-बाप और सन्तान में यदि अन्योन्य-सुखसाधन की वाञ्छा जागृत रहेगी तो स्वार्थ-साधन की इच्छा से उत्पन्न होने वाले अपराधों की संख्या ज़रूर कम हो जायगी।

३६—बड़े बड़े अपराध होने पर भी प्राकृतिक परिणाम भोगवाली नीति के व्यवहार की ज़रूरत।

तथापि यदि ऐसे अपराध हों, और शिक्षा-पद्धति चाहे जितनी अच्छी हो इस तरह के अपराध थोड़े बहुत ज़रूर ही होंगे, तो उनके लिए भी प्राकृतिक परिणाम भोगवाली युक्ति काम में लाना चाहिए। जिस विश्वास और प्रेम-बन्धन का वर्णन ऊपर किया गया वह यदि माँ-बाप और सन्तान के परस्पर विद्यमान है तो इस युक्ति से कामयाबी हुए बिना न रहेगी।

वह ज़रूर कारगर होगी। जितने प्राकृतिक परिणाम हैं, उदाहरण के लिए चोरी के, सब दो तरह के होते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष परिणाम वे कहलाते हैं जो विशुद्ध न्याय पर अवलम्बित रहते हैं, अर्थात् जिनको हम केवल न्याय के आधार पर स्थिर पाते हैं। उदाहरण के लिए चोरी की चीज़ उसके मालिक को लौटा देना प्रत्यक्ष परिणाम है। क्योंकि जो चीज़ जिसकी है उसे उसको लौटा देना ही सच्चा न्याय है। जो राजा सच्चा न्यायी है वह बुरे काम का प्रायश्चित्त अच्छे काम के द्वारा कराता है। यदि किसी ने कोई असत् काम किया तो उससे सत् काम करा कर पूर्व पाप का चालन किये जाने की वह आज्ञा देता है। हर एक मां-बाप को इसी तरह का सच्चा न्यायी बनने की कोशिश करना चाहिए और सन्तान के साथ खरे न्याय का वर्ताव रखना चाहिए। यदि बच्चे किसी की चीज़ चुरालें तो या तो वह चीज़ उसके मालिक को वापस करवा कर या, यदि वह ख़र्च हो गई है तो, उसका बदला दिलवा कर, मां-बाप को बच्चों से चोरी के असत्कर्म्म का प्रायश्चित्त कराना उचित है। यदि चीज़ के बदले उसकी क़ीमत देनी पड़े तो वह बच्चों के जेब-ख़र्च से दिलवाई जाय। चोरी का परोक्ष परिणाम मां-बाप की विशेष नाराज़गी है। यह परिणाम अधिक संगीन है। जो लोग इतने सभ्य और समझदार हैं कि चोरी को पाप समझते हैं उनमें इस परिणाम का अस्तित्व ज़रूर पाया जाता है। बच्चों को चोरी करने का अपराधी पाकर वे ज़रूर नाराज़ होते हैं—ज़रूर अप्रसन्नता और असन्तोष प्रकट करते हैं। परन्तु, यहां पर, यह आक्षेप किया जा सकता है कि मां-बाप अपनी अप्रसन्नता आज कल भी तो धमकी घुड़की देकर या मार-पीट करके प्रकट करते हैं। यह तो एक साधारण सी बात है। इसमें कोई नवीनता नहीं। फिर आप की और वर्तमान पद्धति में भेद ही क्या रहा? बहुत ठीक है। हम मानते हैं कि इसमें कोई नयापन नहीं। हम पहले ही क़बूल कर चुके हैं कि किसी किसी बात में हमारी बतलाई हुई पद्धति का अनुसरण आप ही आप होजाता है। हम यह भी दिखला चुके हैं कि इस समय जितनी शिक्षा-पद्धतियां जारी हैं सब का स्वाभाविक झुकाव सच्ची शिक्षा-पद्धति ही की तरफ़ है। हम एक

दफ़े पहले कह आये हैं, तथापि यहाँ पर हम अपने कहे को दोहराते हैं, कि यदि माँ-बाप और सन्तान का बर्ताव परस्पर प्रीति-पूर्ण हो—यदि हमेशा मेहरबानी से काम लिया जाय—तो इस प्राकृतिक परिणाम की कठोरता ज़रूरत के अनुसार थोड़ी या बहुत होगी। अथवा यों कहिए कि उसकी कोमलता या कठोरता मनुष्यों के समाज-विशेष की स्थिति के अनुसार होगी। समाज की अवस्था हमेशा देश-काल के अनुसार होती है। जिस समय जिस समाज के आदमी असभ्य और अशिक्षित होते हैं उस समय उस समाज के बच्चे भी वैसे ही होते हैं। अतएव ऐसे समय के माँ-बाप की अप्रसन्नता का स्वरूप भी अधिक उद्दण्ड होगा। पर जिन समाजों की स्थिति कुछ अच्छी है—जिन्होंने अपनी उन्नति कर ली है—अर्थात् जो औरों की अपेक्षा अधिक सभ्य और शिक्षित हैं उनकी सन्तति भी वैसी ही होगी। अतएव इस तरह के समाज में माँ-बाप की अप्रसन्नता का स्वरूप उतना उग्र न होगा। क्योंकि स्थिति उन्नत होने के कारण बच्चों के लिए कोमलता का बर्ताव ही काफ़ी होगा; सख़्ती करने की ज़रूरत ही न पड़ेगी। यहाँ पर हमें एक विशेष बात पर ध्यान देने की ज़रूरत है। वह बात यह है कि माँ-बाप और सन्तान में परस्पर प्रेम की मात्रा जितनी होगी उसी के गौरव-लाघव के अनुसार बड़े बड़े अपराधों के कारण पैदा हुए माँ-बाप के क्रोध की मात्रा कम या ज़ियादा होगी और तदनुसार ही इस तरह के अपराधों को घटाने में वह प्रेम कम या ज़ियादा उपयोगी होगा। जिस परिमाण में प्राकृतिक परिणाम-सम्बन्धिनी शिक्षा का उपयोग और और विषयों में किया जाता है उसी परिमाण में उसका उपयोग इस विषय में भी करने से ज़रूर कार्य्य-सिद्धि होगी। इस बात की सचाई का तजरिबा हर आदमी कर सकता है। संसार की तरफ़ आँख उठा कर सिर्फ़ एक नज़र देखने ही से इसका सबूत मिल जायगा।

४०—प्राकृतिक-परिणाम-भोगवाली शिक्षा-पद्धति की छोटे बड़े सब अपराधों के लिए उपयोगिता।

जब कोई किसी का अपमान करता है तब अपमान करने वाले को

दुःख होता है। यह दुःख उसे उतना ही कम या ज़ियादह होता है जितना कम या ज़ियादह प्रेम उसका उस अपमान किये गये आदमी पर होता है। यदि प्रेम कम है तो दुःख भी कम होता है और यदि प्रेम ज़ियादह है तो दुःख भी ज़ियादह होता है। प्रेम से हमारा मतलब सहानुभूति, अर्थात् हमदर्दी, से है। दुःख-विषयक यह बात इतनी साधारण है कि इसे कौन नहीं जानता ? हां, ऐसे विषयों में यदि किसी तरह के सांसारिक हानि-लाभ का लगाव हो तो बात दूसरी है। इनको छोड़ कर और सब विषयों में दुःख की मात्रा हमेशा प्रेम की मात्रा के अनुसार ही हुआ करती है। कौन नहीं जानता कि अपमान किया गया आदमी यदि अपना शत्रु है तो उसके अपमान को देख कर दुःख के बदले मन ही मन उलटा एक प्रकार का आनन्द होता है ? किसे मालूम नहीं कि यदि कोई अपरिचित आदमी अप्रसन्न हो जाता है तो उसकी अप्रसन्नता की हम विशेष परवा नहीं करते; परन्तु यदि कोई ऐसा आदमी अप्रसन्न हो जाता है जिससे हमारी ख़ूब जान पहचान है तो उसकी अप्रसन्नता का हमें बहुत ख़याल होता है ? इसी तरह यदि हमारा कोई ऐसा मित्र हम से नाराज़ हो जाता है जिसे हम आदर की दृष्टि से देखते हैं और जिस पर हमारा विशेष प्रेम है तो क्या हम उसकी नाराज़गी को अपना बहुत बड़ा दुर्भाग्य नहीं समझते और चिरकाल तक पश्चात्ताप करते नहीं बैठते ? अतएव सन्तान पर मां-बाप की अप्रसन्नता का उतना ही थोड़ा या बहुत असर होता है जितना कि उनमें परस्पर थोड़ा या बहुत प्रीति-पूर्ण सम्बन्ध पहले से होता है। अर्थात् जैसा सम्बन्ध होता है वैसा ही असर भी पड़ता है। जब मां-बाप और सन्तान में परस्पर भेद-भाव या वैमनस्य होता है तब अपराधी लड़के को सिर्फ़ इतना ही डर लगता है कि अब मुझ पर मार पड़ेगी। उसे सिर्फ़ अपना ही ख़याल रहता है, और किसी का नहीं। मार खा चुकने पर यह ख़याल तो जाता रहता है, पर मां-बाप के विषय में भिन्न-भाव और विद्वेष पैदा हो जाता है। इससे, पहले का वैमनस्य और भी बढ़ जाता है। परन्तु इसके प्रतिकूल यदि मां-बाप अपने बच्चों के साथ स्नेह-शील मित्र की तरह बर्ताव रखते हैं तो बच्चों का प्रेम उन पर यहां तक दृढ़ हो जाता है कि

कोई कसूर या शरारत करके माँ-बाप को अप्रसन्न करना उन्हें बरदाश्त ही नहीं होता। अतएव फिर वैसा काम न करने के लिए वे बहुत ख़बरदारी रखते हैं। यही नहीं, किन्तु यह अप्रसन्नता इतनी हितकर है कि इस के कारण बच्चों के चित्त पर और भी अच्छे अच्छे असर पड़ते हैं। "जिसे मैं इतना प्यार करता हूँ और जो मेरे साथ इतना अच्छा बर्ताव रखता है उसी स्नेह-शील पिता की सहानुभूति से मैं इतनी देर के लिए वञ्चित हो गया"—इस तरह अपने मन में सोच कर पुत्र को जो मानसिक दुःख होता है वह उस शारीरिक दुःख की जगह पर है जो उसे बहुधा मार-पीट कर दिया जाता है। यह मानसिक दुःख यदि मार-पीट कर पहुँचाये गये दुःख से अधिक नहीं तो उसके बराबर ज़रूर ही कारगर होता है। इसके सिवा शारीरिक दण्ड देने से बच्चों में प्रतिहिंसा और भयवर्द्धक बुद्धि विकसित हो उठती है। उनके जी में डर समा जाता है और बदला लेने की भी प्रवृत्ति उनमें जागृत हो जाती है। परन्तु दूसरी रीति, अर्थात् मानसिक दण्ड से, माँ-बाप को दुखी देख बच्चे भी दुखी होते हैं, उन्हें दुःख पहुँचाने के कारण वे सच्चे दिल से अफ़सोस करते हैं और यह अभिलाषा रखते हैं कि किसी न किसी तरह हम में फिर पूर्ववत् प्रेम पैदा हो जाय। दुनिया में जितने अपराध—जितने जुर्म—होते हैं सबका आदि कारण स्वार्थपरता की प्रबलता है। जब मनुष्य की यह वासना बहुत प्रबल हो उठती है कि सबसे अधिक सुख हमी को मिले तभी मनुष्य अनेक प्रकार के अनुचित काम करता है। परन्तु हमारी शिक्षा-पद्धति के अवलम्बन से बच्चों के दिल में इस तरह की वासना—इस तरह की स्वार्थबुद्धि—नहीं पैदा होती। उसकी प्रेरणा से बच्चों में परोपकार और परहिताचरण की वासना प्रबल हो उठती है; अतएव उससे दूसरों को क्लेश पहुँचाने वाले अपराधों की रुकावट हो जाती है। सारांश यह कि प्राकृतिक-परिणाम-भोगवाली शिक्षा-पद्धति छोटे बड़े सब तरह के अपराधों के विषय में काम दे सकती है। उसका व्यवहार करने से अपराधों की सिर्फ़ संख्या ही नहीं कम हो जाती, किन्तु धीरे धीरे उनका सर्वतोभाव से नाश हो जाता है—उनका समूल निर्मूलन हो जाता है।

६१—शिक्षा में कठोर दण्ड देने से लाभ के बदले हानि।

बहुत विस्तार कौन करे, सच तो यह है कि सख़्ती से सख़्ती और नरमी से नरमी पैदा होती है। द्वेष से द्वेष उत्पन्न होता है और प्रीति से प्रीति। जिन बच्चों के साथ निष्ठुरता का बर्ताव किया जाता है वे निष्ठुर हो जाते हैं। पर जिनसे यथेष्ट सहानुभूति रक्खी जाती है उनमें सहानुभूति उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। प्रेमपूर्ण बर्ताव करने से बच्चों में भी प्रेम का ज़रूर उदय होता है। राजकीय व्यवस्था की तरह कुटुम्ब-व्यवस्था में भी अत्यन्त कठोर नियम यद्यपि अपराधों को बन्द करने ही के लिए बनाये जाते हैं, तथापि बहुत से अपराध उन्हीं के कारण होते हैं। परन्तु, प्रतिकूल इसके, सौम्य और उदार नियम लड़ाई झगड़े की बहुत सी बातों को पैदा ही नहीं होने देते। वे मनुष्य के मनोविकारों को इतना शान्त और सौम्य कर देते हैं कि औरों का अपराध करके उन्हें दुःख पहुँचाने की मनुष्यों की प्रवृत्ति बहुत कम हो जाती है। सर जॉन लॉक नामक प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता को यह कहे बहुत दिन हुए कि—"बच्चों को पढ़ाने लिखाने में बहुत कठोर दण्ड देने से ज़रा लाभ नहीं; हाँ उलटी हानि ज़रूर है। मुझे विश्वास है कि जिन लड़कों ने बचपन में अधिक मार खाई है वे, बड़े होने पर, बिना किसी विशेष कारण के, बहुत करके सर्वोत्तम नहीं निकले"। इस बात की पुष्टि में हम, यहाँ पर प्लेटनविली जेल के सरकारी पादरी राबर्ट्स साहब की, अभी हाल में दी हुई, सम्मति प्रकट करना ज़रूरी समझते हैं। उन्होंने अपना निज का तजरिबा सर्वसाधारण में इस तरह बयान किया है कि जिन अपराधियों ने लड़कपन में बेंत खाये हैं वही बहुत करके बार बार जेल की हवा खाने आया करते हैं। विपरीत इसके प्रेमपूर्ण व्यवहार करने से बच्चों पर बहुत ही अच्छा असर पड़ता है। अभी थोड़े ही दिन हुए, पेरिस में हम एक फ़रासीसी मेम के मकान पर ठहरे थे। उस मेम ने इस विषय का एक उत्तम उदाहरण हमें सुनाया। उसके एक छोटा लड़का था। वह बहुत ही शरीर और नटखट था। वह रोज़ ऊधम मचाया करता था।

५४—यह शिक्षा-पद्धति माँ-बाप और सन्तान दोनों के लिए मङ्गलजनक है।

इस विषय में कि शिक्षा कैसी होनी चाहिए, जो कुछ हमने यहाँ पर कहा उसमें किसी किसी को सन्देह होगा। कोई कोई उसकी सत्यता में शङ्का करेंगे। अतएव उसके अनुसार बर्ताव करने के लिए उन्हें उत्साह भी न होगा। परन्तु जिस शिक्षा-प्रणाली का हमने वर्णन किया वह सबसे ऊँचे दरजे की है—वह शिक्षा का सर्वोच्च नमूना है। इससे, हम समझते हैं, कि कुछ आदमियों को ज़रूर इसकी सत्यता के विषय में सन्देह न होगा। अतएव वे इसको स्वीकार करने में भी आगा पीछा न करेंगे। जो लोग चञ्चल-वृत्ति, निर्दय और अदूरदर्शी हैं उनकी समझ में हमारी शिक्षा-प्रणाली की यथार्थता नहीं आ सकती। उसे समझने के लिए मनुष्य-स्वभाव-सम्बन्धी उच्च कोटि के गुणों की ज़रूरत है। अर्थात् जिनकी बुद्धि और सारासार-विचार-शक्ति ख़ूब विकसित है वही इस बात को समझ सकेंगे। अतएव समझदार आदमियों को हमारी शिक्षा-पद्धति में इस बात का सबूत मिलेगा कि जो जन-समाज विशेष उन्नत और विशेष शिक्षित अवस्था को पहुँच गया है सिर्फ़ उसी के लिए यह पद्धति उपयोगी है। इसके अनुसार शिक्षा देने में यद्यपि बहुत श्रम पड़ता है। और स्वार्थ-त्याग भी करना पड़ता है; तथापि उसके बदले, जल्द या देरी से, कभी न कभी, विशेष सुख-प्राप्ति होती है। अर्थात् इस शिक्षा का परिणाम अवश्य सुखकर होता है। समझदार आदमियों के ध्यान में यह बात भी आ जायगी कि बुरी शिक्षा-पद्धति से माता-पिता और सन्तान दोनों को हानि पहुँचती है। अतएव उससे दुहरा अनिष्ट होता है। परन्तु अच्छी शिक्षा-पद्धति से दुहरा इष्ट-साधन होता है। क्योंकि उसकी कृपा से शिक्षा पानेवाले और शिक्षा देनेवाले दोनों का कल्याण होता है।

अपने अपने मालिक की गाय, भैंस इत्यादि के विषय में बात-चीत करके यह ज़ाहिर करते हैं कि वे उन्हें किस तरह रखते हैं और उनके रखने के तरीक़े से क्या हानि अथवा क्या लाभ है। यही नहीं कि सिर्फ़ देहाती ही श्वानशाला, गोशाला, अस्तबल, और गाय, बैल, भेड़, बकरी इत्यादि के बाड़े के विषय की बात-चीत को पसन्द करते हैं; किन्तु शहरों में अनेक प्रकार के व्यवसाय करने वाले कारीगर जो कुत्ते पालते हैं, अमीर आदमियों के नवयुवक लड़के जिन्हें कभी कभी शिकार खेलने का शौक़ होता है, अधिक उम्र वाले उनके बड़े बूढ़े जो कृषि की उन्नति के विषय में बात-चीत करते हैं, या जो म्यकी साहब की वार्षिक रिपोर्टें और टाइम्स नाम के समाचारपत्र में छपी हुई कोई साहब की चिट्ठियां पढ़ते हैं उनकी भी आदत इस तरह की बातें करने की होती है। इन सब नगर-निवासियों को मिला लेने से इस तरह के आदमियों की संख्या और भी बढ़ जाती है। यदि देश के सभी बालिग़ आदमी हिसाब में लिये जायँ तो मालूम होगा कि उनमें अधिकांश आदमी जानवरों की वंश-वृद्धि करने, या उन्हें पालने, या उन्हें सधाने और सिखलाने में से किसी न किसी बात का शौक़ ज़रूर रखते हैं।

२—अपने बच्चों के खाने पीने आदि की देख-भाल करना प्रायः लोग पुरुषत्व में बट्टा लगाना समझते हैं।

जानवरों के पालने पोसने इत्यादि के विषय में तो इतनी बात-चीत और इतनी आलोचना होती है, परन्तु भोजन हो चुकने अथवा और ऐसे ही मौक़ों पर, गपशप करते समय, क्या कभी किसी ने आदमी के बच्चों के पालने पोसने के विषय में भी वार्तालाप होते सुना है? देहाती सज्जन प्रति दिन सवेरे ख़ुद ही अपने अस्तबल की तरफ़ जाते हैं और ख़ुद ही इस बात को देखते हैं कि घोड़ों के खिलाने पिलाने और उनके औषध-पानी का ठीक ठीक प्रबन्ध है या नहीं। इसके बाद अपनी गाय, भैंस और बकरी आदि की देख-भाल करके उनको अच्छी तरह रखने के विषय में भी वे ख़ुद ही नौकर-चाकरों से ताक़ीद करते हैं; पर उनसे कोई पूछे कि क्यों साहब! यह सब तो

आप करते हैं, परन्तु जहाँ आपके लड़के रहते हैं वहाँ जाकर भी क्या कभी आप इस बात की देख-भाल करते हैं कि कब और किस तरह का खाना उन्हें मिलता है, उनके रहने का कमरा कैसा है और उसमें साफ़ हवा आने का भी मार्ग है या नहीं ? कभी नहीं। ऐसे लोगों के पुस्तकालय की आलमारियों में ह्वाइट, स्टिफेन्स और निमरोद की बनाई हुई अश्वचिकित्सा, खेती और शिकार-विषयक दो एक पुस्तकें शायद ज़रूर मिलेंगी और बहुत सम्भव है कि उनमें लिखी हुई बातों से इन लोगों का थोड़ा बहुत परिचय भी हो। परन्तु शैशव और कौमार अवस्था के लड़कों के पालन-पोषण और रक्षण आदि के विषय की कितनी पुस्तकों से इन लोगों का परिचय रहता है ? एक से भी नहीं। खली खाने से पशु खूब मोटे ताज़े हो जाते हैं। सूखी घास और भूसे के गुणों में क्या अन्तर है ? एक ही प्रकार का बहुत अधिक चारा खिलाने से क्या हानि होती है ? ये ऐसी बातें हैं कि इन्हें प्रत्येक ज़मींदार, प्रत्येक किसान और प्रत्येक देहाती आदमी थोड़ा बहुत ज़रूर जानता है। परन्तु उनमें फ़ी सदी कितने आदमी इस बात को पूछ पाछ करते हैं कि जो खाना वे अपने लड़कों और लड़कियों को खिलाते हैं वह, उनकी बाढ़ के ख़याल से, उनकी शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करता है या नहीं ? यह बात कितने आदमियों को मालूम रहती है कि जैसे जैसे उनके बच्चे बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे उनको किस तरह का खाना खिलाने की ज़रूरत है ? लोग शायद यह कहेंगे कि इस तरह के आदमियों को अपने काम-धन्धे ही से छुट्टी नहीं मिलती, लड़कों के खाने पीने इत्यादि की बातों का वे कैसे विचार कर सकते हैं ? पर यह कारण सत्य और युक्तिसंगत नहीं; क्योंकि और लोगों का भी तो यही हाल है। जो लोग इस तरह के काम-धन्धे में नहीं लगे रहते वही कहाँ इन बातों का विचार करते हैं। दाना, घास खा चुकने के बाद घोड़े को तुरन्त ही न जोतना चाहिए—यह एक ऐसी बात है कि इसे बीस नगरनिवासियों में से, यदि न जानते होंगे तो, दो ही एक न जानते होंगे। पर यदि यह मान लीजिए कि इन बीस आदमियों में सभी के लड़के बाले हैं तो इनमें से शायद एक भी आदमी आपको ऐसा न मिलेगा जिसने इस बात का विचार किया हो कि उसके बच्चों के खाना खा

चुकने के बाद फिर पाठ शुरू करने तक जो समय उन्हें मिलता है वह काफ़ी है या नहीं। सच तो यह है कि यदि जिरह की जाय—यदि टेढ़े-मेढ़े प्रश्न पूछे जायँ—तो यह मालूम होगा कि प्रायः हर आदमी अपने मन में यही समझता है कि बच्चों के खिलाने पिलाने और उनके आराम-तकलीफ़ का ख़याल रखना उसका काम नहीं। शायद वह यह जवाब देगा कि—"अजी, ये काम मैंने स्त्रियों को सौंप रक्खे हैं"। और बहुत करके उसके जवाब देने के तरीक़े से सुनने वाले को यह भासित होगा कि ऐसे कामों की देख-भाल रखना पुरुषों के योग्य काम नहीं। वह स्त्रियों ही का काम है। पुरुषों को ऐसे काम करना मानों अपने पुरुषत्व में बट्टा लगाना है।

३—जानवरों के पालन-पोषण में बेहद चाव और अपने बाल-बच्चों के पालन-पोषण में बेहद बेपरवाही।

कितने आश्चर्य की बात है कि अच्छे और बलवान बैल पैदा करने की फ़िक्र में तो पढ़े लिखे आदमी प्रसन्नता-पूर्वक न मालूम कितना समय ख़र्च करते हैं और न मालूम कितना मन लगाते हैं, पर मनुष्य के समान उच्च श्रेणी के प्राणी को, पालन-पोषण और रक्षण करके, सफल बनाने का काम वे अपने योग्य ही नहीं समझते। ऐसी समझ रखना सब लोगों की आदत हो गई है। इसी से ऐसी दुरवस्था देख कर भी लोगों को आश्चर्य नहीं होता; किसी बुरी चाल के चल जाने से आश्चर्य न मालूम होना और बात है; पर इस तरह की अव्यवस्था है ज़रूर आश्चर्य-कारक। माताओं को साधारण तौर पर भाषा का ज्ञान, गाना-बजाना और सभ्यतानुकूल व्यवहार करना छोड़ कर और कुछ बहुत ही कम सिखलाया जाता है। रहीं दाइयाँ, सो उनकी समझ सबसे अधिक बेढंगी होती है।—वे सिर पैर की पुरानी बातें कूट कूट कर उनके मग़ज़ में भरी रहती हैं। ऐसी ही दाइयों की मदद से ये मातायें बच्चों के खाने-पीने, कपड़े-लत्ते, और घुमाने-फिराने इत्यादि का प्रबन्ध करने के योग्य समझी जाती हैं। इधर इस तरह की अयोग्य मातायें और दाइयाँ बच्चों के पालन-पोषण का गुरुतर भार उठाती हैं, उधर बाप समाचार-पत्र, मासिक पुस्तकें और अनेक प्रकार की किताबें पढ़ा करते हैं,

घोड़े-सम्बन्धी समाचार-पत्रों में छपते हैं, तरह तरह के तजरिबे करते हैं, और अनेक प्रकार के वाद विवाद करके अपना मग़ज़ ख़ाली करते हैं। यह सब इस लिए कि कोई ऐसा तरीक़ा उन्हें मालूम हो जाय जिससे उनके पशु ख़ूब मोटे हो जायँ और किसी प्रदर्शिनी से उन्हें इनाम मिले। इस मूर्खता का कहीं ठिकाना है! हम रोज़ अपनी आँखों से देखते हैं कि डरबी की घुड़-दौड़ में बाज़ी मारने के इरादे से एक अच्छा घोड़ा तैयार करने के लिए लोग जी जान लड़ा कर परिश्रम करते हैं और न जाने कितनी तकलीफ़ उठाते हैं। पर वर्तमान समय के योग्य एक अच्छा पहलवान तैयार करने की तरफ़ कोई ज़रा भी ध्यान नहीं देता। अँगरेज़-ग्रन्थकार स्विफ़्ट ने "गलिवर की यात्रा" नामक एक विचित्र पुस्तक लिखी है। यदि उसमें लपुटा नामक द्वीप के निवासियों के विषय में गलिवर यह लिखता कि वे और जानवरों के बच्चों को सबसे उत्तम रीति से पालने की तरकीब सोचने में तो एक दूसरे से बढ़ा ऊपरी करते हैं; पर इस बात की वे बिलकुल ही परवा नहीं करते कि अपने निज के बच्चों के पालने की सबसे अच्छी तरकीब कौन है, तो जो कितनी ही और बे सिर पैर की बेहूदा बातें उसने वहाँ पर लिखी हैं उन्हीं में यह भी खप जाती—और ख़ूब खपती।

४—जीवन-निर्वाह के कामों में मेहनत बढ़ती जाती है। उसे सह सकने के लिए सुदृढ़ शरीर की ज़रूरत।

पर यह बात योंही उड़ा देने की नहीं है। यह बड़े महत्त्व की है। जो काल्पनिक मुक़ाबला हमने यहाँ पर किया—जो विपरीत-भाव हमने यहाँ पर दिखलाया—उसे सुन कर हँसी आये बिना न रहेगी। पर उसका परिणाम कम भयङ्कर न समझिए। एक मार्मिक ग्रन्थकार लिखता है कि सांसारिक कामों में कामयाबी प्राप्त करने के लिए सबसे पहली शर्त यह है कि—"शरीर ख़ूब दृढ़ होना चाहिए"। इसी तरह देश के अभ्युदय के लिए देश-वासियों के शरीर का सुदृढ़ और बलवान् होना भी पहली शर्त है। सिर्फ़ लड़ाई का परिणाम ही बहुत करके सिपाहियों की शरीर-सम्पत्ति और वीरता पर अवलम्बित नहीं रहता; किन्तु [illegible] [illegible]

नये नये सुधार करने में तन्मय हो जाते हैं। पर उसके बाद ऐसा समय आता है कि पुरानी ही बातों का लोग बेतरह पक्षपात करने लगते हैं। इसी तरह सुधार के बाद प्राचीन-पद्धति-प्रीति का उदय होता है और प्राचीन-पद्धति-प्रीति के बाद सुधार का। इसी प्रवृत्ति के कारण कभी लोग विषयोपभोग में लीन हो जाते हैं और कभी सारे विषयों से विरक्त होकर तपस्वी बन जाते हैं। व्यापार में भी इसी प्रवृत्ति के कारण कभी किसी चीज़ का व्यवसाय बेहद बढ़ जाता है और कभी बेहद घट जाता है। इसी तरह घटती के बाद बढ़ती और बढ़ती के बाद घटती लगी रहती है। शौक़ीन आदमियों की चाल-ढाल में भी इसका उदाहरण मिलता है। इस तरह के आदमी कभी एक प्रकार के बेहूदा फ़ैशन के दास बन जाते हैं; कभी उसे छोड़ कर उसके विरोधी फ़ैशन के पीछे पागल बन बैठते हैं। इस चढ़ा-उतरी के क्रम ने हम लोगों के खाने-पीने की रीति-रस्म तक का पीछा नहीं छोड़ा। यह वहाँ भी पाया जाता है। बच्चों के खाने-पीने में भी इसका प्रभाव अटल है। जब बड़े आदमियों की भोजन-व्यवस्था में इस विरोधी क्रम का प्राबल्य देखा जाता है तब बच्चों की भोजन-व्यवस्था में भला क्यों न देखा जाय? कुछ दिन पहले वह समय था जब लोग खाने-पीने ही में मग्न रहते थे—पेट-पूजा ही को सब कुछ समझते थे। पर अब सदन-शीलता का समय आया है। अब लोग मादक चीज़ों के पीने और कम खाने को बहुत बुरा समझते हैं। इससे सूचित होता है कि खाने पीने की पहली अघोर-पंथी रीति के वे बहुत शिकार हैं। बड़े आदमियों की भोजन-व्यवस्था में हुए इस फेर-फार के साथ ही बच्चों की भोजन-व्यवस्था में भी फेर-फार हो गया है। किसी समय लोगों का यह विश्वास था कि बच्चों को जितना ही अधिक खिलाया पिलाया जाय उतना ही अच्छा। खेती-बारी करने वाले किसानों का अब भी यही विश्वास है। यही नहीं, किन्तु दूर दूर के शहरों में, जहाँ पुरानी चाल का संस्कार अभी आदमियों के दिल से दूर नहीं हुआ, और शहर में भी ऐसे कितने ही मिल सकते हैं जो अपने बच्चों को ठूँस ठूँस कर खिलाने का आग्रह किया करते हैं। परन्तु पढ़े लिखे शिक्षित आदमियों का विश्वास ऐसा नहीं। वे

अल्पाहार ही को अच्छा समझते हैं। उनकी प्रवृत्ति विशेष करके उसी की तरफ़ है। वे अपने लड़कों को अधिक खिलाने की अपेक्षा थोड़ा खिलाने की कोशिश करते हैं। पुराने ज़माने में जो लोग आकण्ठ भोजन करने ही को सब कुछ समझते थे उनसे आज कल के शिक्षित आदमी घृणा करते हैं। उनकी यह घृणा अपने बाल-बच्चों की मिताहार-व्यवस्था के विषय में विशेष स्पष्टतापूर्वक देख पड़ती है; पर ख़ुद अपनी आहार-व्यवस्था में उतनी स्पष्टतापूर्वक नहीं देख पड़ती। अर्थात् लड़कों को स्वल्पाहारी बनाने का उन्हें विशेष ख़याल रहता है, अपना नहीं। इसका कारण यह है कि उनकी निज की स्वल्पाहार-विषयक तापस-वृत्ति का ढोंग चल नहीं सकता। ख़ूब भूक लगने पर डट कर खाये बिना उनसे नहीं रहा जाता। उनका ढोंग रक्खा ही रहता है। पर लड़कों के लिए स्वल्पाहार के नियम बनाने में निज-सम्बन्धिनी कोई बाधा तो आती ही नहीं। इससे उस विषय में वे अपनी इस ढोंगी तापसवृत्ति से ख़ूब काम लेते हैं।

८—अधिक खा जाने की अपेक्षा भूखे रहना विशेष हानिकारी है।

कम खाना भी बुरा है और अधिक खा जाना भी बुरा है। यह बात सर्वथा सच है और सबको मालूम भी है। पर भूखे रहना, अधिक खाजाने से भी बुरा है। एक बहुत प्रामाणिक ग्रन्थकार लिखता है कि—"कभी कभी अधिक खा जाने से कम हानि होती है और उस हानि को दूर करने के उपाय भी सहज ही में हो सकते हैं। पर भूखे रखने के परिणाम बहुत भयंकर होते हैं और उनसे बचने के लिए प्रयत्न भी बहुत बड़े बड़े करने पड़ते हैं"। इसके सिवा एक बात यह भी है कि यदि बच्चों के खाने पीने में कोई अनुचित हस्ताक्षेप नहीं करता तो बच्चे शायद ही कभी खब डट कर खाते हैं। "गले तक खाजाने की भूल विशेष करके बड़े आदमियों ही से होती है, बच्चों से नहीं। यह दोष बड़ों ही में पाया जाता है, बच्चों में बहुत कम। बच्चों के पालक यदि इस विषय में भूल न करें, और जबरदस्ती लड़कों को ज़ियादह न खिला पिला दें, तो वे कभी शायद ही खाऊ और

पीने में उत्तम पथदर्शक है। और सबके विषय में क्षुधा को कसौटी विश्वसनीय समझी जाकर यदि सिर्फ़ बच्चों ही के विषय में अविश्वसनीय समझी जाय तो निःसन्देह आश्चर्य्य की बात होगी। भूख भर खाने से कभी हानि नहीं हो सकती।

१०—खाने पीने में बच्चों की रोक टोक करने से हानियाँ।

सम्भव है, कोई कोई इस उत्तर को पढ़ कर अधीर हो उठेंगे—उनकी चित्तवृत्ति क्षुब्ध हो उठेगी। वे समझते होंगे कि जो कुछ हमने यहाँ पर कहा उसके बिलकुल ही प्रतिकूल उदाहरण वे दे सकते हैं—ऐसे उदाहरण जिनके ख़िलाफ़ हम कुछ कही नहीं सकते। और यदि हम कहें कि उनकी बातें प्रकृत विषय से कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं तो एक तरह का बेहूदापन होगा। परन्तु यह एक प्रकार का असत्याभास मात्र है। जो बात हमने कही है वह ऊपर से देखने में तो ठीक नहीं मालूम होती, पर अच्छी तरह विचार करने से उसके ठीक होने में कोई शंका नहीं रह जाती। सच तो यह है कि अधिक खा जाने से पैदा हुई बुराइयों के जो उदाहरण इन लोगों के मन में होंगे वे बहुत करके उसी रोक टोक के नतीजे होंगे जिसे वे ठीक समझते हैं। वे समझते हैं कि लड़कों को अधिक खाने पीने न देना चाहिए—यदि वे बहुत खाना चाहें तो उन्हें रोकना चाहिए। पर उनकी समझ में यह बात नहीं आती कि अधिक खा जाना यथेच्छ भोजन न करने देने ही का नतीजा है। रोक टोक करके बच्चों से तापस वृत्ति धारण कराने ही से उनके मनोभावों में विपर्य्यय हो जाता है और मौक़ा मिलते ही वे इतना खा जाते हैं कि हज़म नहीं कर सकते। लोग बहुधा कहा करते हैं कि जिन लड़कों के साथ बचपन में सख़्ती का बर्ताव किया जाता है वे बड़े होने पर (बे-लगाम के घोड़े की तरह) बहुत ही उद्दण्ड आचरण करने लगते हैं और परिमिताचार से कोसों दूर जा पड़ते हैं। यह बात बहुत ठीक है। इसकी यथार्थता ऊपर के उदाहरण से, थोड़े ही में, सिद्ध है। ये उदाहरण उन भयंकर घटनाओं की तरह के हैं जो रोमन कैथलिक सम्प्रदाय वाले क्रिश्चियन लोगों

के मठों में, किसी समय, अधिकता से होती थीं। वहाँ कठोर तापसवृत्ति से छूट कर जन्म-जोगिनी स्त्रियाँ एकदम ही महा-घोर पैशाचिक कर्म्मों में प्रवृत्त हो जाया करती थीं। इन उदाहरणों से सिर्फ़ यह प्रकट होता है कि वासनाओं को बहुत दिनों तक दाब रखने से, मौक़ा पाते ही, वे बेतरह उच्छृङ्खल होकर क़ाबू के बाहर हो जाती हैं। विचार कीजिए कि किन चीज़ों को बच्चे अधिक चाहते हैं और उन चीज़ों के विषय में उनसे किस तरह का बर्ताव किया जाता है। मीठी चीज़ें बच्चों को विशेष अच्छी लगती हैं। प्रायः सभी बच्चों में यह बात पाई जाती है। शायद ही कोई बच्चा ऐसा हो जिसे मिठाई पसन्द न हो। पर सौ में से निन्नानवे आदमी यह समझते हैं कि यह सिर्फ़ चटोरपन है, और कुछ नहीं। अतएव इन्द्रियजन्य दूसरी वासनाओं की तरह इसे भी रोकना चाहिए। परन्तु प्राणिशास्त्र के ज्ञाता को इसमें शङ्का होती है। लड़कों के मिठाई अधिक पसन्द करने का कारण सर्वसाधारण जैसा समझते हैं वैसा समझने में उसे संकोच होता है। वह अपने मन में कहता है कि चटोरपन के सिवा इसका ज़रूर और कोई कारण होगा। क्योंकि प्राणि-विद्या-विषयक बातों के अभ्यास से जो नये आविष्कार होते रहते हैं उससे सृष्टि-क्रम के सम्बन्ध में उसका प्रेम प्रति दिन बढ़ता ही जाता है। इस कारण वह इस बात की जांच करता है। जांच से उसे मालूम हो जाता है कि मेरा तर्क सच्चा है। बच्चे मिठाई को जो पसन्द करते हैं, इसका कारण चटोरपन नहीं है। जांच करने से उसे इस बात का पता लगता है कि जीवन व्यापार अच्छी तरह चलने के लिए बच्चों के शरीर को मिठास की बड़ी ज़रूरत रहती है। जिन चीज़ों में मिठास होता है और जिनसे चरबी पैदा होती है वे शरीर में जाकर आक्साइड नाम का पदार्थ बन जाती हैं। इससे शरीर में उष्णता पैदा होती है। कुछ और भी चीज़ें ऐसी हैं जो रूपान्तर होने पर शक्कर हो जाती हैं और उष्णता पैदा करती हैं। इस तरह शरीर के भीतर गई हुई चीज़ों का शक्कर में रूपान्तर होना बराबर जारी रहता है। पाचन-क्रिया के समय निशास्ता अर्थात् अन्न का पिष्ट अंश ही शक्कर नहीं बन जाता; किन्तु क्लाड बरनार्ड नाम के फरासीसी विद्वान् ने इस बात को सप्रमाण सिद्ध कर दिखाया है कि यकृत

कारखाने में ख़ुराक के अन्यान्य अंश भी शकर बन जाते हैं। शरीर के लिए शकर की इतनी ज़रूरत है कि जब और कोई पदार्थ नहीं मिलते तब नाइट्रोजन वाले पदार्थों से ही यकृत को शकर बनानी पड़ती है। अच्छा, तो शरीर में उष्णता उत्पन्न करनेवाली मीठी चीज़ें लड़के बहुत पसंद करते हैं। पर आक्साइड बनते समय जिनसे बहुत अधिक उष्णता बाहर निकलती है उन्हें, अर्थात् चर्बी बढ़ानेवाली चीज़ों को, वे बहुधा बिलकुल ही नहीं पसन्द करते। इन बातों का विचार करने से यह तात्पर्य निकलता है कि चर्बी बढ़ानेवाली चीज़ों के कम खाने से उष्णता में जो कमी आ जाती है उसे लड़के मीठी चीज़ें अधिक खाकर पूरी कर लेते हैं। अतएव सिद्ध है कि लड़कों के शरीर के लिए शकर की ज़ियादह ज़रूरत रहती है; क्योंकि चर्बी पैदा करने वाली चीज़ें लड़के कम खाते हैं। इसके सिवा लड़कों को तरकारियां बहुत अच्छी लगती हैं। फल तो उनको प्राणों से भी अधिक प्यारे मालूम होते हैं। उन्हें पाने पर लड़कों की ख़ुशी का ठिकाना नहीं रहता। यदि उन्हें अच्छे फल नहीं मिलते तो वे झरबेरी के कच्चे बेर और खट्टे से खट्टे करोंदे या जंगली सेब खा जाते हैं। तरकारियों और फलों में जो खटाई रहती है वह वैसी ही पौष्टिक होती है जैसी कि खनिज पदार्थों की खटाई पौष्टिक होती है—पौष्टिक ही नहीं, किन्तु यह कहना चाहिए कि अत्यन्त पौष्टिक होती है। ये पदार्थ यदि बहुत अधिक न खा लिये जायँ तो शरीर को विशेष लाभ पहुँचाते हैं। एक बात और भी है कि यदि ये पदार्थ अपनी प्राकृतिक स्थिति में—अर्थात् जिस हालत में ये पैदा होते हैं उसी हालत में—खाये जायँ तो इनके खाने से और भी कितने ही लाभ होते हैं। डाक्टर ऐंड्रू कोम्बा कहते हैं कि—"इंगलैंड की अपेक्षा योरप में और सब कहीं पके फल अधिक खाये जाते हैं। विशेष करके जब पेट साफ़ नहीं रहता तब फलों से बहुधा बहुत अधिक लाभ होता है"। अच्छा तो अब यह देखिए कि बच्चों की स्वाभाविक प्रवृत्ति और उनके साथ पालन-पोषण-सम्बन्धी जो व्यवहार किया जाता है उसमें कितना भेद है। बच्चों को दो चीज़ें अच्छी लगती हैं—जिन दो तरह के पदार्थों का वर्णन यहां पर किया गया उन्हें वे बहुत पसन्द करते हैं।

इससे बहुत करके यह प्रकट होता है कि उनको शरीर-रक्षा के लिए किन चीज़ों की ज़रूरत होती है। पर यही नहीं कि ये चीज़ें बच्चों के खाने पीने में नहीं आतीं; किन्तु बहुधा लोग इनका खाना ही बन्द कर देते हैं। उनके मारे बच्चे इन्हें खाने ही नहीं पाते। सवेरे दूध और रोटी; और शाम को चाय, रोटी और मक्खन, या इसी तरह का और कोई फीका खाना बच्चों को दिया जाता है और इस बात की सख़्ती की जाती है कि इनके सिवा और कोई चीज़ उन्हें खाने को न मिले। लोग यह समझते हैं कि बच्चों को स्वादिष्ट भोजन देना—उनकी रुचि के अनुसार उन्हें चीज़ें खिलाना—ज़रूरी बात नहीं। इतना ही नहीं, किन्तु बच्चों की रुचि के अनुसार खाना खिलाना वे बुरा समझते हैं। अब देखिए, इस तरह की रुचि का परिणाम क्या होता है? जब तिथि-त्योहार के दिनों में अच्छी अच्छी चीजें घर में अधिकता से होती हैं, जब जेब-खर्च मिलने पर हलवाइयों की दुकान तक बच्चों की पहुँच हो जाती है, या घूमते घामते जब किसी फलदार बाग़ में बिना किसी रोक टोक के उनका प्रवेश हो जाता है, तब पुरानी कसर सब एक दम निकल जाती है। तब बहुत दिन की अपूर्ण इच्छायें ख़ूब उत्फुल्ल हो उठती हैं और मनमानी चीज़ें गले तक खाकर बच्चे उन्हें तृप्त करते हैं। कुछ तो इस तरह की अच्छी अच्छी चीज़ें खाने के पिछले प्रतिबन्ध के कारण, और कुछ यह समझ कर कि कल से अब फिर बहुत दिनों तक फ़ाक़ा करना है, बच्चे वृकोदर का ऐसा व्यवहार करते हैं—खाने के सिवा उन्हें और कुछ सूझता ही नहीं। और जब इस बेहिसाब खाने की खराबियां देख पड़ने लगती हैं तब लोग यह कहना शुरू करते हैं कि खाने पीने की ज़िम्मेदारी बच्चों पर ही न छोड़नी चाहिए—उन्हें जो चीज़ जितनी मन में आवे न खाने देना चाहिए; क्षुधा बच्चों की विश्वसनीय पथदर्शक नहीं। अस्वाभाविक रोक टोक के कारण जो ये ऐसे दुःखदायक परिणाम होते हैं उन्हीं को उदाहरण मान कर लोग इस बात को साबित करते हैं कि अभी और रोक टोक की ज़रूरत है। इसी से हम कहते हैं कि रोक टोक के इस तरीके को सच्चा साबित करने के लिए जो कारण बतलाया जाता है—जो दलील पेश की जाती है—वह बिलकुल ही पोच है। इसी से हम और देख

कता हो कितनी" ? यदि कोई यह जानने की इच्छा रखता हो कि मनुष्य की सम्मति पर कितना कम, और परम्परा से प्राप्त हुई वस्तु-स्थिति पर कितना अधिक, विश्वास करना चाहिए तो उसे अनुभवहीन वैद्यों के उलटे उपचारों का मुक़ाबला अनुभव-शील वैद्यों के खूब सावधानता-पूर्वक किये गये उपचारों से करना चाहिए। अथवा उसे चाहिए कि वह इँगलैंड के प्रसिद्ध डाक्टर सर जान फार्ब्स की "रोगों के दूर करने में प्रकृति और चिकित्सा-शास्त्र की उपयोगिता" नामक पुस्तक पढ़े। इससे उसे मालूम हो जायगा कि मनुष्यों को जैसे जैसे जीवन-सम्बन्धी नियमों का अधिकाधिक ज्ञान होता जाता है वैसे ही वैसे उन्हें अपनी राय—अपनी समझ—पर कम और प्रकृति, वस्तु-स्थिति या सृष्टि-क्रम पर अधिक विश्वास होता जाता है।

१२—बच्चों को हलका और अपौष्टिक भोजन देने की तरफ़ लोगों की प्रवृत्ति के कारण।

बच्चों को कितना खाना खिलाया जाता है—उनके भोजन का परिमाण कितना होता है, इसका विचार हो चुका। अब हम इस बात का विचार करना चाहते हैं कि किस प्रकार का भोजन बच्चों को दिया जाता है—कौन कौन सी चीज़ें उन्हें खाने को मिलती हैं। इस बात के विचार में भी हम, लोगों की तबियत को एक ही तरफ़ झुका हुआ पाते हैं। वे समझते हैं कि बच्चों का भोजन परिमित हो न हो, किन्तु हलका भी हो। यथेष्ट पेट भर बच्चे पेट भर खाने को न पावें, फिर जो कुछ पावें वह पौष्टिक न हो। बच्चों के लिए लोग यही हितकर समझते हैं। आज कल लोगों की राय यह हो रही है कि बच्चों को पौष्टिक भोजन (मांस) बहुत कम देना चाहिए। ऐसा पड़ता है, मध्यम स्थिति के लोगों ने [illegible] के ख़याल से यह राय क़ायम की है। क्योंकि मन में किसी इच्छा के पैदा होने के बाद उस [illegible] के मानने की इच्छा होती है। अथवा यों कहना चाहिए कि इच्छा ही [illegible] उत्पादक [illegible] है। मध्यम स्थिति के लोगों में माँ-बाप अधिक [illegible]

बच्चों के मेदे के लिए मांस उपयुक्त ख़ूराक नहीं है। सम्भव है, बच्चे मांस को अच्छी तरह न हज़म कर सकें। परन्तु यह एतराज़ उस मांस के विषय में नहीं किया जा सकता जिसके रेशे निकाल डाले गये हैं; और न उन बच्चों ही के विषय में किया जा सकता जिनकी उम्र दो तीन वर्ष की हो चुकी है। इतनी उम्र के बच्चों के स्नायु बहुत कुछ मज़बूत हो जाते हैं। इससे उनके मेदे की कमज़ोरी पहले की अपेक्षा बहुत कम हो जाती है। अतएव सर्व-साधारण के इस आग्रहपूर्ण मत की पोषक जो बातें कही जाती हैं वे सिर्फ़ बहुत ही छोटे बच्चों के विषय में ठीक हैं। सो भी पूरे तौर से नहीं। बड़े लड़कों के विषय में तो वे बिलकुल ही ठीक नहीं। परन्तु उनके साथ भी छोटे बच्चों ही का ऐसा बर्ताव किया जाता है। पौष्टिक भोजन के सम्बन्ध में छोटे बड़े सब उम्र के लड़के बहुधा एक ही लाठी से हाँके जाते हैं। यह तो इस मत के पक्ष की बात हुई। परन्तु जब हम इसके विपक्ष की बातों का विचार करते हैं तब अनेक सबल और निश्चित कारण हमें इसके प्रतिकूल मिलते हैं। विज्ञान इस सार्वजनिक आग्रह के बिलकुल ही ख़िलाफ़ है। वैज्ञानिक रीति से विचार-पूर्वक निश्चित किये गये सिद्धान्त इस मत के पूर्ण विरोधी हैं। हमने दो प्रसिद्ध डाक्टरों और प्राणिधर्म्मशास्त्र के कितने ही नामी नामी विद्वानों से इस विषय में प्रश्न किया। उन्होंने एकवाक्य होकर निश्चित रूप से यह मत स्थिर किया कि बड़े आदमियों को जैसा अन्न दिया जाता है उससे कम पौष्टिक अन्न बच्चों को न देना चाहिए। किम्बहुना, यदि हो सके, तो बच्चों को बड़े आदमियों से अधिक पौष्टिक अन्न देना उचित है।

१४—बड़े आदमियों की अपेक्षा बच्चों को ख़ूराक की अधिक ज़रूरत रहती है।

जिस आधार पर यह निर्णय किया गया है बिलकुल ही साफ़ है और इसको सिद्ध भी बहुत ही मोटी मोटी दलीलों से की जा सकती है। इसके लिए बड़े आदमी की जीवन-क्रिया की तुलना सिर्फ़ लड़के की जीवन-क्रिया से करने की ज़रूरत है। इससे मालूम हो जायगा कि वयस्क आदमी की अपेक्षा लड़के को पौष्टिक पदार्थ खाने की अधिक ज़रूरत रहती है।

अधिक परिमाण में हज़म करना पड़ता है, उन्हें कम पौष्टिक भोजन और भी अधिक परिमाण में देकर उनके मेंदे के लिए उसे हज़म करने का काम और भी कठिन कर देना चाहिए ?

१६–बच्चों को पौष्टिक, पर जल्द हज़म होनेवाला, खाना खिलाना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर सहज ही में दिया जा सकता है। हज़म करने में जितनी ही कम मेहनत पड़ती है, शरीर को बढ़ाने और दूसरे शारीरिक व्यापार चलाने के लिए शक्ति की उतनी ही अधिक बचत होती है। स्नायु-सम्बन्धिनी शक्ति और रुधिर के अधिक खर्च हुए बिना मेंदे और अँतड़ियों के काम अच्छी तरह नहीं चल सकते। खूब डट कर भोजन करने के बाद शरीर में जो एक प्रकार की शिथिलता आ जाती है उससे बड़ी उम्र के हर एक सज्ञान आदमी को मालूम होना चाहिए कि उस समय स्नायु-सम्बन्धिनी शक्ति और रुधिर की भरती शरीर के और अवयवों में कम होकर—उन्हें हानि पहुँचा कर—मेंदे की मदद करती है। शरीर के पोषण के लिए आवश्यक पुष्टता, यदि कम पुष्टिकारक भोजनों के अधिक परिमाण को हज़म करके, प्राप्त करनी पड़ती है तो मेंदे आदि को विशेष पौष्टिक भोजनों के कम परिमाण को हज़म करने की अपेक्षा अधिक मेहनत करनी पड़ती है। इस तरह की मेहनत जितनी ही अधिक पड़ती है उतनी ही अधिक हानि शरीर को पहुँचती है। इसका फल यह होता है कि या तो लड़के कमज़ोर हो जाते हैं, या उनकी बाढ़ मारी जाती है, या दोनों दोष उनमें आ जाते हैं। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि जहाँ तक हो सके बच्चों को ऐसा भोजन दिया जाना चाहिए जो पौष्टिक भी हो और जल्द हज़म भी हो जाय।

१७–वानस्पतिक पदार्थ खानेवालों की अपेक्षा मांस खाने वालों के लड़के अधिक सशक्त और बुद्धिमान् होते हैं।

लड़के लड़कियों का शरीर-पोषण प्रायः, अथवा बिलकुल ही, वानस्पतिक भोजन से हो सकता है। कन्द, मूल, फल, तरकारी और भिन्न भिन्न प्रकार

के धान्यों से ही वे पाले जा सकते हैं। यह सच है: इसमें कोई सन्देह नहीं। अमीर आदमियों के घरों में ढूँढ़ने से ऐसे भी लड़के मिल सकते हैं जिनको अपेक्षाकृत कम मांस दिया जाता है। तिस पर भी वे मज़े में बढ़ते हैं और देखने में हृष्ट पुष्ट मालूम होते हैं। मेहनत मज़दूरी करके पेट पालने वाले लोगों के बच्चों को शायद ही कभी मांस चीखने को मिलता होगा। फिर भी वे ख़ूब स्वस्थ रहते हैं और बढ़ कर जवान हो जाते हैं। इन उदाहरणों में जो विरोध जान पड़ता है वह ऊपरी दृष्टि से देखने ही से मालूम हो जाता है। वह विरोधाभास मात्र है। ऐसे उदाहरणों को साधारण तौर पर लोग जितना महत्त्व देते हैं उतना महत्त्व पाने के वे हरगिज़ लायक़ नहीं। पहले तो इन उदाहरणों से यह नतीजा नहीं निकलता कि जो लड़के बचपन में रोटी और आलू खा कर पलते हैं वे अन्त में अच्छे जवान होते हैं। किसानी का काम करनेवाले इँगलिस्तान के मज़दूरों और अमीरों का, और फ़्रांस के मध्यम और नीच स्थिति के आदमियों का, परस्पर मुक़ाबला करने से यह मालूम हो जायगा कि वानस्पतिक भोजन उतना लाभदायक नहीं। दूसरे, यह बात सिर्फ़ शरीर के आकार को देखने ही से सम्बन्ध नहीं रखती, उसके गुणों से भी सम्बन्ध रखती है। नरम और ढीला ढाला मांसल शरीर वैसा ही अच्छा मालूम होता है जैसा कि गठीला शरीर मालूम होता है। स्थूल दृष्टि से देखनेवाले की निगाह में भरे हुए, पर पिल-पिले, पट्ठोंवाले और ख़ूब गँठे हुए चुस्त पट्ठोंवाले बच्चे के शरीर में कोई भेद न मालूम होगा। पर उन दोनों की शक्ति की परीक्षा करने से उनका भेद तत्काल मालूम हो जायगा। अर्थात् दोनों से कोई ऐसा काम कराने से जिसमें शक्ति की ज़रूरत है, उनके शरीर की मज़बूती का अन्तर ध्यान में आये बिना न रहेगा। बयस्क आदमियों में अधिक मोटेपन का होना बहुत करके कमज़ोरी का लक्षण समझना चाहिए। कसरत करने से आदमी के बदन का वज़न घट जाता है। अतएव कम पौष्टिक अन्न खाने वाले लड़कों की शकल-सूरत को देख कर उन्हें सशक्त समझना भूल है। उनकी शकल सिर्फ़ देखने भर को है। तीसरे, आकार के सिवा हमें काम-काज करने की उत्पादक-शक्ति को भी देखना चाहिए। मांस खानेवालों के

लड़कों और रोटी और आलू खानेवालों के लड़कों में क्षमता-सम्बन्धी बहुत बड़ा फ़र्क़ होता है। शरीर के फुरतीलेपन और बुद्धि की तीव्रता, दोनों बातों में, ग़रीब किसान का लड़का अमीर आदमी के लड़के से बहुत हीन होता है।

१८—परिश्रम करने-की शक्ति भोजन की पौष्टिकता पर अवलम्बित रहती है।

यदि हम जुदा जुदा तरह के जानवरों का या जुदा जुदा तरह की मनुष्य-जातियों का परस्पर मुक़ाबला करें, अथवा एक ही तरह के जानवरों और एक ही जाति के आदमियों का, जुदा जुदा तरह का खाना खिला कर, मुक़ाबला करें, तो इस बात का हमें और भी अधिक स्पष्ट प्रमाण मिलेगा कि काम करने की क्षमता—परिश्रम करने की शक्ति—का परिमाण सर्वथा भोजन की पौष्टिकता ही पर अवलम्बित रहता है।

१९—पौष्टिक ख़ूराक खानेवाले जानवर घास-पात खानेवाले जानवरों से अधिक चुस्त और चालाक होते हैं।

गाय घास खाती है जो बहुत ही कम पुष्टिकारक चारा है। इससे उसे बहुत ज़ियादह घास खानी पड़ती है और उसे हजम करने के लिए बहुत बड़े मेदे इत्यादि की भी ज़रूरत होती है। यदि पाचन-क्रिया करनेवाले शरीर के भीतरी यन्त्र अधिक विस्तृत न हों तो वह इतनी घास हज़म ही न कर सके। शरीर की अपेक्षा गाय के पैर इत्यादि अवयव छोटे होते हैं। अतएव उन पर शरीर का बहुत बोझ पड़ता है। इस इतने बड़े शरीर को उठाने और इतना ज़ियादह चारा हज़म करने में गाय की बहुत सी शक्ति ख़र्च हो जाती है। अतएव गाय में जो इतनी सुस्ती और शिथिलता देख पड़ती है वह शरीर में शक्ति के बहुत कम रह जाने का कारण है। घोड़े के शरीर की बनावट बहुत करके गाय के शरीर ही के सदृश होती है। परन्तु घोड़े को गाय की अपेक्षा अधिक सारवान, अर्थात् पौष्टिक, खाना मिलता

है। अब यदि आप घोड़े का मुकाबला गाय से करेंगे तो मालूम होगा कि घोड़े का शरीर, विशेष करके पेट, उसके पैर आदि अवयवों के परिमाण के हिसाब से, बहुत बड़ा नहीं है। इसीसे उसे पेट इत्यादि का बहुत अधिक बोझ नहीं उठाना पड़ता और न बहुत अधिक ख़ुराक ही हज़म करनी पड़ती। यही कारण है जो घोड़ा बहुत तेज़ चल सकता है और बहुत चुस्त और चालाक होता है। यदि हम घास-पात खानेवाली भेड़ की शिथिलता और सुस्ती का मुकाबला मांस, या रोटी इत्यादि, या दोनों तरह की ख़ुराक खानेवाले कुत्ते से करते हैं तो वही बात हमें यहाँ भी देख पड़ती है। किन्तु इस मुकाबले में दोनों का पारस्परिक भेद और भी अधिकता से देख पड़ता है। अच्छा, यदि आप किसी अजायबघर या चिड़ियाखाने के बाग़ को सैर को जाइए और जंगली जानवरों के पिंजड़ों के पास से होकर निकलिए तो आप देखेंगे कि मांस-भक्षी जानवर किस बे-चैनी से अपने पिंजड़े में इधर से उधर और उधर से इधर चक्कर लगा रहे हैं। इससे आप के ध्यान में फ़ौरन ही यह बात आ जायगी कि घास-पात खानेवाले जानवरों में यह विलक्षणता नहीं पाई जाती और आप यह भी समझ जायँगे कि इस तरह की चुस्ती और चालाकी, सारवान् पौष्टिक खाना खाने ही की बदौलत है। इस चुस्ती और पौष्टिक ख़ुराक में जो कार्य्यकारण-भाव है उसे समझने में आपको ज़रा भी देरी न लगेगी।

२०—यह भेद शरीर-रचना के कारण नहीं; पौष्टिक या अपौष्टिक ख़ुराक के कारण है।

कोई कोई साहब यह कहेंगे कि यह भेद, जो देख पड़ता है, शरीर-रचना में भेद होने के कारण है। इसका कारण जुदा जुदा तरह की ख़ुराक नहीं है। परन्तु इस तरह की दलील में कोई अर्थ नहीं। जिस जानवर का शरीर जैसा है वह उसी के अनुकूल चारा खाने के लिए [illegible] है और इस भेद का असली कारण जानवरों के खाने पीने की चीज़ें [illegible] ही है। इसका मतलब यह है कि यह भेद [illegible] ही [illegible] के [illegible]

के जानवरों में भी पाया जाता है। घोड़े एक तरह के नहीं होते; कई तरह के होते हैं। उनमें हमारे निर्णय का अच्छा उदाहरण मिलता है। गाड़ियों में जोता जानेवाला बड़े पेट का सुस्त और मरियल घोड़ा लीजिए और उसका मुक़ाबला छोटी कोख के, पर ख़ूब चालाक, शिकारी या घुड़दौड़ के घोड़े से कीजिए। तब आप इस बात को याद कीजिए कि पहले की अपेक्षा दूसरे घोड़े की ख़ूराक कितनी पौष्टिक होती है। अथवा मनुष्य ही का उदाहरण लीजिए। आस्ट्रेलिया के आदिम निवासी, आफ्रीक़ा के जंगली बुशम्यन और अन्यान्य महा असभ्य जातियाँ, जो कन्द, मूल, फल और कभी कभी कीड़े मकोड़े आदि अभक्ष्य जन्तु खाकर अपना निर्वाह करती हैं, और मनुष्य-जातियों की अपेक्षा अधिक खर्वाकार होती हैं। उनके पेट बड़े बड़े होते हैं। स्नायु भी उनके पिलपिले होते हैं और पूरे तौर पर बढ़े बिनाही रह जाते हैं। ये लोग लड़ने, भिड़ने या देर तक मेहनत का काम करने में यारप वालों की बराबरी नहीं कर सकते। पर उत्तरी अमेरिका के इंडियन, दक्षिणी अमेरिका के पेटा गोनियन और आफ़रीक़ा के काफ़िर आदि जंगली आदमियों को देखिए। वे ख़ूब ऊँचे, चालाक और मज़बूत होते हैं। आप जानते हैं वे क्या खाते हैं? वे मांस ही अधिक खाते हैं। पौष्टिक अन्न न खाने-वाले हिन्दू मांस-भक्षी अँगरेज़ों का मुक़ाबला नहीं कर सकते। शारीरिक और मानसिक दोनों बातों में वे अँगरेज़ों से हीन हैं। साधारण तौर पर हम तो यह समझते हैं कि यदि संसार का इतिहास देखा जाय तो यह मालूम होगा कि जिन लोगों का खाना ख़ूब पौष्टिक होता है वही अधिक सशक्त होते हैं और वही औरों पर प्रभुत्व भी करते हैं। *

२१—जानवरों की ख़ूराक जितनी अधिक पौष्टिक होती है उतनी ही अधिक मेहनत वे कर सकते हैं।

जिस जानवर की ख़ूराक जितनी कम या अधिक पौष्टिक होती है उतनी ही कम या अधिक मेहनत भी वह कर सकता है। यह ऐसा उदाहरण है

* यदि हिन्दुओं ने नहीं तो जापानियों ने तो स्पेन्सर के इस मत को ज़रूर बहुत कुछ भ्रामक सिद्ध कर दिया है। अनुवादक।

जिससे हमारे सिद्धान्त को और भी अधिक दृढ़ता आती है। यह बात घोड़े के दृष्टान्त से प्रमाणित हो चुकी है। सिर्फ़ घास खाने वाला घोड़ा मोटा तो हो जाता है—उसके बदन में चर्बी तो बढ़ जाती है—पर उसकी शक्ति ज़रूर कम हो जाती है। उससे सख़्त मेहनत का काम कराने से इस बात की सत्यता का प्रमाण शीघ्र ही मिल जाता है। "घोड़ों को घास चरने के लिए छोड़ देने से उनके शरीर के स्नायु कमज़ोर हो जाते हैं"। "यदि किसी बैल को स्मिथ-फील्ड नामक नगर की मंडी में ले जा कर बेचना हो तो उसके लिए घास बहुत अच्छा चारा है; क्योंकि घास खाने से वह ख़ूब मोटा हो जायगा। पर शिकारी घोड़े के लिए वह बहुत हानिकारी है"। पुराने ज़माने के लोग इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि गरमी की ऋतु में बाहर खेतों में खेती-किसानी का काम करने के बाद शिकारी घोड़ों को कई महीने तक अस्तबल में बांध कर खिलाने पिलाने की ज़रूरत होती है। तब कहीं वे शिकारी कुत्तों के साथ शिकार के पीछे दौड़ सकते हैं। वे यह भी अच्छी तरह जानते थे कि अगली वसन्त ऋतु आये बिना शिकारी घोड़ों की हालत अच्छी नहीं होती। अपरले नामक एक विद्वान का कथन है कि "गरमी के मौसम में शिकारी घोड़ों को घास चरने के लिए कभी न छोड़ना चाहिए। यही नहीं, किन्तु यदि विशेष सुभीता और विशेष अच्छा प्रबन्ध न हो तो उन्हें बिलकुल ही बाहर न निकालना चाहिए"। मतलब यह कि घोड़ों को कभी हलका खाना मत दो। ख़ूब पौष्टिक और कसदार ख़ुराक बराबर देते रहने ही से घोड़ों में विशेष शक्ति आती है और तभी वे देर तक मेहनत के काम कर सकते हैं। यह सर्वथा सच है। अपरले साहब ने इस बात को साबित कर दिखाया है कि यदि मँझले दरजे के घोड़े को बहुत दिन तक अच्छी ख़ुराक दी जाय तो वह अपने काम-काज और करतबों में मामूली ख़ुराक खाने वाले ऊँचे दरजे के घोड़े की बराबरी कर सकता है। ये सब प्रमाण तो हैं ही। इनमें एक बात और जोड़ दीजिए। इसे सब लोग जानते हैं। वह यह है कि जब किसी घोड़े से दूना काम लेने की ज़रूरत होती है तब उसे लोबिये की तरह का बीन नामक धान्य दिया जाता है। घोड़े की मामूली ख़ुराक जई की अपेक्षा लोबिये में नाइट्रोजन

देना चाहते थे। अर्थात् जो यह समझते थे कि बिना कुछ खर्च किये ही यान्त्रिक शक्ति उत्पन्न हो सकती है। अथवा यों कहिए कि शून्य में शक्ति उत्पन्न की जा सकती है।

२४—बच्चों के खाने में फेरफार न करते रहना बहुत बड़ी भूल है।

खान पान की बात समाप्त करने से पहले एक और ज़रूरी विषय, अर्थात् खाने की चीज़ों में फेर-फार, पर हम कुछ कहना चाहते हैं। जो अन्न हम लोग खाते हैं उसमें हमेशा फेर-फार करते रहना चाहिए। परन्तु बच्चों के खाने में फेर-फार नहीं किया जाता। यह बहुत बड़ी भूल है। हमारी फ़ौज के सिपाहियों की तरह यद्यपि हमारे बच्चों को बीस वर्ष तक उबला हुआ मांस खाने की सज़ा नहीं दी जाती, तथापि उन्हें बहुत करके एक ही तरह का अन्न खाना पड़ता है। यद्यपि इस विषय में बच्चों के साथ सिपाहियों की जैसी सख्ती नहीं की जाती, और न उनकी तरह बीस बीस वर्ष तक एक ही तरह की खुराक ही दी जाती, तथापि जो कुछ उन्हें खाने को दिया जाता है वह आरोग्य-रक्षा के नियमों के विरुद्ध ज़रूर है। यह सच है कि दोपहर को जो भोजन लड़कों को मिलता है उसमें बहुधा कई चीज़ें थोड़ी बहुत मिली हुई रहती हैं और प्रति दिन फेर-फार भी उसमें हुआ करता है। परन्तु सबेरे के कलेऊ में हफ्तों, महीनों, बरसों तक वही रोटी या डबल रोटी के टुकड़े ही मिलते हैं। यही शाम को भी किसी एक तरह के नित्य भोजन—दूध-रोटी, या चाय और मक्खन-रोटी की पुनरावृत्ति करके लड़कों का पेट भर दिया जाता है।

२५—खाने की चीज़ों में हमेशा फेर फार करते रहना चाहिए।

यह ज़रूर प्राण-विज्ञान के नियमों के विरुद्ध है। जो लोग यह समझते हैं कि एक ही तरह का खाना बार बार खाने से जो [illegible] जाता है और जिस भोजन का स्वाद बहुत दिन तक जीभ को नहीं मिलता

कि (१) बच्चों का भोजन ख़ूब पौष्टिक होना चाहिए; (२) प्रत्येक भोजन के समय कई तरह की चीज़ें खिलाना और साधारण तौर पर भोजनों में हमेशा अदल बदल करते रहना चाहिए; और (३) ख़ूब पेट भर खाने को देना चाहिए।

२६—मनोवृत्तियों को दबाना न चाहिए। सारे मानसिक और शारीरिक व्यापार उनके अनुकूल करने चाहिएँ।

खाने पीने की तरह कपड़े लत्ते के विषय में भी लोगों का झुकाव कमी की ही तरफ़ है। यह भी अनुचित है। लड़कों को काफ़ी कपड़े न पहनाना अच्छा नहीं। पर लोग उन्हें कपड़े लत्ते के विषय में भी तपस्वी बनाना चाहते हैं। आज कल लोगों की समझ ने, इस विषय में, विलक्षण रूप धारण किया है। वे समझते हैं कि मनोवासनाओं की परवा न करना ही अच्छा है। उनको मारने ही में भलाई है। इस समझ ने यद्यपि अभी तक सिद्धान्त का रूप नहीं पाया; तथापि वह एक अनिश्चित रूप में दृढ़ ज़रूर हो गई है। सब लोगों को कुछ ऐसा विश्वास हो गया है कि जितनी वासनायें हैं कोई भी सुपथदर्शक नहीं। सब कुपथदर्शक हैं। उनको पथदर्शक मान कर तद-नुसार व्यवहार न करना चाहिए। मनोवृत्तियों को तृप्त करना मुनासिब नहीं। वे हम लोगों को सुपथ से भ्रष्ट करने ही के लिए हैं। लोगों की इस समझ का मूल पर्य्यन्त विचार करने से यही नतीजा निकलता है कि उसका कारण उनका अन्ध-विश्वास है। यह बहुत बड़ी भूल है। परमेश्वर ने हमारे शरीर के निर्म्माण करने में जो कौशल दिखाया है उससे उसकी अपार दयालुता सूचित होती है। नाना प्रकार के जो शारीरिक दुख हमें सदा सहन करने पड़ते हैं उनका कारण मनोजन्य वासनाओं का आज्ञा-पालन नहीं, किन्तु उनकी आज्ञाओं का अप्रतिपालन है। भूख लगने पर भोजन करना बुरा नहीं। बुरा है बिना भूख भोजन करना। प्यास में पानी पीना अनुचित नहीं। अनुचित है, प्यास बुझ जाने पर भी पानी पीते जाना। जिस स्वच्छ हवा में सांस लेना प्रत्येक भला आदमी को अच्छा लगता है उसमें सांस लेने से हानि नहीं होती। हानि होती है उस गन्दी

हवा में सांस लेने से जितने, सैकड़ों के मना करने पर भी, लोग सांस लेते हैं। उस घूमने फिरने अथवा कसरत करने से अहित नहीं होता जिनके लिए आप ही आप बरबस चलती है। उसकी इच्छा तो मनुष्य को स्वभाव ही से होती है। उसे सर्वथा स्वाभाविक समझना चाहिए। इसलिए न, बचपन में लड़के खुशी से कैसे उछला कूदा करते हैं। यह स्वाभाविक चेष्टा का सबूत है। इस तरह की दौड़ धूप से अहित नहीं होता। अहित होता है स्वाभाविक इच्छाओं के अनुसार काम न करने के अत्यन्त आग्रह से। जिस काम के करने को जी चाहे उसे न करने ही से हानि होती है, करने से नहीं। जो मानसिक काम खूब उमङ्ग से किये जाते हैं और जिन्हें करने से आनन्द मिलता है उनसे हानि की सम्भावना नहीं। मस्तक गरम हो जाने या सिर दर्द करने पर भी जो काम जारी रक्खे जाते हैं, हानि की सम्भावना उन्हीं से है। सिर में गरमी चढ़ जाना या दर्द पैदा हो जाना मानों काम बन्द कर देने की आज्ञा है। हानि ऐसे ही आज्ञाभङ्ग से होती है। शारीरिक श्रम जब तक अच्छा लगे, अथवा जब तक न अच्छा ही लगे और न बुरा हो, तब तक करने से अपाय नहीं होता। थकावट मालूम होने के बहाने श्रम बन्द करने की आज्ञा मिलने पर भी उसे बन्द न करने से अपाय होता है। यह सच है कि जिन लोगों का शरीर बहुत दिनों से नीरोग नहीं—जो चिररोगी हैं—उनकी मनोवासनायें विश्वसनीय नहीं। उनके इच्छानुसार बर्ताव करने से ज़रूर हानि होती है। जो लोग बरसों घर से बाहर नहीं निकलते, प्रायः भीतर ही पड़े रहते हैं; जो लोग दिन रात मानसिक श्रम किया करते हैं, शायद ही हाथ-पैर हिला कर कभी शारीरिक श्रम करते हैं; जो लोग अपने पेट के खाली या भरे होने की परवा न करके अपने घड़ी-घंटे की परवा करते हैं—खाने का वक्त नहीं टलने देते—वे, बहुत सम्भव है, अपनी दूषित मनोवासनाओं के अनुसरण से हानि उठावें। परन्तु उनको याद रखना चाहिए कि यदि वे पहले से अपनी मनोवासनाओं की आज्ञा मानते—तदनुकूल व्यवहार करते—तो कभी ऐसा न होता। वासनाओं के अनुकूल काम न करने ही से उनमें दोष आ जाता है। यदि वे आरम्भ ही से अपने शारीरिक प्राकृतिक शिक्षक की आज्ञा न उल्लंघन

करते तो कभी उन्हें धोखा न होता। अन्त तक वह उन्हें विश्वसनीय शिक्षक की तरह सन्मार्ग से कभी च्युत न होने देता।

३०—गरमी और सरदी का ख़याल रख कर बच्चों को यथेष्ट कपड़े न पहनाने से ज़रूर हानि होती है।

जो मनोवासनायें या मनोवृत्तियाँ हमारे लिए पथदर्शक का काम करती हैं, जाड़े और गरमी का ज्ञान उत्पन्न करने वाली वृत्तियाँ उन्हीं में से हैं। अतएव बच्चों के कपड़े-लत्तों से सम्बन्ध रखने वाली व्यवस्था यदि इन प्रवृत्तियों के अनुसार न हो तो उससे ज़रूर हानि होती है। इस तरह की अस्वाभाविक व्यवस्था कभी उचित नहीं मानी जा सकती। बहुत लोगों की यह समझ है कि लड़कपन में कपड़े लत्ते कम पहनने की आदत डालने से बच्चे मज़बूत और श्रमसहिष्णु हो जाते हैं। परन्तु यह केवल उनका भ्रम है। कितने ही बच्चे तो मज़बूत और श्रमसहिष्णु बनते ही बनते स्वर्ग को सिधार जाते हैं। और, जो बच जाते हैं, उनकी बाढ़ या तो हमेशा के लिए बन्द हो जाती है, अर्थात् वे जन्म भर ठिंगने ही बने रहते हैं, या उनके शरीर की बनावट को हमेशा के लिए हानि पहुँच जाती है। डाक्टर कोम्बी का मत है कि—"लड़कों की नाज़ुक और कमज़ोर सूरत शकल इस बात का प्रमाण है कि उनको इस तरह मज़बूत और श्रमसहिष्णु बनाने का यत्न करने ही की बदौलत उनकी यह दशा हुई है। जो माँ-बाप बहुत ही बेपरवाह हैं उन्हें भी, लड़कों को बार बार बीमार पड़ते देख, इस बात की शिक्षा लेनी चाहिए कि कम कपड़े लत्ते पहना कर लड़कों को मज़बूत बनाने की व्यर्थ चेष्टा हानिकारी है"। जिस भित्ति पर—जिस दलील पर—लड़कों को मज़बूत बनाने के ख़याल ने ज़ोर पकड़ा है वह बिलकुल ही निर्जीव है। उसमें कोई अर्थ नहीं। अमीर आदमी ग़रीब किसानों के छोटे छोटे बच्चों को बाहर सर्दी में बिना अच्छी तरह कपड़े लत्ते पहने ही खेलते कूदते देखते हैं। वे यह भी देखते हैं कि इन बच्चों के मेहनत मज़दूरी करने वाले माँ-बाप (किसान और मज़दूर आदि) ख़ूब नीरोग और सशक्त होते हैं। अतएव इससे वे यह नतीजा निकालते हैं कि उनकी नीरोगता और दृढ़ता

इस तरह अर्द्ध-दिगम्बर रूप में बाहर घूमने फिरने ही का फल है। इसी से वे अपने लड़कों को भी उन्हीं के लड़कों की तरह रखना चाहते हैं। पर यह उनकी भूल है। इससे यह नतीजा नहीं निकलता। वे इस बात को बिलकुल ही भूल जाते हैं कि इन लड़कों के लिए, जो बाहर देहात में हरे हरे खेतों और मैदानों में घूमा करते हैं, और भी कितनी ही बातों का सुभीता है जो अमीर आदमियों के लड़कों को नसीब नहीं। उनके ध्यान में यह बात नहीं आती कि किसानों और मज़दूरों के लड़के बहुत करके सारा दिन खेल कूद ही में बिताते हैं; हमेशा ख़ूब ताज़ी हवा में साँस लेते हैं; और बहुत अधिक मानसिक श्रम के कारण उनके शरीर को कभी पीड़ा नहीं पहुँचती। उनके शरीर के मज़बूत और सशक्त रहने का कारण कपड़े लत्ते की कमी नहीं। उसके और कारण हैं। इसी से इस कमी के रहते भी उनकी शरीर-सम्पत्ति नहीं बिगड़ती। हमें विश्वास है कि जो नतीजा हमने निकाला है वह यथार्थ है; और, बदन पर यथेष्ट कपड़े न होने से, शरीर से बहुत अधिक गरमी निकल जाने के कारण, हानि हुए बिना नहीं रह सकती।

२१—सरदी में बदन खुला रहने से मनुष्य का क़द ज़रूर छोटा हो जाता है।

यदि शरीर सरदी-गरमी बरदाश्त करने भर के लिए सशक्त है तो उसे खुला रखने से मज़बूती आती है; परन्तु बाढ़ ज़रूर बन्द हो जाती है। यह बात मनुष्यों और पशुओं दोनों में एक सी पाई जाती है। शटलैंड टापू के टट्टू दक्षिणी इँगलिस्तान के घोड़ों की अपेक्षा सरदी अधिक बरदाश्त कर सकते हैं; पर वे बहुत छोटे होते हैं। उन्हें बहुत सरदी सहनी पड़ती है। इसी से उनकी बाढ़ रुक जाती है और वे ठिँगने रह जाते हैं। स्काटलैंड की पहाड़ी भेड़ें और गाय, बैल आदि बहुत सर्द आबो हवा में रहते हैं। इस कारण वे इँगलिस्तान की भेड़ों और गाय-बैलों की अपेक्षा डील-डौल में छोटे होते हैं। उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के आस पास के टापुओं के आदमियों की ऊँचाई और लोगों की साधारण ऊँचाई से कम होती है।

काम करना मुनासिब नहीं । सब हालतों में एक ही नियम से काम नहीं चल सकता । बच्चों को ऐसे कपड़े पहनाने चाहिए जिसमें सरदी से—फिर चाहे वह कितनी ही थोड़ी क्यों न हो—उनकी अच्छी तरह रक्षा हो । किस तरह के और कितने कपड़े पहनाने चाहिए, इस विषय का कोई निश्चित नियम नहीं किया जा सकता । माँ-बाप को सिर्फ़ यह देखना चाहिए कि जो कपड़े हम बच्चों को पहनाते हैं वे सरदी से उनका अच्छी तरह बचाव कर सकते हैं या नहीं । "बस" । यह वचन डाक्टर कोम्बी का है और बड़े महत्त्व का है । इसके महत्त्व को उन्होंने इसे बड़े बड़े अक्षरों में लिख कर सूचित किया है । डाक्टर कोम्बी से, इस विषय में, बड़े बड़े विज्ञानवेत्ता और डाक्टर सहमत हैं । जो लोग इस सम्बन्ध में राय देने की योग्यता रखते हैं—जिन्हें इस सम्बन्ध में कुछ कहने का अधिकार है—उनमें से एक भी आदमी हमें ऐसा नहीं मिला जिसने यह न कहा हो कि बच्चों के बदन का खुला रखना बहुत बड़ी भूल है । दुनिया में सबसे बढ़ कर यदि कोई काम ऐसा है जिसमें महाहानिकारी पुरानी रीति के छोड़ने की ज़रूरत है तो वह काम बच्चों के बदन को खुला रखना है ।

३७—बच्चों के कपड़ों के विषय में मूर्खता-वश फ़ांसवालों की नक़ल की जाती है । इससे बच्चों को अनेक आपदायें भोगनी पड़ती हैं ।

बच्चों की माताओं को अनर्थ-कारिणी रीतियों की दासी बन कर अपनी सन्तति की शरीर-प्रकृति को सख्त हानि पहुँचाते देख सचमुच बड़ा अफ़सोस होता है । अपने पड़ोसियों को मूर्खता से भरी हुई रीतियों का प्रचार करते देख उनकी देखादेखी ख़ुद भी उनकी प्रत्येक मूर्खता का अनुकरण करने दौड़ना बहुत बुरी बात है । जो कपड़े वे पहनाते हैं वे बच्चों के लिए योग्य और यथेष्ट हैं या नहीं, इस बात का कुछ भी विचार न करके, नये नये तर्ज़ के कपड़ों की तसवीरें छापनेवाले फ्रांस के अख़बारों को देख कर अपने बच्चों को माँ-बाप का भड़कदार और दिखाऊ कपड़े पहनाना अजब पागलपन है । इस तरह के कपड़ों से बच्चों को थोड़ी बहुत तकलीफ़

ज़रूर होती है। वे बहुधा बीमार पड़ जाते हैं। या तो उनकी बाढ़ रुक जाती है या शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है। कभी कभी तो उनकी अकाल-मृत्यु तक हो जाती है। ये सब आपदायें झेलनी किस लिए पड़ती हैं? इस लिए कि सनक में आकर अपने मन-मौजीपन के कारण फ़्रांसवाले जिस कपड़े और जिस काट और नाप के कोट बनाने लगते हैं उन्हीं की नक़ल करना ज़रूरी समझा जाता है! इस तरह फ़्रांसवालों की नक़ल करके मातायें अपने बच्चों को काफ़ी कपड़े न पहना कर उन्हें दण्ड देती हैं। इस दण्ड के कारण बच्चों को अनेक आपदायें भोगनी पड़ती हैं। पर माताओं को इतने ही से सन्तोष नहीं होता। वे अपने बच्चों के साथ कुछ और भी सलूक करती हैं। नक़ल करने की सनक में आकर वे ऐसे बड़े कुते के कपड़े बच्चों को पहनाती हैं कि बच्चों का बदन जकड़ सा जाता है। अतएव वे आरोग्यवर्धक खेल-कूद से वञ्चित हो जाते हैं। उनके बदन में कपड़े ऐसे कस जाते हैं कि फिर वे दौड़-धूप नहीं कर सकते। सिर्फ़ देखने में अच्छे लगने के कारण मातायें ऐसे रंगीन कपड़े पहनाती हैं जो लड़कों के प्रतिबन्धहीन खेल-कूद के तड़ाके को बरदाश्त नहीं कर सकते। फिर वे मनमाना खेल-कूद करने से बच्चों को इस लिए रोकती हैं कि कहीं कपड़े ख़राब न हो जायँ। जो बच्चा ज़मीन पर लोट रहा है, या खेल रहा है, उसे हुक्म दिया जाता है—"फ़ौरन खड़े हो जाव; तुम्हारा अच्छा अच्छा साफ़ कोट मैला हो जायगा"। हवा खाने के लिए बाहर निकलने पर यदि कोई बच्चा रास्ता छोड़ कर किसी टीले पर चढ़ना चाहता है तो बच्चों की देख भाल करनेवाली दाई फ़ौरन ही चिल्ला उठती है—"अभी लौटो, तुम्हारे मोज़े मैले हो जायँगे"। इससे दूनी हानि होती है। पहले तो बच्चों को सिर्फ़ इस लिए थोड़े और बुरी बड़े कुते के कपड़े पहनाये जाते हैं जिसमें वे अपनी माँ की तरह ख़ूबसूरत मालूम हों और जो लोग अपने घर भेंट-मुलाक़ात करने आवें वे उनकी तारीफ़ करें। फिर, ज़रा से धक्के में फटने वाले इन कपड़ों को साफ़ सुथरा बना रखने और फटने न देने का हुक्म देकर अनन्त स्वाभाविक और आवश्यक खेल-कूद से बच्चे रोके जाते हैं। बदन पर कपड़े काफ़ी न होने के कारण खेलने कूदने और व्यायाम करने

की दूनी ज़रूरत होती है। पर वह इस लिए रोकी जाती है कि कहीं कपड़े न खराब हो जायँ। क्या ही अच्छा होता यदि वे लोग, जो इस बुरी रीति को नहीं छोड़ते, इसके भयङ्कर परिणामों को समझ सकते। हमें यह कहते ज़रा भी सङ्कोच नहीं होता कि इस बाहरी दिखाव पर इतनी अविवेकपूर्ण श्रद्धा रखने के कारण हर साल हज़ारों आदमी अकालही में काल का कौर होकर, माँ के झूँठे आत्माभिमानरूपी दानव के निमित्त बलिदान होने से यदि बच भी जाते हैं, तो भी शारीरारोग्य बिगड़ जाने, शक्ति क्षीण हो जाने और रोज़गार-धन्धे में कामयाबी न होने के कारण संसार-सुख से वे हाथ ज़रूर धो बैठते हैं। इस विषय में हम कठोर उपायों की योजना की सलाह नहीं देना चाहते; पर ये आपदायें सचमुचही इतनी गुरुतर हैं कि इन्हें दूर करने के इरादे से बापों का इस काम में हस्ताक्षेप करना मुनासिब ही नहीं, बहुत ज़रूरी भी है।

३८—कपड़ों के विषय में चार बातों का खयाल।

अतएव यहाँ तक हमने जो प्रतिपादन किया उससे ये नतीजे निकलते हैं:—

(१) बच्चों के कपड़े कभी इतने ज़ियादह न होने चाहिए कि बहुत अधिक गरमी पैदा होने के कारण उन्हें तकलीफ़ हो; पर इतने ज़रूर हों कि साधारण तौर पर सरदी की बाधा बच्चों को न हो*।

---

* यहाँ पर यह कह देने की ज़रूरत है कि जिन लड़कों के हाथ पैर (टाँगें और बाज़ू) शुरू से ही खुले रहते हैं उन्हें उनको खुले रखने की आदत पड़ जाती है। इसलिए उनको इस बात का ज्ञान नहीं होता कि खुले रहने के कारण उनके हाथ पैर ठंडे हैं। अर्थात् ठंडे होने से उन्हें कोई तकलीफ़ होती नहीं मालूम देती। जैसे मुँह खुला रखने की आदत पड़ जाने से, घर के बाहर घूमने फिरने में भी, हमें अपना मुँह ठंडा नहीं लगता वैसे ही लड़कों को भी, आदत पड़ जाने से हाथ-पैर ठंडे नहीं लगते, परन्तु, इन अवयवों के खुले रहने से लड़कों को सरदी यद्यपि नहीं सताती, तथापि इससे यह नहीं सूचित होता कि उनके शरीर को हानि नहीं पहुँचती। हानि ज़रूर पहुँचती है। फ्यूगो टापू के रहने वाले नंगे बदन सरदी में रहा करते हैं और उनके बदन पर बर्फ़ गिर गिर कर पिघला करती है। उसे वे बेपरवाही से बर्दाश्त करते हैं। पर क्या इससे यह नतीजा निकल सकता है कि इस तरह नंगे बदन बर्फ़ में घूमने से उन्हें हानि नहीं पहुँचती? [ग्रन्थकार

(२) रुई के, सन के, या इन दोनों के मेल से बने हुए बारीक कपड़े, जैसे कि प्रायः हमेशा बच्चों को पहनाये जाते हैं, न पहना कर मोटे ऊनी कपड़े, या और इसी तरह के, पहनाने चाहिएँ जिसमें शरीर की गरमी बाहर न निकलने पावे।

(३) कपड़े ऐसे मज़बूत होने चाहिएँ कि लड़के चाहे जितना खेलें कूदें, उन्हें हानि न पहुँचे—न वे फटें, न घिसें।

(४) कपड़ों का रंग ऐसा होना चाहिए कि पहनने और खुला रखने से उड़ न जाय।

३६—लड़कों के शारीरिक व्यायाम की तरफ़ लोगों का ध्यान पहले ही जा चुका है।

शरीर-सम्पालना को प्रायः सब आदमी थोड़ा बहुत महत्त्व पहले ही से देते हैं। व्यायाम, अर्थात् कसरत, करने की ज़रूरत पर उनका ध्यान जा चुका है। शारीरिक शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें हैं उनमें से बहुतेरी बातों की अपेक्षा इस बात के विषय में अधिक विस्तार करने की ज़रूरत नहीं है। कम से कम जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध लड़कों की शारीरिक शिक्षा से है वहाँ तक तो हमें ज़रूर ही बहुत कम कहना है। सरकारी और प्रजा के, दोनों तरह के, मदरसों में लड़कों के खेलने कूदने के लिए जगहें बना दी गई हैं। और, बाहर मैदान में दौड़ धूप के खेलों के लिए समय भी मुक़र्रर किया जाता है। इसके सिवा सब यह भी समझने लगे हैं कि इस तरह के खेल लड़कों के लिए बहुत ज़रूरी हैं। यदि और किसी विषय में नहीं तो इस विषय में तो लोगों ने इस बात को ज़रूर ही क़बूल कर लिया जान पड़ता है कि लड़कों को उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार काम करने देने में लाभ है। सवेरे और शाम को देर तक पाठ याद करने के बाद खुली हुई हवा में लड़कों को इधर उधर खेलने कूदने के लिए छुट्टी देने की जो आजकल चाल है उससे मालूम होता है कि विद्यार्थियों की शारीरिक ज़रूरतों को ध्यान में रख कर उनके अनुसार मदरसों के नियम निश्चित करने की रीति ज़ोर पकड़ती जाती है। इसलिए

इस विषय में लोगों को झाड़ फटकार बतलाने या सूचना देने की कोई वैसी ज़रूरत हमें नहीं मालूम होती।

४--लड़कियों के लिए आरोग्यवर्धक व्यायाम का अभाव।

पूर्वोक्त बातें स्वीकार करने में हमें--"जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध लड़कों की शारीरिक शिक्षा से है"--यह वाक्य लाचार होकर लिखना पड़ा है। अभाग्यवश, इस सम्बन्ध में लड़कियों की स्थिति बिलकुल ही उलटी है। जो लड़कियाँ मदरसे में पढ़ती हैं उनकी शारीरिक-व्यायाम-सम्बन्धिनी स्थिति लड़कों की स्थिति से बिलकुल ही भिन्न है। इस बात का विचार करके कुछ न कुछ आश्चर्य ज़रूर होता है कि हमें लड़कों और लड़कियों की स्थिति का मुक़ाबला करने का रोज़ मौक़ा मिलता है। एक लड़कों का मदरसा और एक लड़कियों का, दोनों, रोज़ हमारी नज़र के सामने आते हैं। इन दोनों की स्थिति एक सी नहीं। इनमें जो भेद है वह याद रखने लायक़ है। वह देखते ही ध्यान में आ जाता है। लड़कों के मदरसे के हाते में जो एक बड़ा बाग़ है उसका प्रायः सभी हिस्सा खुला मैदान बना दिया गया है और उस पर रेती और सुरखी कूट दिया गया है। अतएव लड़कों के खेल-कूद के लिए उसमें काफ़ी जगह है। वहाँ कसरत के लिए मलखंभ हैं, घड़ियाँ हैं और उनके सिवा और भी सब तरह का सामान है। हर रोज़, सबेरे खाना खाने के पहले, फिर ग्यारह बजे, फिर दोपहर को, फिर तीसरे पहर, और फिर मदरसा बन्द होने के बाद एक बार शाम को खेलने-कूदने के लिए, लड़कों के बाहर निकलने पर, उनके एक साथ ज़ोर ज़ोर से हँसने और शोर करने से आस पास चारों तरफ़ हाहाकार मच जाता है, और जब तक वे बाहर उस मैदान में रहते हैं तब तक हमारे कान और हमारा मन्न इस बात की गवाही देते रहते हैं कि लड़के उन आनन्ददायक खेलों में मग्न हो रहे हैं जिनसे तीन हाल में आनन्दातिरेक के कारण उनकी नाड़ी बड़े वेग से चलने लगती है और शरीर का प्रत्येक अवयव हर्ष से उत्तेजित होकर आरोग्यवर्धक चञ्चलता दिखाता है। परन्तु लड़कियों की शिक्षा के लिए जो प्रबन्ध किया गया है उसका [illegible]-

समझने में हम भूलते हों। हमें कुछ कुछ ऐसी शङ्का होती है कि लड़कियों का शरीर दृढ़ होने की ज़रूरत ही नहीं समझी जाती। स्वभाव में कड़ापन और शरीर में विशेष शक्ति का होना लोग शायद गँवारपन समझते हैं। एक प्रकार की नज़ाकत, अर्थात् सुकुमारता, एक ही दो मील पैदल चल सकने की शक्ति, थोड़े ही से क्षुधा की शान्ति, और कमज़ोरी का साथी डरपोकपन—ये बातें स्त्रियों के लिए भूषण समझी जाती हैं। हमें यद्यपि यह आशा नहीं कि इन बातों को साफ़ साफ़ सबके सामने कहनेवाले कोई मिलेंगे; पर हमारी समझ में लड़कियों को अपनी देख भाल में रखनेवाली स्त्रियों और अध्यापिकाओं के मन में बहुत करके यही आता होगा कि ऐसी युवतियाँ पैदा हों जो पूर्वोक्त नमूने से बहुत कुछ मिलती जुलती हों। यदि हमारा यह ख़याल सच हो तो यह बात ज़रूर मान लेनी पड़ेगी कि पूर्वोक्त नमूने की स्त्रियाँ बनाने के लिए लड़कियों की शिक्षा का जैसा ठाट ठना गया है—जैसी शिक्षा-पद्धति जारी की गई है—बहुत ही योग्य है। इस पद्धति के प्रसाद से ज़रूर उस तरह की स्त्रियाँ मदरसों की टकसाल में ढल कर बाहर निकलेंगी। परन्तु यह ख़याल करना कि उत्तम स्त्रियों का यही नमूना है बहुत बड़ी भूल है। इस नमूने की स्त्रियों को सर्वोत्तम स्त्रियाँ समझना सख़्त ग़लती है। यह बात निःसन्देह सच है कि मर्दानी शकल-सूरत और स्वभाव की स्त्रियों की तरफ़ पुरुषों का चित्त बहुत करके आकृष्ट नहीं होता। हम इस बात को भी मानते हैं कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कम शक्ति होने ही से वे अपनी रक्षा के लिए अधिक शक्तिमान पुरुषों पर अवलम्बित रहती हैं। अतएव स्त्रियों की यह अशक्तता ही उनके मनोहर होने का कारण है। स्त्रियों के अशक्त होने ही के कारण पुरुषों का चित्त उनकी तरफ़ इतना आकृष्ट होता है। परन्तु स्त्री-पुरुषों में शक्ति-सम्बन्धी जो यह फ़रक़ है, और जिसका होना पुरुष अच्छा समझते हैं, जन्म ही से होता है। वह आपही आप उत्पन्न होता है। परमेश्वर पहले ही से उसकी योजना कर देता है। अतएव कृत्रिम रीति से उसे उत्पन्न करने या बना रखने की कोशिश व्यर्थ है। इस तरह कृत्रिम उपायों से स्त्रियों में इस फ़रक़ की मात्रा यदि मनुष्य बढ़ाने जायँगे तो धीरे धीरे स्त्रियों

की सारी मनोहरता नष्ट हो जायगी और उन्हें देख कर उलटी घृणा मालूम होगी।

४२-लड़कों की तरह लड़कियों को उछल-कूद के खेल खेलने देने से लड़कियों के बड़ी होने पर उनकी शालीनता में बाधा नहीं आ सकती।

यह सुन कर औचित्य के पक्षपातियों में से कोई शायद यह कहने दौड़ेगा कि—"तो क्या जहां चाहें वहां लड़कियों को घूमने फिरने देना चाहिए? क्या उन्हें लड़कों की तरह शरारत करने और ख़ूब ढीठ और चंचल होने देना चाहिए?" हम समझते हैं कि मदरसे की अध्यापिकाओं को हमेशा यही खटका लगा रहता है। दरियाफ़्त करने से हमें मालूम हुआ है कि बड़ी लड़कियों के मदरसों में धूम-धाम और ग़ुल-ग़पाड़े के खेल जो लड़के रोज़ खेला करते हैं, खेलने की मनाई है। ऐसे खेल यदि लड़कियां खेलें तो उन्हें सज़ा मिले। इस मनाई का हम यह अर्थ करते हैं कि इस तरह के खेल से लोग समझते हैं कि लड़कियों की आदत ख़राब हो जाने का डर है। अर्थात् उनकी समझ में ऐसे ऐसे खेल स्त्रियों को शोभा नहीं देते। इससे लोगों को यह खटका रहता है कि इस तरह के खेलों के कारण लड़कियों की आदत कहीं ऐसी न हो जाय जो भले घर की स्त्रियों की शान के ख़िलाफ़ हो। परन्तु इस तरह के डर का कोई अर्थ नहीं। वह व्यर्थ है। क्योंकि इस तरह के खेल खेलने पर भी, बड़े होने पर, लड़के भलमनसी के ख़िलाफ़ कोई काम नहीं करते। इसके कारण उनकी शिष्टता को ज़रा भी धक्का नहीं पहुँचता। तब इस तरह के खेल यदि लड़कियां खेलें तो भलेमानसों के घर की स्त्रियों की शान के ख़िलाफ़ उनकी आदतें हो जाने का क्यों डर होना चाहिए? लड़कपन में खेल के मैदान में लड़कों ने चाहे जितने धूम-धाम और अक्खड़पन के खेल खेले हों; परन्तु मदरसा छोड़ने पर, गलियों में एक दूसरे के कन्धों पर हाथ रख कर मेंढकों की तरह उछलते या बैठक के कमरे में गोलियां खेलते भी क्या किसी ने कभी उन्हें

देखा है ? मदरसा छोड़ते समय जब लड़के लड़कपन की पेशाक छोड़ देते हैं तभी वे लड़कपन के खेल कूद को भी तिलाञ्जलि दे देते हैं; और जो काम वयस्क आदमियों के अनुरूप नहीं, उनसे बचने की वे हृदय से इच्छा भी रखते हैं। इसे इच्छा नहीं, किन्तु उद्वेग कहना चाहिए। किसी किसी का उद्वेग तो इतना बढ़ जाता है कि वह कहाँ से कहाँ जा पहुँचता है। अतएव बड़े होने पर, पुरुषत्व की मर्य्यादा रक्षित रखने का ख़याल, यदि लड़कपन के खेलों से युवकों को बचाता है, तो क्या स्त्रीत्व की मर्य्यादा रक्षित रखने, अर्थात् अपनी स्वाभाविक लज्जा के ख़िलाफ़ कोई काम न करने, का ख़याल, जो वयोवृद्धि के साथ साथ बढ़ता है, लड़कियों को उनके लड़कपन के खेलों से न बचावेगा ? लोकाचार का ख़याल क्या पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक नहीं होता ? कौन बात देखने में अच्छी लगती है कौन बुरी, इस विषय में क्या स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक ध्यान नहीं देतीं ? इस कारण भद्दे और उच्छृङ्खलता के कामों को रोकनेवाले ख़याल क्या उनके मन में और भी अधिक प्रबलता के साथ न पैदा होंगे ! यह समझना कि मदरसे की अध्यापिकाओं के दबाव के बिना—उनकी .खूब कड़ी नज़र के बिना—स्त्रियों की स्वाभाविक शालीनता का विकास ही न होगा, कितना बड़ा पागलपन है !

४३—"जिमनास्टिक" की अपेक्षा स्वाभाविक खेल-कूद से बहुत अधिक लाभ होता है ।

और विषयों की तरह इस विषय में भी एक प्रकार के कृत्रिम उपायों से होनेवाली हानियों से बचने के लिए दूसरे प्रकार के कृत्रिम उपायों की योजना की गई है। खेल-कूद और दौड़-धूप आदि ऐसे व्यायाम हैं—ऐसी कसरतें हैं—कि उनके करने की इच्छा स्वभाव ही से बच्चों के मन में पैदा होती है। ऐसी स्वाभाविक कसरत को बन्द कर देने से जब लोगों की नज़र में बुरे परिणाम आने लगे तब उन्होंने एक और अस्वाभाविक उपाय की योजना की। स्वाभाविक कसरत को तो उन्होंने बन्द कर दिया और अस्वाभाविक कसरत, अर्थात् "जिमनास्टिक", शुरू करादी। लड़कों से नटों की

तरह लोग कसरत कराने लगे। बिलकुल ही कसरत न करने की अपेक्षा "जिमनास्टिक" की कसरत अच्छी है। इस बात को हम मानते हैं। परन्तु इस बात को हम नहीं मानते कि उससे उतना ही लाभ होता है जितना कि खेल-कूद से। "जिमनास्टिक" में पहले तो कितने ही प्रत्यक्ष दोष हैं। फिर उसमें कितनी ही ऐसी लाभदायक बातें नहीं हैं जिन्हें होना चाहिए। लड़कपन के खेल-कूद में लड़कों के शरीर के प्रत्येक स्नायु और पुट्ठे को गति प्राप्त होती है। दौड़ने-धूपने में शरीर का कोई अवयव ऐसा नहीं जो हिलता डुलता न हो—जिसे कसरत न पड़ती हो। परन्तु "जिमनास्टिक" में शरीर के सब अवयवों को अनेक प्रकार की गतियाँ नहीं प्राप्त होतीं। उनकी कसरत नियमित होती है। शरीर के कुछ ही स्नायु हिलते डुलते हैं। सब अवयवों को बराबर एक सी कसरत नहीं पड़ती। अतएव शरीर के कुछ ही विशेष अंगों को अधिक परिश्रम पड़ने के कारण लड़के बहुत जल्द थक जाते हैं। यदि सब अंगों को कसरत पड़ती तो परिश्रम सारे शरीर में बँट जाता और थकावट भी इतनी जल्द न मालूम होती। इसके सिवा "जिमनास्टिक" में एक दोष यह भी है कि शरीर के विशेष विशेष अंगों ही पर बहुत दिनों तक परिश्रम का बोझ पड़ने से शरीर के सब अंगों की बाढ़ बराबर नहीं होती। फिर, सारे शरीर को बराबर एक सा परिश्रम न पड़ने ही के कारण व्यायाम की मात्रा—उसकी मिक़दार—कम नहीं होती; किन्तु "जिमनास्टिक" की कसरत में लड़कों का जी न लगने के कारण भी उसके परिमाण में कमी हो जाती है। यदि सारे शरीर को श्रम पड़े तो कसरत भी अधिक हो। परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे एक तो इस कारण से कसरत कम होती है, दूसरे जी न लगने से। अतः दो तरह से वह कम हो जाती है। "जिमनास्टिक" की कसरत लड़कों को उसी तरह सिखलाई जाती है जिस तरह मदरसे में उन्हें पाठ्य पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं। अर्थात् कसरत के भी उन्हें नियमित पाठ सीखने पड़ते हैं। इससे लड़कों का मनोरंजन नहीं होता और बहुधा वे इस तरह की कसरत से घृणा करने लगते हैं। परन्तु यदि ऐसी कसरत सुखोत्पादक या आनन्ददायक न भी हो तो भी, मनोरंजन न होने के कारण, बार बार नियमित रीतियों से ही शरीर को हिलाने डोल-

डूबे रहने से उनका जी ज़रूर ऊब उठता है। यह सच है कि परस्पर बड़ा ऊपरी करने से शरीर के अवयवों में एक प्रकार की ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् एक अङ्ग दूसरे अङ्ग की अपेक्षा अधिक सशक्त और श्रम-सहिष्णु हो जाने का हौसला दिखाता है। परन्तु अनेक प्रकार के खेल खेलने से जो आनन्द मिलता है उसकी अपेक्षा यह हौसला—यह उत्साह—कम देर तक ठहरता है। वह चिरस्थायी नहीं होता। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा आक्षेप—सबसे भारी एतराज़—अभी बाक़ी ही है। "जिमनास्टिक" से जो सबसे बड़ी हानि होती है वह अभी तक हमने बतलाई ही नहीं। इस प्रकार की कसरत से शरीर के स्नायु और पट्ठों को जो श्रम पड़ता है वह कम तो होता ही है; किन्तु दरजे में भी वह बहुत हीन होता है। अर्थात् खेल-कूद के स्वाभाविक श्रम के मुक़ाबले में वह परिमाण में भी कम होता है और दरजे में भी कम होता है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि "जिमनास्टिक" की कसरत में लड़कों का ताइश जी नहीं लगता। इससे वे बहुत जल्द उसे छोड़ देते हैं। इस जी न लगने—इस मनोरञ्जन न होने—से एक यह भी हानि होती है कि इस कसरत का बहुत कम असर शरीर पर पड़ता है। लोग अकसर यह समझते हैं कि जब तक शरीर को बराबर एक सा श्रम पड़ता है तब तक इस बात के विचार करने की ज़रूरत नहीं है कि लड़कों को उससे आनन्द मिलता है या नहीं—उनका मनोरञ्जन होता है या नहीं। परन्तु यह उनकी भारी भूल है। अनुकूल मानसिक उत्साहों का बहुत बड़ा असर पड़ता है। किसी काम के करने में जी लगने पर जो उत्साह उत्पन्न होता है उसके असर से बहुत बड़ी शक्ति होती है। देखिए, कोई अच्छी ख़बर मिलने या किसी पुराने मित्र की मुलाक़ात होने से बीमार आदमी पर कितना असर पड़ता है। इस बात पर ध्यान दीजिए कि समझदार डाक्टर विशेष करके रोगियों को आनन्दपूर्ण और हँसमुख आदमियों के पास बैठने उठने की कितनी सिफ़ारिश करते हैं। विचार कीजिए कि लड़कों के खेल-कूद करने—उन्हें उत्साह देने—से जो आनन्द होता है वह आरोग्य के लिए कितना आवश्यक है। सच तो यह है कि आनन्द की प्राप्ति एक प्रकार की अत्यन्त आवश्यक दैहिक भोजन है।

चित्तवृत्ति आनन्दित होने से रुधिर का अभिसरण—उसका दौरान—जल्दी जल्दी होने लगता है। इससे सारे जीवन-व्यापार अच्छी तरह चलते हैं; और यदि मनुष्य के स्वास्थ्य में कोई बाधा न आई हो तो वह और भी अच्छा हो जाता है. और यदि कोई बाधा आ गई हो तो वह दूर हो जाती है। इससे "जिमनास्टिक" की अपेक्षा स्वाभाविक खेल-कूद की महिमा इतनी अधिक है। खेलने-कूदने में लड़कों का बेहद जी लगता है—उससे उनका अलौकिक मनोरञ्जन होता है। दौड़ने-धूपने और अक्खड़पन के खेल वे बड़े ही आनन्द से खेलते हैं। इस मनोरञ्जन और आनन्द का महत्त्व खेलने-कूदने से होनेवाली कसरत के महत्त्व से किसी तरह कम नहीं। दोनों से बराबर एक सा लाभ होता है। परन्तु "जिमनास्टिक" में न तो लड़कों का मनही लगता है और न उससे उन्हें आनन्दही मिलता है। अतएव उसकी बुनियाद ही बुरी है—उसकी जड़ ही दोषपूर्ण है।

६६—खेल-कूद की बराबरी "जिमनास्टिक" नहीं कर सकती। खेल-कूद को रोकना मानो शरीर-वृद्धि के लिए ईश्वरदत्त साधनों को रोकना है।

अतएव यदि यह बात मान ली जाय, जैसा कि हम माने लेते हैं, कि "जिमनास्टिक" से शरीर के अवयवों को जो एक प्रकार की नियमित कसरत पड़ती है वह बिलकुलही कसरत न करने की अपेक्षा अच्छी है—और यदि यह बात भी मान ली जाय कि और और कसरतों के साथ "जिमनास्टिक" की कसरत से और कुछ न सही तो थोड़ी बहुत सहायता मिलने से विशेष लाभ होने की ज़रूर सम्भावना रहती है; तथापि हम इस बात को नहीं मानते कि जिन कसरतों को—जिन परिश्रम के कामों को—स्वभावही से करने को जी चाहता है उनकी बराबरी ये कृत्रिम कसरतें कर सकती हैं। खेलकूद के जिन कामों की तरफ़ लड़कों और लड़कियों की स्वभावही से प्रवृत्ति होती है वे शरीर को आरोग्य रखने के लिए बहुत ज़रूरी हैं। जो आदमी उनको रोकता है वह मानों उन

लिए उसे बहुत ही कम समय मिलता है। छुट्टियाँ भी उसे थोड़ी ही मिलती हैं। इस तरह शक्ति के बाहर बराबर काम करते रहने से उसके शरीर में घुन लग जाता है। अतएव उसकी सन्तति भी वैसी ही अशक्त होती है। यह सन्तति, अशक्त होने के कारण, परिश्रम के साधारण कामों से ही थक जाने को पहले ही से तैयार रहती है। तिस पर भी, गत पीढ़ियों के सुदृढ़ और सशक्त बच्चों के लिए नियत की गई शिक्षा-पद्धति से भी चार अंगुल अधिक लम्बी चौड़ी शिक्षा-पद्धति का उससे अभ्यास कराया जाता है।

४८—शक्ति के बाहर विद्याभ्यास करने से हानियाँ।

इस दुरवस्था के परिणाम बहुत भयङ्कर होते हैं और वे ऐसे नहीं कि छिपे हों। सब कहीं वे देख पड़ते हैं। आप जहाँ चाहिए जाइए। थोड़ी ही देर में आपको छोटे बड़े, सब तरह के, लड़के लड़कियाँ देख पड़ेंगी, जिनकी शरीर-प्रकृति अधिक विद्याभ्यास के कारण थोड़ी बहुत ज़रूर बिगड़ी होगी। शक्ति से बाहर अभ्यास करने से पैदा हुई अशक्तता को दूर करने के लिए कहीं कोई लड़का आपको ऐसा मिलेगा जिसका पढ़ना एक वर्ष के लिए बन्द कर दिया गया है। कहीं कोई लड़का ऐसा देख पड़ेगा जिसका दिमाग़ बिगड़ गया है—जिसके दिमाग़ में ख़ून जमा हो गया है। इस रोग से वह कई महीने से पीड़ित है और जल्द अच्छा होने के अभी कोई लक्षण भी नहीं हैं। कहीं आप सुनेंगे कि किसी कारण से मदरसे में सिर को बहुत अधिक उत्ताप पहुँचने से किसी लड़के को बुखार आ रहा है। कहीं आपको इस तरह का उदाहरण मिलेगा कि एक दफ़े अमुक लड़के का कुछ समय के लिए पढ़ना बन्द करना पड़ा, परन्तु दुबारा मदरसे में भरती होने पर अब उसकी यह दशा है कि मूर्च्छा आ जाने के कारण बार बार उस दरजे से उठ जाना पड़ता है। ये घटनायें सब सच्ची हैं—बनावटी नहीं। इनको हमें ढूँढ़ना नहीं पड़ा। किन्तु गत दो वर्षों में ये घटनायें आपही आप हमारे देखने में आई हैं। और, ये बहुत दूर की भी नहीं हैं, पास ही की हैं। यह भी न समझिए कि यह सूची इतनी ही है। नहीं, अभी और भी कितनी ही घटनायें हमसे छूटी हैं। अभी थोड़े ही दिन की बात है जब हमें इस बात के

इतना ही नहीं, कोई कोई लड़के तो अपना पाठ तैयार करने के लिए सवेरे चार बजे उठते हैं और अध्यापक लोग उन्हें ऐसा करने के लिए सचमुच ही उत्तेजित करते हैं! एक नियमित समय में लड़कों को बहुत अधिक विद्याभ्यास करना पड़ता है। फिर सब विषयों की परीक्षा में लड़कों के अच्छी तरह पास हो जाने ही पर अध्यापकों की नेकनामी अवलम्बित रहती है। अतएव वे भी लड़कों को नियत समय से भी अधिक देर तक पढ़ने के लिए उत्साहित किया करते हैं। इससे क्या होता है कि रोज़ बारह बारह तेरह तेरह घंटे पढ़ने के लिए अध्यापक महाशय लड़कों को बार बार उत्तेजना दिया करते हैं!

५२—पूर्वोक्त मदरसे के विद्यार्थियों को होनेवाली बीमारियाँ।

इस बात के बतलाने के लिए किसी भविष्यद्वक्ता या ज्योतिषी की ज़रूरत नहीं कि इस तरह की शिक्षा-पद्धति से विद्यार्थियों के आरोग्य को भारी धक्का पहुँचेगा। जैसा कि उस मदरसे में रहने वाले एक आदमी ने हमसे बयान किया, जिन लड़कों का रंग मदरसे में भरती होते समय लाल और सतेज होता है उनका रंग वहाँ रहने से बहुत जल्द पाण्डुवर्ण और निस्तेज हो जाता है। लड़के बहुधा बीमार रहा करते हैं, कुछ लड़कों के नाम हमेशा बीमारों की फ़ेहरिस्त में लिखे रहते हैं। भूख न लगना और अजीर्ण बना रहना रोज़ की शिकायतें हैं। अतीसार और संग्रहणी का बड़ा ज़ोर रहता है—इतना कि बहुधा एक तिहाई विद्यार्थी एकही साथ इन बीमारियों से पीड़ित रहते हैं। बहुतों का सिर दर्द किया करता है। कुछ लड़के तो महीनों सिर के दर्द से दुखी रहते हैं। फ़ी सैकड़ा कुछ लड़कों का शरीर यहाँ तक खराब हो जाता है कि सब ही में मदरसा छोड़ कर उन्हें अपने घर चला जाना पड़ता है।

५३—यह इस मदरसे के अधिकारियों की निर्दयता अथवा शोकजनक मूर्खता का प्रमाण है।

यह मदरसा और मदरसों के लिए एक तरह का नमूना है यह एक

आदर्श पाठशाला है। इसे इस समय के उन विद्वानों ने खोला है जिन्होंने सर्वोत्तम शिक्षा पाई है और वही इसकी देख-भाल भी करते हैं। ऐसे आदर्श विद्यालय में—ऐसे नमूनेदार मदरसे में—इस तरह की दुरवस्था का होना सचमुच ही बहुत बड़े विस्मय की बात है। परीक्षायें बेहद कठोर होती हैं। तिस पर भी उनकी तैयारी के लिए बहुत थोड़ा समय दिया जाता है। इस से, बेहद सख्त मेहनत पड़ने के कारण, परीक्षार्थी उम्मेदवारों का आरोग्य—उनका स्वास्थ्य—बिलकुल ही बिगड़ जाता है। यह इस बात का प्रमाण है कि जिन लोगों ने इस तरह की दूषित शिक्षा-पद्धति प्रचलित की है वे यदि निर्दयी नहीं हैं तो मूर्ख ज़रूर हैं; और मूर्ख भी कैसे कि उनकी मूर्खता का ख़याल करके शोक होता है।

५४—शिक्षा-पद्धति को विशेष कठोर करने की तरफ़ लोगों की प्रवृत्ति का प्रमाण।

यह उदाहरण बहुत करके अपवादात्मक है—यह मिसाल बतौर मुस्तसना के है। इसी तरह के और जो मदरसे हैं उन्हीं के विद्यार्थियों को बहुत करके ऐसी आपदायें भोगनी पड़ती होंगी। परन्तु ऐसे शोचनीय उदाहरणों का होना ही इस बात का क्या कम सबूत है कि आज कल के लड़के मानसिक श्रम से पिसे जा रहे हैं? इस तरह के कालेजों का स्थापित किया जाना ही यह बतला रहा है कि शिक्षित आदमियों का समुदाय उन की ज़रूरत समझता है। इससे यही सूचित होता है कि इस तरह की कठोर शिक्षा-पद्धति इस समय के विद्वानों को पसन्द है। अतएव, यदि और कोई सबूत न हो, तो भी, सिर्फ़ इस इतने ही सबूत से, यह बात साबित है कि आज कल लोग शिक्षा-पद्धति को बहुत अधिक कठोर करने की तरफ़ झुके हुए हैं।

५५—बहुत अधिक मानसिक परिश्रम से बचपन में भी हानि होती है और जवानी में भी।

बहुत छोटी उम्र में पढ़ने लिखने में शक्ति के बाहर मेहनत करने से बचों

चाहिए उससे अधिक लिया जा सके। अर्थात् जितनी शक्ति होगी उतना ही काम भी होगा। शक्ति नियमित होने से जीवन-व्यापार भी नियमित होने चाहिए। लड़कपन और जवानी में जीवन-व्यापार चलानेवाली इस शक्ति का बहुत अधिक ख़र्च होता है; और एक ही प्रकार से नहीं, अनेक प्रकार से होता है। जैसा कि पहले, कहीं पर, बतलाया जा चुका है, परिश्रम करने के कारण शरीर का कुछ अंश हर रोज़ चीण हो जाता है। उस चीणता को—उस कमी को—पूरा करना पड़ता है। विद्याभ्यास करने में हर रोज़ जो मानसिक श्रम पड़ता है उससे दिमाग़ थोड़ा बहुत ज़रूर कमज़ोर हो जाता है। उस कमज़ोरी को दूर करना पड़ता है। इसके सिवा शरीर और दिमाग़ को थोड़ा बहुत हर रोज़ बढ़ना भी पड़ता है। इस बाढ़ के लिए भी सामग्री पहुँचानी होती है। इस तरह अनेक प्रकार से शरीर और दिमाग़ चीण हुआ करता है। इस चीणता की पूर्ति के लिए बहुत सा अन्न खाना पड़ता है। इस अन्न को हज़म करने के लिए भी बहुत सी शक्ति ख़र्च होती है। अब यदि इन कामों में से किसी एक काम में कुछ अधिक शक्ति ख़र्च कर दी जायगी तो उतनी ही शक्ति किसी और काम में कम करनी पड़ेगी। शक्ति का जितना प्रवाह किसी तरफ़ अधिक हो जाता है उतना ही किसी और तरफ़ वह ज़रूर कम हो जाता है। यह ऐसी बात है कि शास्त्रीय रीति से भी सिद्ध है और हर आदमी के निज के तजरिबे से भी सिद्ध है। उदाहरणार्थ, सब आदमी इस बात को जानते हैं कि बहुत अधिक भोजन कर लेने से उसे हज़म करने के लिए इतनी अधिक शक्ति दरकार होती है कि शरीर और मन दोनों शिथिल हो जाते हैं। उनमें विलक्षण मन्दता आ जाती है—यहाँ तक कि उसके कारण आदमी को बहुधा नींद आ जाती है। इस बात को भी सब आदमी जानते हैं कि बहुत अधिक शारीरिक परिश्रम, विचार या मनन शक्ति को घटा देता है। एकदम अधिक परिश्रम का काम करने से शरीर अवसन्न हो जाता है और कुछ देर तक चुप चाप पड़ा रहना पड़ता है। इसी तरह दस पन्द्रह कोस लगातार चलने से इतनी थकावट आती है कि फिर कुछ करने को जी नहीं चाहता—फिर मानसिक मेहनत के कामों में बिलकुल ही जी नहीं लगता। एक महीने तक

बराबर पैदल चलने से मानसिक शक्तियां यहां तक चीण हो जाती हैं कि उन्हें फिर अपनी पहली स्थिति में लाने के लिए कई दिन तक आराम करने की ज़रूरत पड़ती है। किसान आदमियों को देखिए। वे दिन रात खेती के काम में लगे रहते हैं। इस कारण उन्हें जन्म भर शारीरिक श्रम करना पड़ता है। इसका फल यह होता है कि उनकी बुद्धि मन्द हो जाती है। इन बातों को कौन नहीं जानता? हर आदमी इनसे परिचित है। फिर, एक बात और भी है। वह यह है कि लड़कपन में कभी कभी लड़कों की बाढ़ बहुत जल्द होती है। ऐसे समय में लड़कों की जीवनी शक्ति सब तरफ़ से खिंच कर बहुत अधिक ख़र्च हो जाती है। इस कारण उनका शरीर और मन यहां तक अवसन्न हो जाता है कि उठने को जी नहीं चाहता। यही इच्छा होती है कि पड़ेही रहें। इस बात को भी सब जानते हैं। भोजन करने के बाद यदि बहुत अधिक शारीरिक श्रम करना पड़ता है तो अन्न हज़म नहीं होता और लड़कों को यदि बहुत छोटी उम्र में अधिक मेहनत के काम करने पड़ते हैं तो वे ठिंगने रह जाते हैं। इन उदाहरणों से भी यह सिद्ध होता है कि शक्ति का प्रतिकूल व्यवहार करने से ज़रूर हानि होती है। अर्थात् एक काम में शक्ति का अधिक ख़र्च हो जाने से दूसरे काम के लिए वह ज़रूर कम हो जाती है। इस प्राकृतिक नियम का असर जब बड़ी बड़ी बातों में इतनी स्पष्टता से देख पड़ता है तब छोटी छोटी बातों में भी थोड़ा बहुत ज़रूर देख पड़ना चाहिए। अर्थात् प्राकृतिक नियम अखण्डनीय है। उसका असर पड़े बिना नहीं रहता। शारीरिक शक्ति का अनुचित ख़र्च चाहे बार बार थोड़ा थोड़ा हो, चाहे एकही बार बहुत सा हो, हानि ज़रूर होती है। हानि से बचाव नहीं हो सकता। अतएव, लड़कपन में, स्वाभाविक तौर पर जितना मानसिक श्रम लड़के कर सकते हैं उससे अधिक यदि उनसे लिया जाय तो दूसरे कामों के लिए जो शक्ति दरकार होती है वह ज़रूर कम हो जायगी। ऐसा होने से किसी न किसी तरह की अापदायें भोगनी ही पड़ेंगी—कोई न कोई हानियां उठानी ही पड़ेंगी। अच्छा, इन आपदाओं का—इन हानियों का—थोड़े में विचार करें।

५७—दिमाग़ी मेहनत कुछ ही अधिक होने के नतीजे।

मान लीजिए कि दिमाग़ से जितना काम लेना चाहिए उससे थोड़ा ही अधिक लिया गया। इस थोड़ी सी अधिक दिमाग़ी मेहनत से सिर्फ़ इतनीही हानि होगी कि शरीर की बाढ़ में कुछ कमी आ जायगी। अर्थात् शरीर की ऊँचाई जितनी होनी चाहिए थी उससे कुछ कम रह जायगी; या डील-डौल में कुछ कमी आ जायगी; या शरीर के पट्ठे ऐसे अच्छे न होंगे जैसे कि उचित दिमाग़ी मेहनत करने से होते हैं। इनमें से एक या एक से अधिक, कोई न कोई, बात ज़रूर होगी। इन हानियों में से कोई न कोई हानि ज़रूर ही भोगनी पड़ेगी। दिमाग़ी मेहनत करते समय दिमाग़ को अधिक रक्त पहुँचाना पड़ता है। इसके सिवा, इस तरह की मेहनत से दिमाग़ का जो भाग क्षीण होजाता है उसे पूरा करने के लिए, दिमाग़ी मेहनत हो चुकने के बाद भी, अधिक रक्त दरकार होता है। इस प्रकार जो रक्त अधिक ख़र्च हो जाता है वह दिमाग़ के लिए न था। यह वह रक्त था जिसे शरीर के और और अंगों में अभिसरण करना था। परन्तु उसके दिमाग़ में ख़र्च हो जाने से, शरीर की जिस क्षीणता को पूरा करने या जिस बाढ़ के काम आने के लिए उसे सामग्री पहुँचानी थी, उसे पहुँचाने से वह असमर्थ हो गया। अतएव वह क्षीणता वैसी ही रह गई और वह बाढ़ भी न होने पाई। इस तरह शारीरिक शक्ति के दुरुपयोग से जो हानि होती है उसमें कोई सन्देह नहीं। वह ज़रूर ही होती है। तो अब विचार इस बात का करना है कि अस्वाभाविक रीति से दिमाग़ जुटा कर जो अधिक शिक्षा प्राप्त की जाती है वह इस हानि के बराबर है या नहीं? अर्थात् इस तरह जो ज्ञान की अधिकता प्राप्त होती है वह शरीर के ठिंगने रह जाने—बाद ही में बाढ़ के बन्द हो जाने और शरीर की बनावट के पूर्णता को न पहुँचने—की हानि-कारी हानि का बदला देता है या नहीं। यहीं पर यह बात याद रखनी चाहिए कि आदमी के पूरे डील होने और बदन की बनावट में किसी तरह की कमी न आने ही से संसार में शान्ति और आसूदगी मिलती है।

५८—अधिक दिमाग़ी मेहनत से अधिक हानि, और, विकास और बाढ़ का पारस्परिक विरोध।

यदि मानसिक श्रम बहुत किया जाता है—यदि दिमाग़ से बहुत ज़ियादह मेहनत ली जाती है—तो और भी अधिक भयङ्कर परिणाम होते हैं। उससे शरीर ही की पूर्णता और बाढ़ नहीं मारी जाती, किन्तु ख़ुद दिमाग़ को भी पूर्णता और बाढ़ को हानि पहुँचती है। प्राणिधर्म्मशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार बाढ़ और विकास में परस्पर विरोध है। विकास से यहां पर मतलब शरीर के उपचय से—उसकी परिपक्वता से है। अर्थात् शरीर की बाढ़ और परिपक्वता एक साथ नहीं होती। बढ़ने की स्थिति में शरीर के कोई अवयव परिपक्व नहीं होते और परिपक्व हो जाने पर फिर बढ़ते नहीं। फ्रांस के विद्वान् एम॰ इसिडोर सेंट हिलेर ने इस सिद्धान्त को पहले पहल ढूँढ़ निकाला। इसके बाद लुइस साहब ने "सर्वाङ्ग और दीर्घाङ्ग मनुष्य" नामक जब लेख लिखा तब उन्होंने उसमें इस सिद्धान्त का हवाला दिया। इस सम्बन्ध में 'बाढ़' शब्द का अर्थ आकार की अधिकता और 'विकास' का अर्थ 'बनावट की अधिकता' समझना चाहिए। 'विकास' (Development) का अर्थ अच्छी तरह ध्यान में आने के लिए यदि उसकी जगह पर 'परिपक्वता' या 'उपचय' शब्द का प्रयोग किया जाय तो भी अनुचित नहीं। अब, नियम यह है कि इन दोनों स्थितियों में से किसी एक स्थिति की अधिकता होने से दूसरी स्थिति में कमी ज़रूर आ जाती है। विकास अधिक होने से बाढ़ बन्द हो जाती है और बाढ़ अधिक होने से विकास को हानि पहुँचती है। रेशम के कीड़े में इस बात का उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है। वह अपनी पहली, अर्थात् कैटरपिलर नामक, स्थिति में बहुत बढ़ता है। उसके आकार की बेहद बाढ़ होती है। परन्तु उसके विकास या उपचय में कोई विशेष अन्तर नहीं देख पड़ता। जैसा वह बाढ़ पूरी होने के पहले रहता है प्रायः वैसा ही बाढ़ पूरी हो जाने पर भी मालूम होता है। जब यह कीड़ा अंडे से निकलता है तब इसकी लंबाई कोई पाव इंच होती है। पर थोड़े ही दिनों में बढ़ कर वह तीन इंच लम्बा हो जाता है। जब

उसकी बाढ़ पूरी हो जाती है तब वह अपने मुँह से रेशम के धागे निकाल निकाल कर अपने ऊपर लपेटता है और उस रेशम का कोया बना कर उसके भीतर बन्द हो जाता है। इस स्थिति को प्राप्त होने पर उसकी बाढ़ बन्द हो जाती है; यही नहीं, किन्तु; उसका वज़न भी घट जाता है। परन्तु उसके विकास में—उसके डील डौल की बनावट में—अनेक प्रकार की विभिन्नतायें देख पड़ती हैं। उसमें एक के बाद दूसरी विषमता झट झट पैदा होती जाती है। यह विरोधी भाव रेशम के कीड़े की तरह के छोटे छोटे कृमि-कीटकों में जितनी स्पष्टता से देख पड़ता है उतनी स्पष्टता से बड़े बड़े जीवधारियों में नहीं देख पड़ता, क्योंकि विकास और बाढ़, ये दोनों बातें, उनमें एक ही साथ हुआ करती हैं। परन्तु स्त्रियों और पुरुषों की इन स्थितियों का परस्पर मुक़ाबला करने से हमें यह पारस्परिक विरोध अच्छी तरह देख पड़ता है। लड़कियों के शरीर और मन जल्द विकसित हो उठते हैं। इसी से लड़कों की अपेक्षा उनके शरीर की बाढ़ जल्द बन्द हो जाती है। परन्तु लड़कों के शरीर और मन के विकसित होने में कुछ देर लगती है। उनका विकास धीरे धीरे होता है। अतएव उनकी बाढ़ उतना जल्द नहीं बन्द होती; अधिक दिनों तक वह होती रहती है। जिस उम्र में लड़की तरुण होकर शरीर की परिपूर्णता को पहुँच जाती है और साथ ही उसकी सारी मानसिक शक्तियाँ भी परिपक्व हो जाती हैं उस उम्र में लड़कों की जीवनी शक्तियाँ, शरीर का आकार बढ़ाने में लगी रहने के कारण, उनके शारीरिक अवयवों का पूरा पूरा विकास नहीं होता। यह बात लड़कों के शारीरिक और मानसिक, दोनों प्रकार के, लड़कपन से प्रकट है। यह नियम जुदा जुदा शरीर के हर एक अवयव और इन्द्रिय के विषय में भी चरितार्थ है। और सारे शरीर के विषय में भी। अर्थात् सम्पूर्ण शरीर में जिस तरह इस नियम के अनुसार सब बातें होती हैं उसी तरह हर एक अवयव में भी होती हैं। सब के लिए एक ही नियम है। यदि कोई अवयव बहुत जल्द पूर्णता को पहुँच जाता है तो लड़कपन ही में उसकी बाढ़ ज़रूर बन्द हो जाती है। यह बात जैसे और सब अवयवों के विषय में घटित होती है वैसे ही मानसिक शक्तियों के विषय में भी घटित होती है। लड़कपन में दिमाग़ की

परिश्रम से दिमाग़ को उत्तेजित करने—उसे सन्ताप पहुँचाने—से लड़कों और नव-युवकों को कितनी सख़्त तकलीफ़ उठानी पड़ती है। जितना काम दिमाग़ से लेना चाहिए उससे अधिक लेने से स्वास्थ्य को थोड़ा बहुत हानि पहुँचे बिना नहीं रह सकती। यदि उससे इतना अधिक काम न लिया गया—यदि उसे इतना परिश्रम न करना पड़ा—कि बहुत ज़ियादह हानि पहुँच कर कोई बीमारी पैदा हो जाय तो इतना तो ज़रूर ही होगा कि धीरे धीरे तबीयत बिगड़ती जायगी। इस तरह के श्रम से जो ख़राबियाँ पैदा होंगी वे बढ़ते बढ़ते शरीर को थोड़ा बहुत विकृत ज़रूर कर देंगी। भूख थोड़ी—सो भी देर में लगने, अन्न अच्छी तरह हज़म न होने, रक्त का अभिसरण मन्द हो जाने से लड़कों का वर्द्धमान शरीर किस तरह पनप सकता है—किस तरह वह अच्छी तरह बढ़ सकता है? जीवन-सम्बन्धी जितने व्यापार हैं वे, शरीर में शुद्ध रक्त की यथेष्ट मात्रा होने ही से, अच्छी तरह चल सकते हैं। शुद्ध रक्त की मात्रा शरीर में यथेष्ट न होने से मांस-ग्रन्थियाँ अच्छी तरह नहीं बनतीं; अवयव अपना अपना काम अच्छी तरह नहीं कर सकते; ज्ञान-तन्तु, स्नायु, पट्ठे, भिल्लियाँ और शरीर के अन्यान्य भागों की कमी अच्छी तरह पूरी नहीं हो सकती। जिस समय शरीर की बाढ़ हो रही है उस समय मेदा कमज़ोर हो जाने से यदि यथेष्ट रक्त न पैदा हुआ और जो पैदा भी हुआ वह अशुद्ध, और रक्ताशय के कमजोर हो जाने से इस थोड़े और अशुद्ध रक्त का अभिसरण बहुत ही धीरे धीरे होने लगा, तो इस बात का आप ही विचार कर लीजिए कि परिणाम कितना भयङ्कर होगा।

६१—लड़कों से बहुत सी बातें मार-कूट कर याद कराने से वे जल्द भूल जाती हैं। यही नहीं, इस तरह की शिक्षा से और भी अनेक हानियाँ होती हैं।

विद्याभ्यास में बहुत अधिक मेहनत करने से आरोग्य को धक्का ज़रूर पहुँचता है—स्वास्थ्य ज़रूर बिगड़ जाता है। इस विषय में जिन लोगों ने जाँच की है वे इस बात को कुबूल करते हैं। अतएव यदि ऐसे लोग इस प्रकार के परिश्रम को हानिकारी समझते हैं तो लड़कों के दिमाग़ में

बहुत सी शिक्षा ज़बरदस्ती भर देने की जो पद्धति आज कल जारी है उसे जितना ही दोष दिया जाय थोड़ा है। चाहे जिस तरह इसका विचार किया जाय, ऐसी पद्धति को जारी रखना बड़ी ही भयङ्कर भूल है। सिर्फ़ ज्ञान-प्राप्ति से जहां तक सम्बन्ध है, इस भूल के होने में कोई सन्देह नहीं। क्योंकि शरीर की तरह मन भी किसी चीज़ को एक नियमित अन्दाज़ से अधिक नहीं ग्रहण कर सकता। अतएव जितनी देर में मन सिखलाई हुई बातों को अच्छी तरह ग्रहण कर सकता है उससे अधिक जल्द जल्द यदि उसमें शिक्षणीय बातें ठूँसी जायँ तो वह उन्हें याद नहीं रख सकता। थोड़े ही समय में वे भूल जाती हैं। बुद्धि-रूपी पटल पर हमेशा के लिए अङ्कित हो जाने के बदले, जिस परीक्षा के पास करने के लिए वे याद कराई गई थीं उसे पास कर लेने के थोड़े ही दिन बाद, वे ध्यान से उतर जाती हैं। इस तरह बहुत सी बातें ज़बरदस्ती याद कराने से लड़कों का जी पढ़ने में नहीं लगता। इस कारण से भी यह शिक्षा-पद्धति सदोष है। बराबर लगातार मानसिक श्रम करने से होनेवाली अनेक प्रकार की पीड़ाओं की बदौलत, या बहुत अधिक श्रम करने से दिमाग़ के बिगड़ जाने के कारण, किताबों से घृणा हो जाती है। शिक्षा-पद्धति अच्छी होने से मदरसा छोड़ने पर अपना सुधार आपही आप होना चाहिए। परन्तु प्रचलित शिक्षा-पद्धति ऐसी बुरी है कि उसके कारण स्वयमेव सुधार होने के बदले बात बिलकुल ही उलटी होती है। वर्तमान शिक्षा-पद्धति इसलिए भी दोष देने लायक़ है कि इसके कारण सब लोगों की समझ यह हो जाती है कि विद्या पढ़ लेना ही सब कुछ है—ज्ञानोपार्जन ही से सब काम हो जाता है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि ज्ञान उपार्जन करके सबसे ज़रूरी बात उस ज्ञान को अपने में लीन कर लेना है, जो बहुत काल तक मनन के बिना नहीं हो सकता। साधारण तौर पर सब लोगों की बुद्धि की बाढ़ के विषय में जर्मनी का हम्बोल्ट नामक विद्वान् कहता है कि "जब किसी विषय की बहुत सी बातें एक साथ दिमाग़ में भर दी जाती हैं तब उस विषय के वर्णन का असर कम हो जाता है। अतएव सृष्टि-सौन्दर्य का ज्ञान अच्छी तरह नहीं होता—प्राकृतिक पदार्थों का मतलब ठीक ठीक समझ में नहीं आता"। यही बात

अलग अलग हर आदमी की बुद्धि की बाढ़ के विषय में भी कही जा सकती है। बहुत सी बातों का शुष्क ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश से सब बातें याद नहीं रहतीं। थोड़े ही दिनों में वे भूल जाती हैं। उनके बोझ से दिमाग़ को व्यर्थ तकलीफ़ उठानी पड़ती है और धीरे धीरे बुद्धि मन्द हो जाती है। शरीर में व्यर्थ बढ़नेवाली चर्बी की जैसे कोई क़ीमत नहीं, वैसे ही जो ज्ञान बुद्धि की चर्बी बन कर रहता है उसकी भी कोई क़ीमत नहीं। जो ज्ञान बुद्धि-रूपी शरीर का स्नायु बन कर रहता है उसी को क़ीमती समझना चाहिए। परन्तु, इस विषय में लोग जो भूल करते हैं वह और भी अधिक गम्भीर है—वह और भी अधिक सख़्त है। बहुत सी बातों को तोते की तरह रटाने से बुद्धि का बिलकुल ही विकास नहीं होता—बुद्धि की बिलकुल ही वृद्धि नहीं होती। परन्तु, यदि, इस तरह की शिक्षा से बुद्धि की वृद्धि होती भी तो भी हम उसे बुरी ही कहते। क्योंकि, जैसा हम कह चुके हैं, इस रीति के अनुसार शिक्षा देने से शरीर की शक्ति का नाश हो जाता है। अतएव मदरसे में इतने परिश्रम से प्राप्त किये गये ज्ञान से मनुष्य को आगे सांसारिक काम-काज में कोई लाभ नहीं होता। सांसारिक झंझटों में जिस ज्ञान की इतनी ज़रूरत रहती है उसका यदि कोई उपयोग ही न हुआ तो उसके सम्पादन से क्या लाभ? शरीर ही अशक्त, अतएव बेकाम, हो जाता है। लाभ हो कैसे? जो अध्यापक सिर्फ़ विद्यार्थियों के मन को सुशिक्षित करने—उन्हें ज्ञान-प्राप्ति कराने—में उत्सुकता दिखाते हैं, उनके शरीर की स्वस्थता या अस्वस्थता की परवा नहीं करते, उन्हें यह बात याद नहीं कि शरीर सशक्त होने ही से संसार के सब काम-काज हो सकते हैं। सांसारिक कामों में कामयाबी होना जितना शारीरिक शक्ति पर अवलम्बित है उतना बहुत सा ज्ञान दिमाग़ में भर लेने पर अवलम्बित नहीं। जो पद्धति दिमाग़ में जबरदस्ती ज्ञान को ठूँस कर शारीरिक बल का विनाश करती है वह आपही अपनी नाकामयाबी का कारण है। वह मानों अपने ही हाथ से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारती है। शरीर में यथेष्ट बल होने ही से दृढ़ निश्चय और धैर्य के हुए लगातार उद्योग करने की शक्ति पैदा होती है। और जिस आदमी में दृढ़ निश्चय है, और जो बराबर परिश्रम-पूर्वक काम-काज कर सकता है, उसे ज्ञान की कमी

तादश हानि नहीं पहुँचा सकती। ऐसे आदमी की शिक्षा चाहे जितनी दोष-पूर्ण क्यों न हो, तथापि उसे अपने उद्योग-धन्धे में कामयाबी हुए बिना नहीं रहती। यदि शरीर की शक्ति क्षीण हुए बिना मतलब भर के लिए शिक्षा मिल गई, और दृढ़ निश्चय तथा सतत उद्योग, इन दोनों बातों की मदद पहुँच गई, तो दिन रात सिर-खपी करके प्राप्त की गई शिक्षा के बदौलत महा अशक्त विद्वानों के साथ चढ़ा ऊपरी करने में जीत हुए बिना नहीं रह सकती। जो लोग अपनी शरीर-सम्पदा को क्षीण न करके काफ़ी शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं वे यदि दृढ़ निश्चयवान् और उद्योगी हैं तो बड़े बड़े विद्वान् भी, अशक्त होने के कारण, काम-काज में उनसे पार नहीं पा सकते। जो यंजिन छोटा है और बनाया भी अच्छी तरह नहीं गया उससे यदि ख़ूब ज़ोर से काम लिया जाय तो वह उस यंजिन से अधिक काम देगा जो बड़ा भी है और अच्छी तरह बनाया भी गया है, पर जो धीरे धीरे चलाया जाता है। यंजिन ख़ूब अच्छा बनाने की कोशिश करने में उसके बाइलर (भभके या बंबे) को ऐसा बिगाड़ देना कि उसके भीतर भाफ़ ही न बन सके, कितनी मूर्खता का काम है! आप ही कहिए, है या नहीं? यदि बिना भाफ़ के यंजिन चल ही न सकेगा तो उसकी ख़ूबसूरती को लेकर क्या चाटना है! शिक्षा का वर्तमान तरीक़ा एक और कारण से भी सदोष है। वह यह है कि जो लोग इस तरीक़े से शिक्षा पाते हैं उनको यही नहीं समझ पड़ता कि उनका मङ्गल किस बात में है—उनकी बेहतरी किस तरह हो सकती है। वे इस बात के जानने में असमर्थ हो जाते हैं कि उनका सच्चा सुख या सच्चा हित किसमें है। ज़रा देर के लिए मान लीजिए कि इस तरीक़े से सांसारिक काम-काज में हानि के बदले हमेशा लाभ ही लाभ होता जायगा—नाकामयाबी की जगह हमेशा कामयाबी ही होती रहेगी—तो भी इसकी बदौलत जन्म भर के लिए शरीर का मिट्टी हो जाना क्या एक बहुत बड़ी हानि नहीं है? उस कामयाबी की गुरुता की अपेक्षा इस महाहानि की गुरुता क्या अधिक नहीं है? यदि आदमी हमेशा बीमार ही बना रहा तो सम्पत्ति किस काम की? सम्पत्ति के साथ साथ बीमारी बनी रहने से सम्पत्ति का उपयोग हो नहीं हो सकता। उस मानवरी की क़ीमत ही कितनी जिसके कारण आदमी विक्षिप्त हो जाय

या जन्म भर उदास और म्रियमाण दशा में अपने दिन काटे ? अच्छी तरह अन्न हज़म होना, नाड़ी का ख़ूब धड़ाके से चलना, चित्त-वृत्ति का हमेशा उल्लसित रहना, सचमुच ही सच्चे सुख के कारण हैं। इनके मुक़ाबले में बाहरी सुख या लाभ कोई चीज़ नहीं। यदि ये नहीं, तो करोड़ों की सम्पत्ति और दिगन्त-व्यापी नाम व्यर्थ हैं। ये ऐसी बातें हैं कि इनके गौरव के सम्बन्ध में किसी को सबक़ देते बैठने की ज़रूरत नहीं। किसी रोग से चिरकाल पीड़ित रहने से बड़ी से बड़ी आशाओं पर पानी पड़ जाता है—वे निराशा के अन्धकार में लोप हो जाती हैं। परन्तु शरीर नीरोग और सशक्त होने से मन में एक प्रकार की जो प्रफुल्लता रहती है उसके कारण आदमी बड़े बड़े अरिष्टों की भी परवा नहीं करता। तो हम इस बात पर ज़ोर देकर कहते हैं कि यह अतिशिक्षण की रीति हर तरह से दूषित हैः—

(१) यह इस लिए दूषित है कि इसके योग से प्राप्त किया गया ज्ञान बहुत जल्द भूल जाता है।

(२) यह इस लिए दूषित है कि इसके कारण आदमी ज्ञान-सम्पादन से घृणा करने लगता है।

(३) यह इस लिए दूषित है कि इससे ऊपर ही ऊपर का ज्ञानसम्पादन होता है। पर सम्पादित ज्ञान को अपने में लीन करने की तरफ़, जो अधिक महत्त्व का काम है, आदमी का ध्यान ही नहीं जाता।

(४) यह इस लिए दूषित है कि इसके कारण वह शारीरिक शक्ति, जिसके बिना प्राप्त की हुई शिक्षा का कोई उपयोग ही नहीं हो सकता, कम किंवा बिलकुल ही नष्ट हो जाती है।

(५) यह इस लिए दूषित है कि इससे स्वास्थ्य यहाँ तक बिगड़ जाता है कि यदि सांसारिक उद्योग-धन्धे में कामयाबी भी हुई, तो भी, आदमी सुखी नहीं होता, और यदि नाकामयाबी हुई तो दुःख दूना हो जाता है।

६२—वर्तमान शिक्षा-पद्धति से स्त्रियों को जो हानि पहुँचती है वह और भी भयङ्कर है।

दिमाग़ में इस तरह ज़बरदस्ती बहुत सी शिक्षा ठूँसने का नतीजा

मनुष्यों की अपेक्षा स्त्रियों के लिए सम्भवतः और भी अधिक हानिकारी है। बहुत अधिक विद्याभ्यास से होने वाली हानियों को लड़के आनन्ददायक और शक्तिवर्धक खेल-कूद से कम कर देते हैं। परन्तु लड़कियों के लिए इस तरह के खेल-कूद की मनाई है। वे दौड़ धूप के खेल नहीं खेलने पातीं। इस कारण लड़कियों को इस शिक्षा-पद्धति की हानियां पूरे तौर पर भोगनी पड़ती हैं। इसी से पढ़ी लिखी स्त्रियों में नीरोग और पूर्ण बाढ़ पाई हुई मज़बूत स्त्रियां बहुत ही कम देख पड़ती हैं। लन्दन में अमीर आदमियों की बैठकों में अनेक पाण्डुवर्ण; कूबड़ निकली हुई, कुरूप और अपरिस्फुट अवयव वाली तरुण स्त्रियां देख पड़ती हैं। यह खेलने कूदने की मनाई करके, निर्दयता से दिन रात दिमाग़ में शिक्षा को ज़बरदस्ती भरने का नतीजा है। यदि उन्हें खेलने कूदने दिया जाता और उनके दिमाग़ पर शिक्षा का इतना बोझ न डाला जाता तो उनकी कभी इतनी बुरी दशा न होती। उनकी विद्वत्ता, कुशलता और व्यवहार-चातुर्य का सांसारिक कामों में जितना उपयोग होता है, शरीर के रोगी हो जाने से उनकी अपेक्षा कहीं अधिक उनका संसार-सुख मिट्टी में मिल जाता है। माताओं की यह इच्छा रहती है कि उनकी बेटियां ऐसी प्रवीण हो जायँ कि लोग उन्हें देखते ही लट्टू हो जायँ। इसी लिए वे उनके स्वास्थ्य की कुछ भी परवा न करके उन्हें ख़ूब शिक्षित बनाती हैं। परन्तु यह उनकी भारी भूल है। शरीर के आरोग्य का नाश करके मन को शिक्षित बनाने के इस तरीक़े से बढ़कर हानिकारी तरीक़ा शायद ही और कोई हो। वे या तो इस बात के जानने की परवा नहीं करतीं कि पुरुषों की रुचि कैसी है—उनकी पसन्द किस तरह की है—या इस विषय में उनका निश्चय ही ठीक नहीं है। स्त्रियों की विद्वत्ता की बहुत ही कम परवा पुरुष करते हैं। उनकी सुघरता, उनके सुस्वभाव और उनकी सदसद्विचार-शक्ति ही की वे ज़ियादह परवा करते हैं। बतलाइए तो सही, एक पढ़ी लिखी भले घर की अविवाहित तरुणी अपने अगाध इतिहास-ज्ञान की बदौलत कितने पुरुषों को मोहित कर सकती है? इटली की भाषा में पारदर्शिता प्राप्त करने ही के कारण क्या किसी स्त्री के प्रेम में कभी कोई पुरुष पागल हुआ है? क्या ऐसा भी कोई प्रेमी देखा गया है जो

अपनी प्रेयसी के जर्मन-भाषा के पाण्डित्य को देख कर ही उसका दास हो गया हो?

"बिम्बोष्ठी चारुनेत्रा गजपतिगमना दीर्घकेशी सुमध्या"

कामिनियों को देख कर पुरुष उन पर आसक्त होते हैं। सुघर और सुन्दर शरीर पर ही मोहित होने से पुरुषों की दृष्टि कमनीय कामिनियों की तरफ़ खिंचती है। शरीर नीरोग होने से स्त्रियों का चित्त हमेशा प्रसन्न रहता है; उनकी चित्त-वृत्ति हमेशा उल्लसित रहती है; उनकी बातचीत में एक प्रकार की विशेष मोहकता आ जाती है। इन्हीं गुणों के कारण पुरुष स्त्रियों से प्रेम करते हैं। प्रेम-सम्पादन में यही गुण सहायता देते हैं। और किसी गुण की परवा न करके, सिर्फ़ उनके सुन्दर और सुघर रूप पर मोहित होकर स्त्रियों के प्रेमपाश में फँसने वाले पुरुषों के उदाहरण, कौन ऐसा है जिसने नहीं देखे? परन्तु स्त्रियों के सुस्वभाव और सुन्दर रूप को तुच्छ समझ कर सिर्फ़ उनकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर उनके प्रेम के भिखारी बननेवाले एक भी पुरुष का उदाहरण शायद कोई न दे सके। सच तो यह है कि न्यूनाधिक भाव में *बहुत से मनोविकारों के मेल से पुरुष के हृदय में प्रेम-नामक* जो मिश्रित विकार पैदा होता है, उसमें शरीर-सौन्दर्य्य के दर्शन से पैदा हुए मनोभाव ही विशेष प्रबल होते हैं। उनसे कम प्रबल वे मनोभाव होते हैं जो सदाचरण-सम्बन्धी सद्व्यवहारों को देख कर पैदा होते हैं। और, सबसे कम प्रबल वे मनोभाव होते हैं जो विद्वत्ता इत्यादि बुद्धि-विषयक बातों को देख कर पैदा होते हैं। ये पिछले मनोभाव स्त्रियों के विद्वत्त्व और ज्ञान पर उतना अवलम्बित नहीं रहते जितना कि उनकी तीव्र बुद्धि, उनकी कल्पना-शक्ति और उनके परिज्ञान आदि स्वाभाविक गुणों पर अवलम्बित रहते हैं। यदि कोई महाशय हमारे इस कथन को अपमानजनक *ख़याल करें* और यह कहें कि स्त्रियों की ऐसी ऐसी तुच्छ बातों पर भूल कर पुरुषों का उन पर आसक्त होना बतलाना उनकी निन्दा करना है, तो हम उनको यह कह कर उत्तर देंगे कि ईश्वरीय नियमों में इस तरह दोषोद्भावना करना मानों अपने अज्ञान का प्रदर्शन करना है। जो लोग इस तरह के ख़याल रखते हैं वे यही नहीं जानते कि वे कह क्या रहे हैं—वे अपनी बातों का मतलब ही अच्छी

तरह नहीं समझे। जितनी ईश्वरीय योजनायें हैं—जितने ईश्वरीय नि[...]
हैं—उनका अभिप्राय यदि ठीक ठीक समझ में न भी आवे तो भी नि[...]
होकर हम इस बात को कह सकते हैं कि उनका कोई न कोई बहुत ही अ[...]
उपयोग ज़रूर होता होगा। स्त्रियों की तुल्यरूपता आदि के विषय में जो ले[...]
अच्छी तरह विचार करेंगे उनको समझ में तत्सम्बन्धी ईश्वरीय योजना[...]
का मतलब भी ज़रूर आ जायगा। प्रकृति का एक उद्देश—अथवा यह कहि[...]
कि सबसे प्रधान उद्देश—भावी सन्तति के कल्याण की सामग्री प्रस्तुत क[...]
देना है। परन्तु बहुत सी शिक्षा प्राप्त करने से बुद्धि यदि संस्कृत या प्रगल्भ
भी हो गई, तो भी, शरीर रोगी रहने के कारण उस बुद्धि का बहुत ही कम
उपयोग हो सकता है। इस तरह की बुद्धि का प्रभाव दो ही एक पीढ़ी में
नष्ट हो जाता है; क्योंकि रोगी आदमियों की सन्तति इसके आगे नहीं जारी
रह सकती। विपरीत इसके, शरीर यदि सुदृढ़ और रोगरहित है तो,
मानसिक शिक्षा चाहे जितनी थोड़ी हो—विद्या की प्राप्ति चाहे जितनी कम
की गई हो—सन्तति की उत्पत्ति तो बराबर होती रहती है। अतएव शरीर
को नीरोग बनाये रखने की बड़ी ज़रूरत है। क्योंकि, उसकी बदौलत भावी
पीढ़ियों में विद्या की अनन्त वृद्धि की जा सकती है। इन बातों का विचार
करने से जिन ईश्वरीय योजनाओं का हमने ऊपर उल्लेख किया उनका
महत्व अच्छी तरह ध्यान में आ जाता है। पूर्वोक्त ईश्वरीय योजनाओं के
अनुसरण से जो लाभ होता है उसे यदि हम हिसाब में न भी लें, तो भी;
जो मनोवृत्तियां आज तक एक सी चली आती हैं उनकी अवहेलना करके,
लड़कियों की स्मरण-शक्ति पर बेहद बोझ लाद कर उनके शरीर का सत्या-
नाश करना ज़रूर पागलपन है। आप जितनी ऊँची शिक्षा चाहिए दीजिए।
जितनी ही अधिक आप शिक्षा देंगे उतना ही अच्छा होगा। परन्तु शिक्षा
से शरीरारोग्य का नाश करना उचित नहीं। यहां पर, लगे हाथ, हम यह भी
कह देना चाहते हैं कि यदि तोते की तरह रटाने की तरफ़ कम, पर सदय
होकर बुद्धि को सुशिक्षित करने की तरफ़ अधिक, ध्यान दिया जाय, और
मदरसा छोड़ने और विवाह होने के बीच का समय जो व्यर्थ जाता है
उसमें शिक्षा का क्रम जारी रक्खा जाय, तो लड़कियां काफ़ी तौर पर ऊँचे

दरजे की शिक्षा प्राप्त कर सकती हैं। परन्तु इस तरीक़े से शिक्षा देना, या इतनी अधिक शिक्षा देना, कि शरीर किसी काम ही का न रहे मानो जिस निमित्त इतनी मेहनत, इतना ख़र्च और इतनी फ़िक्र उठानी पड़ती है उस निमित्त ही को—उस हेतु ही को—जड़ से उखाड़ फेंकना है। लड़कियों से बहुत अधिक विद्याभ्यास करा कर माँ-बाप उनके सारे सांसारिक सुखों और सारी आशाओं पर अकसर पानी डाल देते हैं। अधिक विद्याभ्यास से वे उनके शरीर को चीण करके उसके साथ ही वे उन्हें अनेक प्रकार के क्लेश, अशक्तता और उदासीनता ही के दुःख भोग करने को विवश नहीं करते; किन्तु बहुधा उनके नैरोग्य को यहाँ तक बरबाद कर डालते हैं कि उन बेचारियों को जन्म भर अविवाहित रहना पड़ता है।

६३—वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के चार दोष और जीवनी शक्ति के ख़र्च का हिसाब।

यहाँ तक के विवेचन से यह बात सिद्ध है कि बच्चों की शारीरिक शिक्षा-पद्धति में अनेक दोष हैं और बड़े बड़े दोष हैं। पहला दोष तो यह है कि बच्चों को पेट भर खाने को नहीं दिया जाता। दूसरा दोष यह है कि उन्हें अच्छी तरह कपड़ा पहनने को नहीं मिलता। तीसरा दोष यह है कि उनसे (कम से कम लड़कियों से) काफ़ी तौर पर व्यायाम नहीं कराया जाता। चौथा दोष यह है कि उनसे बहुत अधिक मानसिक श्रम लिया जाता है। इस शिक्षा-पद्धति की सब बातों का विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि यह बहुत सख़्त है। इसके कारण बच्चों को शक्ति के बाहर विद्याभ्यास करना पड़ता है। यह पद्धति माँगती बहुत है, पर देती बहुत थोड़ा है। अर्थात् परिश्रम बहुत करना पड़ता है, पर लाभ कम होता है। इसकी बदौलत बच्चों की जीवनी शक्ति की इतनी खींच खाँच होती है कि बहुत छोटी उम्र में ही उन्हें वयस्क आदमियों से भी ज़ियादह काम करना पड़ता है। गर्भस्थ बालक की सारी जीवनी शक्ति उसकी बाढ़ में ख़र्च होती है। छोटे छोटे बच्चों की भी जीवनी शक्ति उनकी बाढ़ ही में विशेष ख़र्च होती है—वह यहाँ तक अधिक ख़र्च होती है कि शारीरिक और मान-

सिक व्यापारों में ख़र्च होने के लिए बहुत ही थोड़ी रह जाती है। इसी तरह लड़कपन और जवानी में भी बाढ़ ही की अधिक ज़रूरत रहती है। और सब ज़रूरतों का महत्त्व उसकी अपेक्षा बहुत कम होता है। अतएव लड़कपन और जवानी में भी देना बहुत चाहिए, लेना कम। इससे यह सिद्ध है कि बाढ़ का परिमाण जितना कम या अधिक होता है, शारीरिक और मानसिक श्रम भी लड़के उतना ही कम या अधिक कर सकते हैं। अर्थात् जब बाढ़ का परिमाण घट जाता है तभी उनकी जीवनी शक्ति उन्हें अधिक शारीरिक और मानसिक काम करने की अनुमति दे सकती है।

६४—शारीरिक शिक्षा को तुच्छ समझने और मानसिक शिक्षा को इतना महत्त्व देने का कारण हमारी वर्तमान सामाजिक उन्नति है।

हमारे समाज की उन्नति और सुधरी हुई स्थिति ही इस अति-शिक्षण की एक मात्र कारण है। बहुत पुराने ज़माने में जब दूसरों पर आक्रमण करना और ऐसे आक्रमणों से अपना बचाव करना, यही दो बातें, सामाजिक व्यवसायों में मुख्य थीं, तब शारीरिक शक्ति और साहस ही की सबसे अधिक ज़रूरत थी। उस समय शरीर को मज़बूत बनाना ही प्रायः सबसे बड़ी विद्या समझी जाती थी। मानसिक शिक्षा की लोग बहुत कम परवा करते थे। जिस समय देश में चारों तरफ़ दंगे-फ़साद होते ही रहते थे उस समय मानसिक शिक्षा को लोग सचमुच ही तुच्छ दृष्टि से देखते थे। परन्तु अब वह समय नहीं है। अब देश में सब कहीं अपेक्षाकृत शान्ति का साम्राज्य है। अब तो शारीरिक शक्ति की ज़रूरत सिर्फ़ उन्हीं कामों में दरकार होती है जिन्हें लोगों को हाथ से करना पड़ता है। हाथ-पाँव की मेहनत के सिवा और किसी काम में अब शारीरिक बल की ज़रूरत नहीं। इस समय जितने सामाजिक काम हैं प्रायः सबकी कामयाबी मनुष्यों के बुद्धि-बल ही पर बहुत कुछ अवलम्बित है। इसी से हमारी शिक्षा इस समय प्रायः बिलकुल ही मानसिक हो गई है। और होनी ही चाहिए। समय ही ऐसा लगा है। चाहिए था कि हम शरीर को सब कुछ समझते और मन को कुछ न सम-

भले। पर मन की तो हम बहुत अधिक परवा करते हैं और शरीर की [illegible]
भी नहीं। ये दोनों बातें भूल से भरी हुई हैं। दोनों ठीक नहीं। यह [illegible]
अब तक हमारे ध्यान में नहीं आई कि हमारे जीवन में मन का [illegible]
शरीर ही पर अवलम्बित है। मन का सुधार होने से शरीर का भी सुधार
होना चाहिए; क्योंकि मन का सारा दारो-मदार शरीर ही पर है। [illegible]
शरीर को बरबाद करके मन को सुशिक्षित करते बैठना मुनासिब नहीं।
पुराने और नये विचारों का परस्पर सम्मेलन होना चाहिए। दोनों [illegible]
का मेल करने ही में भलाई है।

६५—आरोग्य-रक्षा मनुष्य का कर्तव्य है। जब लोग इस कर्तव्य को समझने लगेंगे तभी बच्चों के शरीर-सुख की तरफ़ वे अच्छी तरह ध्यान देंगे।

आरोग्य की रक्षा करना—स्वास्थ्य को न बिगड़ने देना—[illegible]
परम कर्तव्य है। इस विश्वास के सर्व-साधारण में फैलने से [illegible]
बहुत निकट आजायगा जब शरीर और मन दोनों की [illegible]
में सब लोग अच्छी तरह मन लगावेंगे। और किसी तरह [illegible]
होना सम्भव नहीं जान पड़ता। बहुत कम आदमी इस बात [illegible]
कि शरीर की रक्षा करना भी हमारा कर्तव्य है। आदमी [illegible]
की बातें और जिस तरह के काम करते हैं उनसे मालूम होता है [illegible]
शरीर को जिस तरह वे चाहें उस तरह रखने का उन्हें [illegible]
विषय में वे सर्वथा स्वतन्त्र हैं। प्राकृतिक नियमों की [illegible]
जो शारीरिक क्लेश उठाने पड़ते हैं उनको वे एक प्रकार का [illegible]
हैं। बीमार पड़ने पर वे समझते हैं कि उनके ऊपर अन्याय हुआ है। [illegible]
नहीं समझते कि ये बीमारियाँ हमारे ही अनुचित बर्ताव का—[illegible]
अनुचित कामों का—फल हैं। उनके बुरे व्यवहारों और [illegible]
के कारण उनके आश्रित जनों और उनकी भावी सन्तति [illegible]
भोगने पड़ते हैं वे बहुधा उन बड़े बड़े दुःखों से कम [illegible]
बहुत भारी अपराध करने पर लोगों को भुगतने पड़ते हैं। [illegible]

नहीं समझते कि इस विषय में वे ज़रा भी अपराधी हैं। यह सच है कि मद्यपान करने से शरीर को जो हानि पहुँचती है उसकी बुराई को लोग मानते हैं। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि मद्य पीना मानों शरीर को बरबाद करना है; अतएव मद्य न पीना चाहिए। परन्तु इससे कोई यह नतीजा नहीं निकालता कि यदि मद्य पीना आरोग्य-रक्षा के नियमों के प्रतिकूल है, तो और जितनी बातों से शरीर को हानि पहुँचती है उन सब का करना भी इन नियमों के प्रतिकूल है। यदि मद्य पीना इस लिए बुरा है कि उससे स्वास्थ्य बिगड़ता है तो स्वास्थ्य बिगाड़ने वाली और बातें भी क्यों बुरी नहीं ? सच तो यह है कि आरोग्य-रक्षा से सम्बन्ध रखने वाले जितने नियम हैं उनको तोड़ना एक प्रकार का शारीरिक पाप है। जब यह बात साधारण तौर पर सब लोगों की समझ में आ जायगी तभी वे बच्चों की शरीर-रक्षा की तरफ़ जैसा चाहिए वैसा ध्यान देंगे। उसके पहले इस बात का होना असम्भव सा जान पड़ता है।

—: इति :—